यह आवश्यक नही कि लेखकों
के विचारो से संघ एवं सम्पादक
की सहमति हो ।

प्रकाशकीय

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ की स्थापना वि० स० २०१६ मिती आश्विन शुक्ला द्वितीया (३० सितम्बर, १६६२) को हुई थी। सघ का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को सदाचारमय आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देने के साथ-साथ समाज की जनहितकारी प्रवृत्तियो को बढावा देते हुए, उसे निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर करते रहना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जहाँ एक ओर सघ जीवन निर्माणकारी प्रेरणास्पद सत्-साहित्य के प्रकाशन को महत्त्व देता रहा है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक समानता, स्वस्थता, सहकार व सस्कार-शीलता के लिये स्वधर्मी सहयोग, जीवदया, छात्रवृत्ति, छात्रावास-सुविधा, पिछडे हुए वर्गों के उत्थान एव सस्कार-निर्माण के लिये धर्मपाल प्रवृत्ति व नैतिक शिक्षण, महिलाओ मे स्वावलम्बी जीवन की भावना विकसित करने हेतु उद्योग मदिर जैसे महत्त्वपूर्ण विविध आयामी कार्य सम्पादित कर रहा है। जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन और अनुसधान को व्यापक बनाने की दृष्टि से उदयपुर विश्वविद्यालय मे 'जैन विद्या और प्राकृत विभाग' की स्थापना के लिये सघ ने दो लाख रुपये की राशि प्रदान की है।

उपर्युक्त प्रवृत्तियो को गतिशील एव विकासमान वनाये रखने तथा सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की साधना मे सहायक और प्रेरक साहित्य-सामग्री पाठको तक पहुँचाने के लिये **'श्रमणोपासक'** पाक्षिक पत्र का प्रकाशन किया जाता है। सघ की अखिल भारतीय स्तर पर गठित महिला समिति नारी-जागरण की दिशा मे विशेष प्रयत्नशील है। युवावर्ग मे चेतना लाने के लिये युवासघ को सक्रिय किया जा रहा है।

वर्तमान ज्ञान-विज्ञान के द्रुतगामी विकास ने जगत् के कई अज्ञात रहस्यो को प्रकट किया है और कई ऐसे साधन व उपकरण आविष्कृत किये है जिनसे वाह्य इन्द्रियो की विषय-शक्ति को वढने व फैलने का व्यापक क्षेत्र मिला है, पर शरीर के भीतर जिस चेतना का, आत्मा का निवास है, उसकी शक्ति के विकास के प्रयत्न उस अनुपात मे नही हो पा रहे है। परिणाम स्वरूप जीवन का सन्तुलन विगड गया है, सिद्धान्त और आचरण की खाई अधिक चौडी होने लगी है और समाज मे विपमता का रोग सभी स्तरो पर भयकर रूप से फैलता जा रहा है।

इस विषय स्थिति से निस्तार पाने का एक ही मार्ग है। वह है समता का मार्ग। समता याने सुख-दु ख मे समस्थिति बनाये रखना, प्राणिमात्र को अपने तुल्य समझना, दूसरो के दु ख को दूर करने के लिए अपने सुख का त्याग करना। समता का यह तत्त्व केवल दर्शन तक सीमित नही है। जीवन के सभी पक्षो मे यह समाया हुआ है। राजनीति मे लोकतत्र और आर्थिक क्षेत्र मे समाजवाद इसी के रूप हैं।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म० सा० ने समता को इस युग की विषमता को दूर करने के लिये अमृत तत्त्व माना। अपने प्रवचनो मे आचार्य श्री समय-समय पर सिद्धान्त और व्यवहार के स्तर पर, समता तत्त्व का व्यापक और गहन विवेचन करते रहे है। सघ द्वारा प्रकाशित 'समता-दर्शन और व्यवहार' पुस्तक मे आचार्य श्री के मूल्यवान विचार सकलित किये गये है।

समता तत्त्व पर दर्शन, धर्म, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि सभी क्षेत्र के विद्वान् और विचारक चिन्तन करते रहे हैं। सभी ने समता को स्वभाव और विषमता को विभाव स्वीकार किया है, पर देश काल की परिस्थितियो के कारण प्रस्तुतिकरण एव विवेचना मे किंचित भेद होना स्वाभाविक है। प्रबुद्ध पाठक जैन धर्म-दर्शन मे प्रतिपादित 'समता' तत्त्व के स्वरूप के साथ-साथ अन्य धर्मों व दर्शनो यथा—बौद्ध, वैदिक, ईसाई, इस्लाम, पाश्चात्य मत आदि—मे प्रतिपादित समता तत्त्व-चिन्तन से भी परिचित हो सके, इस दृष्टि से सम्बद्ध धर्म-चिन्तको की अधिकृत रचनाएँ इस पुस्तक मे सम्मिलित की गई है।

इस पुस्तक के चार खण्डो—समता-दर्शन, समता-व्यवहार, समता-समाज व 'समतावादी समाज रचना स्वरूप और प्रक्रिया' विषयक परिचर्चा मे ५१ मूल्यवान रचनाएँ सकलित की गई है। पुस्तक के सम्पादन एव प्रणयन मे डॉ० नरेन्द्र भानावत, डॉ० शान्ता भानावत तथा जिन विद्वान् लेखको का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उन सबके प्रति हम सघ की ओर से हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

आशा है, विचार और आचार मे समता तत्त्व को प्रतिष्ठापित करने मे, समता विषयक यह बहुआयामी, दिशाबोधक ग्रथ विशेष सहायक सिद्ध होगा।

निवेदक :

पी० सी० चोपड़ा
अध्यक्ष

भवरलाल कोठारी
मत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

समता-दर्शन

(पृ० . १ से १३८)

द्वितीय खण्ड

समता–व्यवहार

(पृ० . १३९ से १९६)

तृतीय खण्ड

समता-समाज

(पृ० १९७ से २६४)

चतुर्थ खण्ड

परिचर्चा

(पृ० : २६५ से २८२)

समता प्रकृति का ही नही व्यक्ति, समाज और युग का धर्म भी है। जब-जब समता-धर्म से विचलित हुआ गया है, तब-तब प्रकृति मे विकृति, व्यक्ति मे तनाव, समाज मे विषमता और युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। इन सबको रोकने, सबमे सतुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए समता भाव की सम्यक् रूप मे प्रतिष्ठा होना आवश्यक है। इस दृष्टि से समता सिद्धान्त विज्ञान भी है और कला भी। विज्ञान के रूप मे समता का सिद्धान्त भूत पदार्थों मे सगति बनाये रखता है, तो कला के रूप मे चेतना के स्तर पर, शेष सृष्टि के साथ आत्मौपम्य भाव स्थापित करते हुए समाज मे सामजस्यपूर्ण सौहार्दपरक निर्मल दृष्टि विकसित करता है।

आज हमारी सृष्टि ही नहीं दृष्टि भी विषम, विकारग्रस्त और मलिन हो गई है। व्यक्ति अन्दर-बाहर राग-द्वेष से उत्पन्न क्रोध, अह, लोभ, भय आदि मनोविकारो की ग्रथियो से ग्रस्त है। उसे अपने जीने की अदम्य चाह है पर दूसरो के जीवन के प्रति उसमे सम्मान और सहानुभूति की भावना नहीं है। वह बाहरी तौर पर समता, समाजवाद और स्वतत्रता की बात करता है पर भीतर से अपने अह की तुष्टि के लिए अपनी सुविधाओ के इर्दगिर्द विषमता का जाल बुनता रहता है। भय और लोभ के कारण वह निर्भय नही हो पाता। जब तक अन्दर–बाहर की ग्रथियो से व्यक्ति मुक्त नही हो पाता, उसमे समदर्शिता आ नही सकती। जब समदर्शिता का भाव आने लगता है तब व्यक्ति मे अपने–पराये का भेद नही रहता, न उसमे जीने की आकाक्षा रहती है, न मरने की कामना। यह समदर्शिता आत्मा से फूटती है। जिसकी आत्मा सयम मे, नियम मे व तप मे सुस्थिर रहती है, उसे समभाव की साधना होती है। इसके लिए व्यक्ति को भीतर पैठना पडता है, परिधि से केन्द्र की ओर अभिमुख होना होता है।

आज का दुखान्त यह कि व्यक्ति का केन्द्र उसकी आध्यात्मिकता छूटती जा रही है और वह निरन्तर परिधि अर्थात् भौतिकता की ओर भागा जा रहा

है। जीवन मे गति अपेक्षित है पर यदि वह रास्ते के गड्ढो, अवरोधों और सकटो को झेल नही पाती तो दुर्घटना होना निश्चित है। इस दुर्घटना से अपने को बचाने के लिए जीवन मे समताभाव का विकास होना आवश्यक है। व्यावहारिक तौर पर जीवन मे समताभाव का वही स्थान है जो मोटर मे स्प्रिग या कमानी का। जिस प्रकार रास्ते के गड्ढे या अन्य अवरोधो का स्प्रिग या कमानी के कारण अनुभव नही होता, वैसे ही जीवन के सकटो से समताभाव द्वारा बचा जा सकता है।

समझने की बात यह है कि समताभाव कोई निष्क्रिय वृत्ति या 'नेगेटिव एप्रोच' नही है। यह एक सक्रिय और जागरूक वृत्ति है। जीवन की टूटन को भरने और समाज की विषमता को पाटने की यह व्यावहारिक कु जी है। इससे एक ऐसी अनुभव-किरण फूटती है कि हम अपने दु ख से दु.खी नही होते वरन् दूसरो के दु:खो को मिटाने के लिए तत्पर होते हैं, अग्रसर होते है। सुख-दु ख से परे आनन्द की अनुभूति का नाम है समता।

समता बहुआयामी और बहुप्रभावी तत्त्व है। उसे केवल दर्शन के धरातल से ही नही समझा जा सकता। जीवन-व्यवहार के विभिन्न प्रसगो और समाज-सवेदना की विविध परतों मे रखकर ही उसका ओज और तेज पहचाना जा सकता है।

इसी भावना से समता-दर्शन, समता-व्यवहार और समता-समाज इन तीनों खण्डो मे समता विषयक विचारो को व्यापक परिप्रेक्ष्य मे सकलित किया गया है। चतुर्थ खण्ड 'परिचर्चा' से सम्बद्ध है। परिचर्चा द्वारा 'समता' के स्वरूप और सम्बन्धो को विभिन्न दृष्टियो से देखने का अवसर मिला है। विभिन्न धर्मों मे समता विषयक चिन्तन हुआ है। देश-काल के कारण उसमे विचारो की तर-तमता सभव है, पर सबकी मूल आत्मा एक है। अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी विद्वान् लेखको ने हमारे निवेदन पर अपनी मूल्यवान रचनाएँ भेजकर, जो सहयोग प्रदान किया, तदर्थ हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते है।

समाज मे 'समता' के चिन्तन-क्रम को बल मिले और उसकी प्रतिष्ठापना हो, इसी भावना के साथ यह ग्रथ पाठकों के हाथो मे सौपते हुए हमे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

—शान्ता भानावत

प्रथम खण्ड

समता-दर्शन

१
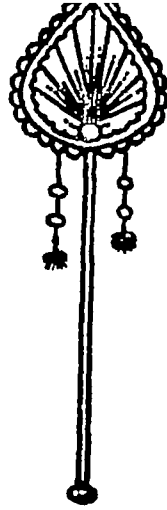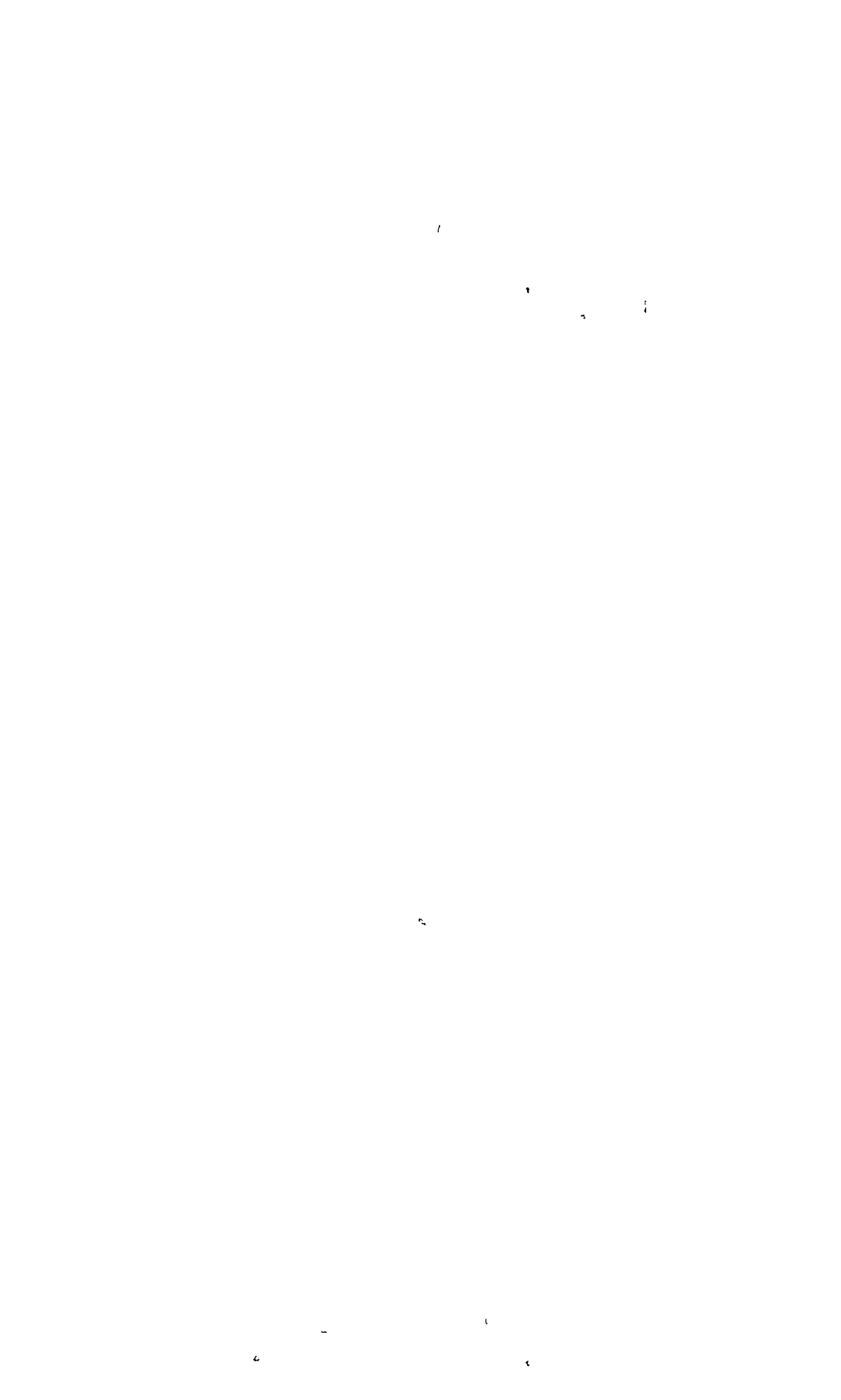
समता–दर्शन

□ आचार्य श्री नानालालजी म० सा०

सुमति चरण कज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार । सुज्ञानी
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिए, परिसर्पण सुविचार ।। सुज्ञानी

बहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई स्थिर भाव । सुज्ञानी
परमातम नु हो आतम भावनु आतम अर्पण दाव ।। सुज्ञानी

इस विशाल विराट् विश्व को देखने का प्रसग है। देखना किससे ? दृश्यते अनेन इतिदर्शन जिससे देखा जाय वह दर्शन की सज्ञा पाता है याने कि दृश्य देखना। जिसके माध्यम से देखने का प्रसग उपस्थित हो अथवा दृश्यते अस्मात् जिससे विलग रूप मे देखने का प्रसग हो या दृश्यते अस्मिन्—जिसके भीतर मे देखने का प्रसग हो-तो ऐसा होता है दर्शन ।

दर्शन की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या का इस वक्त विशेष विवेचन नही किया जा रहा है, केवल साकेतिक भाषा मे कुछ अभिव्यक्ति है। जहाँ सामान्य जन का ध्यान, दृष्टि पर जाता है, कारण कि देखने का अभ्यास नेत्रो को होता है, वहाँ गहराई की वात आगे है। ये नेत्र माध्यम हैं—साधन है, लेकिन देखने वाला नेत्रो के पीछे है। जिससे देखा जाता है, वह देखने वाला तत्त्व स्वय अपने आपको भी जानता है और दृश्य पदार्थ को भी वह समझता है। ये दोनो गुण जिसमे हो, वह एक दृष्टि से दर्शन है। उसको देखने का जहाँ यत्न होता है, वहाँ दर्शन शब्द आभासित होता है। दोनो के पीछे विशेषण जुडा है, देखना क्या ?

यह 'देखना क्या' ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि प्रारभ और अन्तिम रूप से एक भव्य आत्मा को देखनी है समता। समता देखना बन पडता है समता को समझने और आचरण मे लाने के बाद। इसलिये समता को देखना ही समता-दर्शन है एव जो समता को देखता है, वह समदर्शी कहलाता है।

समता-दर्शन की मार्मिकता :

आँखो पर चश्मा चढा हो तो जो कुछ दिखाई देगा, वह चश्मे के काच के रग मे दिखाई देगा, अपने स्वाभाविक रग मे नही। आत्म-चक्षुओ पर भी जब तक ममता का चश्मा चढा है तो वह वस्तु स्वरूप को यथावत् नही देखने देता है। इस कारण समता का दर्शन हो तो ममता का दर्शन छूटना चाहिये। जब समता का दर्शन होता है, समभाव जागृत बनता है, तभी समानता की दृष्टि का निर्माण होता है तथा जो जैसा है व जो जहाँ है, वह उसी रूप मे दिखाई देता है।

विभिन्न रूपो के भीतर मे विभिन्न आकृतियो के पीछे एक तत्त्व जो भीतर ही भीतर अगडाई ले रहा है और बाहर की समग्र परिस्थितियो का जो सचालक है, उस तत्त्व को यथावत् रूप मे देखने की क्षमता समता-दर्शन देता है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वह तत्त्व आत्मा है जिसकी सज्ञा है आत्मिक चेतना और जिसका व्यक्तित्व ज्ञान-स्वरूप होकर दिव्य तेज से आलोकित है। ऐसे आत्म-स्वरूप को यथावत् देखना समता-दर्शन की दृष्टि से ही बन पडता है।

इस विश्व की जो सजीवता है, उसका मूलाधार ही यह आत्म तत्त्व है। आत्माओ के इस मेले 'समूह' की आन्तरिक दृष्टि मे यदि समता का प्रवेश होने लगे तो इस सासारिकता के मध्य भी आध्यात्मिकता का रग गहरा हो सकता है।

समता-दर्शन की मार्मिकता इसी मे है कि जो जैसा है या जो जहाँ है, उसको उसके यथार्थ रूप मे देखने की चेष्टा की जाय एव उस आधार पर समता-दर्शन की प्रतिष्ठा के लिये समुचित प्रयास किये जाय। भव्य आत्माओ के बीच मे समानता का सूत्र जितना अधिक सुदृढ बन सकेगा, उतना ही अधिक समाज मे समता का व्यापक प्रसार हो सकेगा।

आत्म तत्त्व के दो पक्ष :

इस चैतन्य तत्त्व आत्मा को ऐसी ही आन्तरिक दृष्टि से देखने की कोशिश करे। इसके स्वरूप पर वर्तमान मे जितने आवरण चढे हुए हो—आच्छादन लगे हुए हो, उनको भी यह दृष्टि देखे तथा आच्छादनो की परतो मे जो आलोकमय आत्म-स्वरूप रहा हुआ है, उसकी झलक भी यह दृष्टि ले। वास्तविकता के दर्शन का सर्वत्र यत्न होना चाहिये। जब सही स्वरूप का

अवलोकन होगा, तभी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मे आभ्यन्तर समता-दर्शन की प्रतिष्ठा हो सकेगी।

इसी आभ्यन्तर दृष्टि की सहायता से व्यक्ति-व्यक्ति के हृदयो मे रही हुई विषमताओ का भी ज्ञान होगा। तब दिखाई देगी विचारो की उलझनें, भ्रान्त धारणाएँ एव अपने आपको ही न समझ पाने की कु ठाएँ। जिसकी आभ्यन्तर दृष्टि मे समता-दर्शन समाविष्ट हो जाता है, वह इन उलझनो, धारणाओ और कु ठाओ को उनके यथार्थ रूप मे समझ लेता है तथा उनसे ग्रस्त व्यक्तियो को उनके आच्छादनो से सचेत करता हुआ अपने जीवनादर्श से उन्हे आत्मिक आलोक का दर्शन कराता है।

आत्म तत्त्व के ये दोनो पक्ष ज्ञेय हैं कि एक आत्मा ससारी आत्मा है जिसके मूल स्वरूप पर मोहनीय आदि आठो कर्मों के न्यूनाधिक आच्छादन चढे हुए है और उन आच्छादनो के कारण उसका आलोकमय मूल स्वरूप दबा हुआ है। इस तत्त्व का दूसरा पक्ष है सिद्धात्मा। सम्पूर्ण आच्छादनो को हटा कर जब आत्मा पूर्णतया अपने मूल स्वरूप मे आलोकमय बन जाती है तो वह सिद्ध हो जाती है। सिद्ध स्थिति ही इसका चरम लक्ष्य माना गया है जहाँ समदर्शिता अपने अन्तिम बिन्दु तक पहुँच जाती है।

आच्छादनो से आलोक की ओर यही आत्म तत्त्व की विकास यात्रा कहलाती है। इसी विकास यात्रा का दूसरा नाम है ममता से समता की ओर बढना। ममता के भाव क्षीण होते हैं तो विषमता मिटती है एव विषमता मिटती है तो दृष्टि, मति तथा गति मे समता का सचार होता है।

व्यक्ति की उलझी हुई चेतना :

व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर मे दृष्टिपात किया जाय तो जीवन का रग-बिरगा रूप अनेकानेक परिस्थितियो मे उलझा हुआ दिखाई देगा। यह भीतर की उलझन ही बाहर की विविध परिस्थितियो मे प्रकट होती है। आन्तरिक उलझनो के परिणामस्वरूप ही एक ही मानव जाति के विभिन्न वर्ग, विभिन्न दल, विभिन्न जातियाँ व विभिन्न सम्प्रदाय पैदा होते हैं। कितने अप्राकृतिक विभागो मे मानवता विभक्त हो जाती है? यही कारण है कि आज के परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे विषमता का साम्राज्य दृष्टिगत हो रहा है, क्योकि व्यक्ति की चेतना सुलझ नही रही है, वल्कि वह ज्यादा-से-ज्यादा उलझती हुई चली जा रही है।

वस्तुत चेतना का सुलझा हुआ स्वरूप धर्म की दृष्टि से ही देखा जा सकता है जो मूल मे समता की दृष्टि होती है। इस दृष्टि मे न विषमता है और

आत्माओ के लिये शीतलता का सुख समाया हुआ है, किन्तु यह स्वरूप आन्तरिक दृष्टि से ही देखा जा सकता है। इसलिये सबसे पहले प्रत्येक आत्मा को स्वय को देखना है, व्यक्ति-व्यक्ति मे झाकना है और परीक्षा करनी है कि मैं कितना सम हूँ तथा कितना विषम हूँ ? मेरे भीतर की ऊर्जा किस सम्मिश्रण के साथ बह रही है जबकि मेरी आन्तरिक शक्ति की मूल आकाक्षा क्या है ? मेरे स्वरूप एव मेरी शक्तियो की पवित्रता पर अपवित्रता के ये आच्छादन कहाँ से आ गये है ? सूर्य स्वय प्रकाशमान होता है—उसे अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नही होती तो फिर सूर्य से भी जिसकी उपमा नही है, वैसी तेजस्वी मेरी इस चेतना की शक्ति स्थिर क्यो नही है—अपनी सीमाओ से बाहर क्यो दौड रही है ? व्यक्ति इस रूप मे गहरा चिन्तन करे तो उसकी उलझी हुई चेतना सुलझन की ओर आगे बढ सकती है। यह उलझन जितनी मिटती जायगी, यह विषमता का साम्राज्य भी लुप्त होता चला जायगा।

चेतना की उलझन का मूल कारण :

जब चेतना की मूल शक्ति अपनी सीमाओ से बाहर बहने लगती है तो उसे अपने से भिन्न अन्य तत्त्वो की अपेक्षा महसूस होती है। वह अपनी कर्मठता को भूलकर जब बाहरी तत्त्वो पर लुभाती है तो भीतर की चेतना मे ग्रथि या गाँठ बन जाती है—वह चाहे धन के रूप मे हो, जन के रूप मे हो, यशकीर्ति के रूप मे हो, किसी महत्त्वाकाक्षा के रूप मे हो, पद की कामना से हो या किसी अन्य विषय से। विभिन्न विषयो की विभिन्न ग्रथियाँ मानव-मस्तिष्क मे मजबूती से बध जाती है और वे विचारो के सहज प्रवाह को जकड लेती है। जब तक इन ग्रथियो को खोला न जा सके, तब तक आभ्यन्तरिक विषमता समाप्त नही की जा सकेगी। व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर की ग्रथियो को सुलझाये बिना हजारो हजार प्रयत्न किये जाय—हजारो हजार आन्दोलन चालू किये जाय, जो राज-नीतिक, सामाजिक, धार्मिक या किसी अन्य नाम से हो—भीतर की उलझनो तथा समस्याओ का समाधान निकाला नही जा सकेगा। यही मूल कारण है चेतना की उलझनो का—जिसे सुलझाये बिना कही कोई उलझन नही मिटेगी।

इतिहास साक्षी है कि इस दिशा मे किन-किन प्रयत्नो के साथ क्या-क्या बना है ? ये प्रयत्न समता की अपेक्षा विषमता के मार्ग पर अधिक चले है और उन्ही का फल है कि मानव-जाति की उलझने अधिक बढी है—उसकी आन्तरिक अशान्ति धधक रही है। भौतिक विज्ञान के विकास मे मनुष्य ने आत्मिक तत्त्व को भुलाया है। ईस्वी सन् १८५० के बाद जो वैज्ञानिक प्रगति १५० वर्षो मे हुई, उससे भी अधिक प्रगति पिछले १५ वर्षो मे हो गई है तथा इसकी गति द्रुत से द्रुततर बनी हुई है, किन्तु वैज्ञानिक विकास की यह तीव्रता मानव-जीवन की पवित्र दशा के विकास की परिचायिका नही है। इस भौतिक विकास ने उद्दड महत्त्वाकाक्षाओ को जन्म दिया है तथा भीतरी दर्शन को आच्छादित बनाकर

मनुष्य को बाहर-ही-बाहर भटकते रहने के लिये विवश कर दिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह भयावह स्थिति है।

मूल मे भूल को पकड़ें :

आदि युग मे प्रधानतया इस चेतना के दो परिणाम आत्मा की पर्यायो की दृष्टि से सामने आये। एक पशु जगत् का तो दूसरा मानव जगत् का। पशु जगत् अब भी उसी पाशविक दशा मे है जिस दशा मे आदि युग मे था, लेकिन मानव जगत् ने कई क्षेत्रो मे उन्नति की है। आकाश के तारो को छू लेने के उसके प्रयास उसकी चेतना शक्ति के विकास के परिणाम रूप मे देखे जा सकते है, किन्तु उसकी ऐसी चेतना शक्ति, पर–तत्त्व के सहारे चल रही है—स्वाश्रयी या स्वतत्र नही है। चेतना शक्ति के इस प्रकार के विकास ने अपनी सार्वभौम सत्ता को जड तत्त्वो के अधीन गिरवी रख दिया है। अधिकाश मानव-मस्तिष्क जड तत्त्वो की अधीनता मे, उनकी सत्ता मे अपने आपको आरोपित कर के चल रहे हैं और यही तथ्य है जिससे समस्याएँ दिन-प्रति-दिन जटिलतर बनती जा रही है।

यद्यपि अलग-अलग स्थलो पर समता भाव के सादृश्य समाजवाद, साम्यवाद आदि वादो के लुभावने नारे भी सामने आये है जो अधिकतम जनता के अधिकतम सुख को प्रेरित करने वाले बताये जाते है, किन्तु इन वादो के प्रचारको-प्रसारको ने यदि आत्मावलोकन नही किया, अपनी भीतरी ग्रथियो को नही समझा तथा उन ग्रथियो को समता दर्शन की दृष्टि से खोलने की चेष्टा नही की तो क्या ये वाद सफल हो सकते है ? लेकिन जो कुछ हो रहा है, बाहर-ही-बाहर हो रहा है—भीतर की खोज नही है।

जहाँ तक मै सोचता हूँ, मेरी दृष्टि मे ऐसे ये सारे प्रयत्न मूल मे भूल के साथ है। इस भूल को नही पकडेगे और नही सुधारेगे तो सिर्फ टहनियो व पत्तो को सवारने से पेड हरा भरा नही रह सकेगा।

यह मूल की भूल क्या है ? यह लक्ष्य की भ्रान्ति है। आज अधिकाश लोगो ने जो मुख्य लक्ष्य बना रखा है—वह यह है कि सत्ता और सम्पत्ति पर हमारा आधिपत्य हो। ममता भरी यह बहुत बडी महत्त्वाकाक्षा उनके मन मे फलती-फूलती हुई दिखाई देती है। सत्ता और सम्पत्ति ये बाहरी तत्त्व हैं और इनको चेतन अपने अन्दर लपेटने को उतावला हो रहा है। यह प्रयत्न व्यक्ति के स्तर से लेकर विश्व के स्तर तक चल रहा है। जब तक यह आत्म-विरोधी लक्ष्य बना रहता है, समाजवाद या समतावाद कैसे आ सकता है ? सत्ता और सम्पत्ति के स्थान पर चैतन्य एव कर्त्तव्य का जब तक प्रतिस्थापन नही होगा तब तक मानव जाति मे समता-दर्शन के स्वप्न अधूरे ही रहेंगे।

समता के सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे पहले मनुष्य को सत्ता और सम्पत्ति की समता समाप्त करनी होगी तथा यह लक्ष्य बनाना होगा कि उसकी सारी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो का केन्द्र आत्म तत्त्व बन जाय। आत्माभिमुख बनकर ही सही कर्त्तव्यो का निर्धारण करना चाहिये तभी वे कर्त्तव्य सभी आत्माओ के लिये हितावह बन सकेगे क्योकि वहाँ समता का दृष्टिकोण होगा। मूल मे इस भूल को पकड़े तो सही विकास का रास्ता भी दिखाई देगा तथा सार्वजनिक जीवन-निर्माण का वायुमडल भी बन सकेगा।

प्रवाहमान शक्ति का सदुपयोग करना सीखें :

शक्ति का प्रवाह तो वह रहा है। भौतिक शक्ति का प्रवाह भी वह रहा है और आध्यात्मिक शक्ति का प्रवाह भी अपनी सीमा मे वह रहा है। इसी प्रवाहमान शक्ति को बाधकर उसका सदुपयोग किया जा सकता है। जिस प्रकार अनियत्रित रूप मे सभी ओर पानी बहता है, लेकिन जिस पानी को बाध दिया जाता है, उससे सिंचाई करके उत्पादन बढाया जाता है और बिजली पैदा करके भौतिक सुख सुविधाएँ निर्मित की जाती है।

मुख्य प्रश्न है शक्ति के नियत्रण का। नियत्रित शक्ति का व्यवस्थित रूप से सदुपयोग सम्भव बनता है। चेतन शक्ति की भी यही अवस्था है। यदि चेतना का मन पर नियत्रण नही है—मन बेकाबू है तो शक्तियाँ व्यर्थ हो जायगी या उनका दुरुपयोग किया जायगा। किन्तु जो मन को वश मे कर लेता है, वह प्रवाहमान शक्ति का भरपूर सदुपयोग करना सीख जाता है। अनियत्रित मन ममता की गाँठे बाधता जाता है और जड तत्त्वो मे उलझता जाता है। कभी-कभी यह उलझन इतनी जटिल हो जाती है कि सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा मे मनुष्य सारे समाज या राष्ट्र के लिये सकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देता है। यही नही, विश्व युद्धो का धरातल भी इसी लिप्सा पर बनता है और इसी लिप्सा से भयकर एव विनाशकारी शस्त्रास्त्रो का अम्बार लगाया जाता है।

मूल रूप से यदि एक ममत्व की भावना को घटाने की चेष्टा की जाय तो सारी उलझने समाप्त होने लगेगी। जो समस्याएँ जटिल दिखाई देती है वे आसान बनकर हल हो जायेगी। ममता मिटेगी और समता आयेगी। इस क्रम मे दृष्टि बदल जाती है। जो दृष्टि स्वार्थ देखती थी, परहित नही, वह समता की पृष्ठ-भूमि मे परहित के लिये सर्वस्व तक बलिदान करने को तत्पर बन जाती है। यदि ममत्व का अन्त कर दिया जाय और समत्व की भावना से चेतन की स्थिति को सुदृढ बनाकर चला जाय तो कर्त्तव्यपरायणता की स्थिति से प्रत्येक क्षेत्र मे जीवन की भव्यता का निर्माण हो सकता है।

जड़ और चेतन का खेल :

दृश्यमान जगत् मे यह सब जड और चेतन का खेल है। चेतन अपनी

सीमा को छोडकर जड मे लिप्त हो गया है, बल्कि जड को चेतन ने सिर पर चढा लिया है और जड के अधीन होकर वह चल रहा है। चेतन के इस पतन के कारण ही उलझने है—समस्याएँ है और अशान्ति है।

एक ड्राइवर इजिन को चलाता है—उसके पहिये और ब्रेक को अपने काबू मे रखता है, उसी तरह चेतन—जड को चलावे और जड को अपने काबू मे रखे तव तो सासारिक गतिक्रम का सचालन भी सुचारू बन सकता है। जड और चेतन के मेल से ही यह ससार बना है और यह मेल जिस आत्मा का बिल्कुल टूट जाता है, वह आत्मा इस ससार को छोडकर मुक्त हो जाती है। यद्यपि जड और चेतन का मेल बन्धन का कारक है, फिर भी चेतन का जड पर नियत्रण वन्धन से मुक्ति की ओर ले जाने वाला होता है। इसके विपरीत जड-चेतन को काबू मे रखे तब तो बन्धन की जटिलता का कहना ही क्या ?

आज कर्त्तव्य और सेवा की बात की जाती है किन्तु क्या इनमे चेतन शक्ति की प्रखरता के बिना वास्तविकता आ सकती है ? नाम सेवा का लिया जाता है और की जाती है सौदेबाजी। एक व्यापारी जिस तरह वस्तु और मुद्रा के आदान-प्रदान की सौदेबाजी करता है, उस तरह धर्म और सेवा के क्षेत्र मे भी सोच लिया जाता है कि मैं कुछ कर रहा हूँ तो उसका फल क्या मिलेगा ? कई लोग शायद इस भावना से भी गुरु के चरण छूते हो कि उसके प्रभाव से उन्हे धनार्जन होगा या अन्य कोई लाभ। यह मन स्थिति चेतन पर जड के कुप्रभाव को स्पष्ट करती है।

सच्चे कर्त्तव्य का बोध तभी हो सकता है जब चैतन्य शक्ति आत्म-नियत्रित बन जाती है। जड के प्रति ममत्व के सारे बन्धन टूट जाने पर ही आत्म-नियत्रण की अवस्था उत्पन्न होती है। समता की दृष्टि ही मुक्ति का मार्ग दिखाती है। द्वारकाधीश कर्मयोगी श्रीकृष्ण त्रिखडाधिपति थे किन्तु सत्ता और सम्पत्ति के दास नही थे, इसीलिये उन्हे कर्त्तव्यो का सच्चा बोध था। वे सदा प्रात अपनी मातुश्री का पद-वन्दन करते थे। यह सब श्रेष्ठ सस्कारो की बात है जो चेतन शक्ति के जागृत रहने पर पनपते हैं और पीढियो तक परिपुष्ट बनते है। इस सदर्भ मे आज की स्थिति माता, पिता एव सन्तान दोनो के लिये विचारणीय है।

बन्धन और मुक्ति के सदर्भ मे जड और चेतना के खेल को समझने तथा सही तरीके से इस ससार मे खेलने की जरूरत है।

आत्म-प्रवचना को रोकें :

जो समाज या राष्ट्र जितना अधिक चेतनाशील होता है, वहाँ की संस्कृति

उतनी ही आत्माभिमुखी होती है। ऐसी सस्कृति के श्रेष्ठ सस्कार जब एक पीढी से दूसरी पीढी मे अवतरित होते है तो ऐसी प्रक्रिया के लिये अभिभावक एव सन्तान दोनो को समान रूप से उत्तरदायी होना चाहिये। इसका पहला भार अभिभावको पर होता है क्योकि सन्तान वही सीखती है जो उसके माता-पिता करते हैं। अगर आप अपनी सन्तान को दोष देते है तो अपने आचरण को पहले देखना होगा और फिर दोनो ओर सुधार लाने की चेष्टा करनी होगी। वस्तुत. सस्कृति मे विचार एव वातावरण दोनो का समावेश हो जाता है।

जब सस्कारो की श्रेष्ठता घटती है और उनमे विकृति आ जाती है, तभी जड-पूजा शुरू होती है तथा सत्ता-सम्पत्ति पा लेने के लिये एक पागलपन सा सवार हो जाता है। जालसाजी और धोखेबाजी की कई घटनाएँ नितप्रति समाचार-पत्रो मे छपती रहती है। जड पदार्थो के लिये जो पागलपन है, वही आत्म-प्रवचना की स्थिति है। धन पाकर यदि वह मदमत्त हो जाता है तो उसका अर्थ यही है कि वह अपनी चेतना के साथ धोखा कर रहा है याने कि अपने ही साथ धोखा कर रहा है। अपने साथ धोखा करके कोई अपना ही तो बिगाडेगा ! आत्म-प्रवचना मे ऐसा ही होता है, अत इस वृत्ति को रोकना चाहिये, जिसके लिये एक मात्र उपाय है कि ममता से मन हटाकर समता से उसे सरस बनाया जाय।

वर्तमान मे चारो ओर फैल रही ममता की माया पर जब दृष्टि उठती है तो यही दिखाई देता है कि लोग मु ह से समता और सिद्धान्तो के बारे मे तो सुन्दर-सुन्दर बाते कहेगे किन्तु आचरण के नाम पर शून्य बने रहेगे। परिग्रह के प्रति ममता को घटाने के बारे मे कोई सक्रियता नही लायेगे। शायद हमारे उपदेश सुनकर कई यह न कह जाते हो कि महाराज, जो बाते आपसे सुनी, आप ही के चरणो मे चढा जाते है। फिर दरवाजे से बाहर निकले और वे घोडे तथा वही मैदान शुरू हो जाता है।

यह क्या दशा है—गहराई से सोचने की जरूरत है। आज जैसे सभी गाढी नीद मे सो रहे है। जनता अज्ञान है तो नेता अपनी कुर्सियो की रखवाली मे ही सब कुछ करते है, फिर जीवन की मूलभूल को सुधारने का व्यापक कार्य कौन करेगे ? आज चेतना शक्ति को जागृत बनाकर आत्मा की पराधीनता मिटाइये और आत्म-स्वतत्रता की स्थापना कीजिये।

समता-दर्शन के प्रभाव से आच्छादन हटेंगे, आलोक फैलेगा :

विश्व के धरातल पर समता दर्शन के प्रभाव से ही मानवीय जीवन की मूलभूल का सुधार हो सकेगा। मूल की भूल सुधर जायगी तो इस आत्मा के आवरण तथा आच्छादन हटेगे एव आत्मा के मूल स्वरूप का आलोक फैलेगा।

मैं आप मे से प्रत्येक को चाहे वह किसी भी जाति, पार्टी, धर्म, सम्प्रदाय या मान्यता का हो—यह चिन्तन करने का आग्रह करूगा कि किस प्रकार के आचार-विचार से मन की ग्रथियाँ खुलेंगी तथा समता-दर्शन से परिपूर्ण बनकर किस प्रकार की दृष्टि अपने को कर्त्तव्यपरायण बना सकेगी ? यदि समता को अपने विचार एव व्यवहार मे समाविष्ट करलें तो कर्मों के बन्धन स्वत ही टूट पडेंगे तथा अन्तर्मन मे ईश्वरत्व का आलोक प्रकाशित हो जायगा। स्वय के समतामय जीवन से परिवार का नया ढाचा ढलेगा तो इस परिवर्तन के साथ समाज, राष्ट्र एव विश्व मे भी आध्यात्मिक अनुशासन का प्रसार हो सकेगा। समता के क्षेत्र मे सिद्धान्त से जीवन-विकास तथा आत्मोन्नति एव परमात्म स्थिति तक सहजता से पहुँचा जा सकता है। समता समग्र जीवन को समरस वना देती है।

२
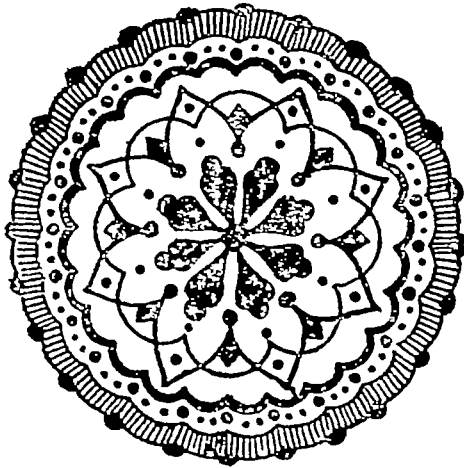
समता : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

☐ डॉ० हरीन्द्र भूषण जैन

समता का अर्थ :

समता शब्द का सामान्य अर्थ है समानता की भावना। इसके अनेक रूप हो सकते है—अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियो मे सुख-दुःख की भावना से ऊपर उठकर समान अनुभूति, अथवा न किसी के प्रति राग और न किसी के प्रति द्वेष, अथवा मानव-मानव मे ऊँच-नीच की भावना का परित्याग, अथवा स्वप्रतिकूलता का दूसरे के प्रति अनाचरण आदि। साक्षेप मे, विषमता मे समत्व की अनुभूति ही समता है।

समता शब्द 'सम' और 'ता' इन दो पदो के योग से बनता है। 'सम्' (वैक्लव्ये) धातु से 'अच्' प्रत्यय[1] होकर 'सम' पद बना जिसका अर्थ है समान[2]। 'ता' (तल्) भाववाची प्रत्यय है[3]। अत. समता का अर्थ हुआ समानता का भाव[4]।

'सम' शब्द प्राकृत एव सस्कृत मे समान रूप से प्रयुक्त होता है। प्राकृत 'सम' शब्द के सस्कृत मे तीन पर्यायवाची है—सम, शम और श्रम। इसी प्रकार प्राकृत 'सम' शब्द से निर्मित समण (श्रमण) के भी सस्कृत मे तीन

१—'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' ३ १ १३४, पाणिनि के इस सूत्र से 'सम्' का पचादि गण मे पाठ होने के कारण 'अच्' प्रत्यय हुआ।

२—'समस्तुल्य. सदृक्ष सदृश सदृक् साधारण समानश्च' अमर कोश, २ १०.३६।

३—'तस्य भावस्त्वतलौ' ५ १ ११९, पाणिनी के इस सूत्र से 'तल्' (त) हुआ, तदनन्तर स्त्रीवाची 'टाप्' (आ) प्रत्यय हुआ।

४—Equality, Impartiality—आप्टे की सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी पृ० १०९३।

पर्यायवाची होते है—समन, शमन और श्रमण, और 'समण' का अर्थ होता है, जो समता भाव का धारी है, जो अपनी वृत्तियो को शान्त रखता है और जो अपने विकास के लिए निरन्तर परिश्रम या तप (श्रमु तपसि खेदे च) करता रहता है[1]। अत समता का अर्थ हुआ समभाव, शान्त भाव तथा श्रमशीलता अथवा तप शीलता। दूसरे शब्दो मे प्राणिमात्र के प्रति सगत्व की उदार भावना से समन्वित आत्मोत्थान के लिए प्रशान्तवृत्तिता एव तप शीलता ही समता है।

समता की परिभाषा :

आत्मा की प्रशान्त निर्मल वृत्ति ही 'समता' है। वही सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष का मूल है। आचार्य कुन्द-कुन्द (ई० प्रथम शती) ने चारित्र का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है —

"चारितं खलु धम्मो–धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥"[2]

अर्थात्—मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणामरूप समत्व ही धर्म है, और उसी धर्म को सम्यक् चारित्र समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि (ई० दशम शती) ने 'तत्त्वप्रदीपिका-वृत्ति' मे उक्त गाथा की टीका करते हुए 'समता' की निम्न प्रकार परिभाषा की है :— "स्वरूपे चरण चारित्र , तदेव वस्तु स्वभावत्वाद्धर्म । तदेव च यथावस्थितात्म-गुणत्वात् साम्यम् । साम्य तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादित समस्त मोह क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणाम ।"[3]

अर्थात्—अपने स्वरूप मे आचरण ही वस्तु का स्वभाव होने के कारण धर्म है। वही धर्म साम्य अर्थात् समता है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय, इन दोनो कर्मो के उदय से प्राप्त मोह और क्षोभ के अभाव से अत्यन्त निर्विकार जीव का स्वभाव ही समता है।

आचार्य जयसेन (ई० द्वादश शती) ने उक्त ग्रन्थ की अपनी 'तात्पर्य-वृत्ति' नामक टीका मे 'सम' का अर्थ 'शम' करते हुए लिखा है—"धर्मो प स तु शम इति निर्दिष्ट । स एव शमो मोह क्षोभ विहीन शुद्धात्म परिणामो भण्यते, इत्यभिप्राय ।"[4]

१—श्री इन्द्र चन्द्र, 'भारतीय सस्कृति की दो धाराएँ' सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ० ४-५।

२—आचार्य कुन्द-कुन्द, 'प्रवचनसार', सपादक—डॉ० ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, गाथा क्र० १,७।

३—वही, गाथा क्र० १/७ पर आ० अमृतचन्द्र की टीका, पृ० ७-८।

४—वही, गाथा क्र० १/७ पर आ० जयसेन की टीका, पृ० ७-८।

'श्रीमद्भगवद्गीता' योग शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। योग की परिभापा बताते हुए उसमे कहा गया है कि 'समत्व' ही योग है। सिद्धि तथा असिद्धि, इन दोनों मे समान भाव ही समत्व है। कृष्ण ने अर्जुन को शिक्षा दी कि हे धनञ्जय ! तू अनासक्त भाव से योग मे स्थित होकर कर्म कर—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।"[1]

गीता मे 'समत्व' की मूर्धन्य प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए उसे कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का साधन निरूपित किया गया है—बुद्धिमान् पुरुष पुण्य और पाप, दोनो का परित्याग कर देता है। अतः तू समत्व बुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर। यह समत्व बुद्धियोग ही कर्मो मे चतुरता है, अर्थात् कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है।"

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।"[2]

समता का स्वरूप :

'समरणो समसुहदुक्खो'

सुख और दु.ख, इन दोनो मे एक समान अनुभूति, जीवन की सबसे महान् सफलता है। यही कारण है कि प्राय प्रत्येक धर्म मे सुख-दु ख को समान रूप से सहन करने पर बल दिया गया है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि यदि तू पाप से बचना चाहता है तो सुख-दु:ख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर, फिर युद्ध के लिए तैयार हो; न प्रिय को प्राप्त कर हर्षित हो और न अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न, सुख-दु ख को समान समझने वाला धीर पुरुष निर्वाण का अधिकारी है :—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।"[3]
"न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।"[4]
"समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।"[5]

जैन-धर्म मे 'सामायिक' की बडी प्रतिष्ठा है। अणुव्रती गृहस्थ के चार शिक्षाव्रतो मे और महाव्रती साधु के पाच चारित्रो मे सामायिक का समावेश है[6]। राग-द्वेष की निवृत्तिपूर्वक समस्त आवश्यक कर्त्तव्यो मे समता भाव का

१—श्रीमद् भगवद्गीता, २-४८। २—श्रीमद् भगवद्गीता, २-५०।
३—श्रीमद् भगवद्गीता, २-३८। ४—श्रीमद् भगवद्गीता, ५-२०।
५—श्रीमद् भगवद्गीता, २-१५।
६—आचार्य उमास्वाति 'तत्वार्थसूत्र' ७-२१ तथा ९-१८।

अवलम्बन सामायिक है। आचार्य अमितगति ने 'सामायिक पाठ' मे सामायिक के स्वरूप का अच्छा प्रतिपादन किया है :—

"दुःखेसुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगेवियोगे भुवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धे समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ।।"[1]

अर्थात्—हे देव, सम्पूर्ण ममत्व बुद्धि से रहित मेरा मन सुख-दुःख, वैरी-बन्धु, सयोग-वियोग, भुवन-वन आदि विषमताओ मे समत्व का अनुभव करे।

महावीर ने श्रमण और ब्राह्मण की परिभाषा बताते हुए कहा था—"मूंड-मुंडा लेने से कोई श्रमण और 'ओम्' 'ओम्' रटने से कोई ब्राह्मण नही होता, किन्तु ब्राह्मण बनने के लिए ब्रह्मचर्य और श्रमण बनने के लिए समता का धारण करना आवश्यक है।"

"न वि मुण्डिएण समणो, ओंकारेण न बम्भणो।
समयाए समणो होई, बम्भचेरेण बम्भणो ।।"[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समभाव को श्रमणत्व का मूल माना है —

"सुविदितपयत्थसुत्तो संजमजवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।।"[3]

अर्थात् जीवादि नव पदार्थ तथा तत्प्रतिपादक सूत्रो को जानने के पश्चात् सयम तथा तप से युक्त वीतराग श्रमण जब सुख-दुःख मे समान अनुभूति करने लगता है तभी वह शुद्धोपयोगी कहा जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख मे समत्व की अनुभूति समता का अविकल स्वरूप है।

"वीतरागात् परो देवो न भूतो न भविष्यति।"

समता का एक दूसरा रूप भी है—न किसी के प्रति राग और न किसी के प्रति द्वेष। सक्षेप मे हम इसे वीतराग भाव कह सकते है। गीता का 'स्थित-प्रज्ञ' वीतरागता का समन्वित रूप है। स्थितप्रज्ञ न तो दुःख मे उद्विग्न होता है और न सुख मे स्पृही। वह राग, भय तथा क्रोध—सभी पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह सर्वत्र स्नेह का त्यागकर न तो शुभ मे प्रसन्न और न अशुभ मे दुःखी होता है, राग और द्वेष दोनो से रहित होकर, वशीभूत इन्द्रियो से विषयो को ग्रहण करता हुआ स्वाधीन आत्मावाला वह अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त करता है :—

१—आचार्य अमितगति 'सामायिक पाठ' ३।

२—उत्तराध्ययन, २५, ३१-३२। ३—प्रवचनसार, १-१४।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थित धीर्मुनिरुच्यते ।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।
राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।"[1]

जैन-धर्म मे वीतरागता, आप्त (ईश्वर) का लक्षण माना गया है :— **"न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ।"[2]** साधु, राग और द्वेष इन दोनो पर विजय प्राप्त करने के लिए ही साधुत्व का आचरण करता है :—**रागद्वेष-निवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः ।"[3]** आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि हिसादि पापो से निवृत्ति के लिए रागद्वेष से निवृत्त होना आवश्यक है :—**"रागद्वेष-निवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।"[4]** वे, वासुपूज्य जिनकी स्तुति करते हुए कहते है :—"भगवन्, आप वीतराग है इस कारण आपको मेरी पूजा से कोई प्रयोजन नही, और आप वीतद्वेष है इस कारण किसी की निन्दा से भी आपको कोई प्रयोजन नही । फिर भी आपके पुण्य गुणो का स्मरण पापरूपी मैल को हटाकर हमारे चित्त को पवित्र करता है ।"

"न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्त दुरिजाञ्जनेभ्यः ।।"[5]

जैन साधु ऐसा वीतराग होता है कि उसे शत्रु-मित्र, प्रशसा-निन्दा, हानि-लाभ तथा तृण-सुवर्ण, इनमे समानता दिखाई देती है :—

"सत्तु मित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धि समा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।"[6]

'दर्शनपाठ' मे ठीक ही कहा गया है कि वीतराग के मुख को देखकर जन्म-जन्मान्तरो के पाप-समूह नष्ट हो जाते है । वीतराग से महान् देव न तो कभी पैदा हुआ है और न होगा :—

"वीतरागमुखं दृष्टा पद्मरागसमप्रभं ।
नैकजन्मकृतं पापं दर्शनेन विनश्यति ।।
वीतरागात् परो देवो न भूतो न भविष्यति ।।"[7]

१—श्रीमद् भगवद्गीता—२-५६, ५७, ६४ ।
२—आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', १-६ ।
३—आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', ३-४७ ।
४—आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', ३-४८ ।
५—समन्त भद्राचार्य, 'स्वयभू स्तोत्र' १२-२ ।
६—आचार्य कुन्दकुन्द, 'बोध पाहुड' ४६ । ७—दर्शन पाठ, तृतीय तथा चतुर्थ श्लोक ।

कम्मुणा वम्भणो होई "ब्राह्मण कर्म से ही होता है" यह कथन है, महान् क्रान्तद्रष्टा महावीर का। मानव समाज मे मनुष्य-मनुष्य मे भेद करने की प्रवृत्ति, चिरकाल से चली आई है। कही पर यह भेद अमीर-गरीव का है तो कही पर ऊँच-नीच का। भारतवर्ष मे वर्ण व्यवस्था ने इस ऊँच-नीच के भेदभाव को वढाने मे निरन्तर सहयोग दिया। परिणामस्वरूप, मानव समाज सवर्ण और अवर्ण, दो भागो मे बट गया और अवर्ण निरन्तर सवर्णों द्वारा शोषित होते रहे। इस समस्या से मुक्ति पाने के उद्देश्य से ही कृष्ण ने कहा था कि जो विद्वान् और समदर्शी पण्डित होते है वे आत्मिक दृष्टि से ब्राह्मण और चाण्डाल मे तथा गाय, हाथी और कुत्ता आदि मे कोई भेद नही करते —

"विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।"[1]

स्मृतिकार मनु भी इस बात के समर्थक थे कि वर्ण व्यवस्था जन्मगत नही प्रत्युत कर्मगत होनी चाहिए। उन्होने स्पष्ट कहा था कि जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन न करके अन्यत्र परिश्रम करता है वह उस जन्म मे अपने कुल कुटुम्व सहित शूद्र हो जाता है —

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शुद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।"[2]

महावीर ने अवर्णों को सामाजिक महत्त्व प्रदान करने के लिए शूद्रो को प्रव्रज्या का विधान किया। 'उत्तराध्ययन' मे हरिकेशवल नामक चाण्डाल के गुण सम्पन्न मुनि होने का उल्लेख है —

"सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसवलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ।।"[3]

जन्म के आधार पर मानी गई वर्ण व्यवस्था का महावीर ने घोर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यह वर्ण व्यवस्था कर्म के आधार पर ही है '—

"कम्मुणा वम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।"[4]

इस प्रकार मानव-मानव मे ऊँच-नीच की भावना को छोडकर समान, सहृदय व्यवहार करना समता का निर्मल रूप है।

१—श्रीमद् भगवद्गीता, ५-१८।
२—मनुस्मृति, २-१६८।
३—उत्तराध्ययन १२-१।
४—उत्तराध्ययन २५-३३।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् :

अपने सुख-दु:ख के समान दूसरे के सुख-दु:ख का भी अनुभव करना, मानव-जीवन की परम श्रेष्ठ अनुभूति है। कृष्ण ने कहा था—हे अर्जुन, मुझे वह योगी परम श्रेष्ठ लगता है जो विश्व के समस्त प्राणियो के सुख-दु:ख को अपने जैसा अनुभव करता है :—

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥"[१]

महावीर ने कहा है—"सव्वे पाणा पियाउआ सुहसाया दुक्खपडिकूला"[२] अर्थात्—समस्त प्राणियो को अपना जीवन प्रिय है, उन्हे सुख अच्छा लगता है और दु ख प्रतिकूल ।

सामान्य जन की सुख-दु ख की अनुभूति केवल स्वतः तक सीमित होती है। जीवन का यह एकाङ्गी एव अत्यन्त सङ्कुचित दृष्टिकोण है। यही अनुभूति जब व्यापक रूप ग्रहण कर दूसरे प्राणियो के भी सुख-दुःख का अनुभव करने लगती है तब वह समता का विशुद्ध रूप धारण करती है। इसीलिए आचार्यो ने ठीक कहा है—"आत्मन· प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"—जो अपने को प्रतिकूल लगे, उसे दूसरे के प्रति आचरण मत करो ।

समता तथा साम्यवाद :

समता तथा साम्यवाद, ये दोनो सिद्धान्त उद्देश्यो की लगभग समानता के कारण एक जैसे प्रतीत होते है। पर वस्तुत· ऐसा है नही।

साम्यवाद एक राजनीतिकवाद है जिसका मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवनोपयोगी साधनो को प्राप्त करने तथा अपने विकास करने का समान अवसर प्रदान करना है। इसमे व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। इस वाद मे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिसक अथवा अहिसक, दोनो प्रकार के साधनो का प्रयोग निहित है ।

इसी के समानान्तर एक दूसरा वाद समाजवाद है, जिसका उद्देश्य यथा-सभव अहिसक रीति से समाज मे आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक समानता की स्थापना करना है। इस वाद मे व्यक्ति के स्थान पर समाज की प्रतिष्ठा सर्वोच्च मानी गयी है। समाजवाद की विचारधारा भारत के अनुकूल होने के कारण यहा प्रजातन्त्र का लक्ष्य समाजवाद की स्थापना, निर्धारित किया गया है।

समता अध्यात्मवाद है। यहाँ व्यक्ति और समाज, दोनों के साथ आत्मा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा है। यह केवल मनुष्यो में ही नही अपितु प्राणिमात्र मे

१—श्रीमद् भगवद्गीता ६-३२। २—आचाराङ्ग सूत्र, १-२-३।

समानता का पोषक है। इसका उद्देश्य बाह्य विषम परिस्थितियो के कारण आत्मा मे उत्पन्न विषम भावनाओ पर समत्व की प्रतिष्ठा करके आत्मा का सर्वोच्च विकास करना है। महावीर ने कहा था —

"जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुअहो वि न सज्जेजा, जीविए मरणे तहा ।।
मज्झत्थो निज्जरापेही—"[1]

अर्थात्—न तो जीने की आकाक्षा कर और न मरने की। दोनो मे से किसी मे भी आसक्ति न रख। मध्यस्थ रहकर कर्मो की निर्जरा याने मात्र आत्म-विकास का लक्ष्य रख।

सामाजिक समानता भी समता के लक्ष्य की परिधि मे है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपरिग्रह का विधान है। अपरिग्रह का अर्थ है अपनी आवश्यकता के अनुसार परिग्रह को अत्यन्त सीमित करना अथवा उसको पूर्णत त्याग देना। यदि समाज मे सग्रह की भावना रहेगी तो ऊँच-नीच की भावना को भी प्रश्रय मिलेगा, विषमता दिनो-दिन उग्र होगी और सामाजिक सुख-शान्ति समाप्त हो जावेगी। यदि समाज महावीर के अपरिग्रह के सिद्धान्त का दृढता के साथ पालन करे तो साम्यवाद तथा समाजवाद के उद्देश्यो की पूर्ति तो स्वत हो जायगी, साथ मे आत्म विकास का मार्ग प्रशस्त होगा। इस प्रकार हम कह सकते है कि साम्यवाद या समाजवाद समता का ही एक अग है।

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि समता मानव-जीवन की महान् साधना एव अनुपम उपलब्धि है। यही धर्म है, यही सुख और शान्ति का मूल है तथा इसी से निर्वाण की प्राप्ति होती है। गीता मे कहा है—"जिनके मन मे समता स्थित है उन्होने तो इसी जीवन मे ससार को जीत लिया।"

"इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन ।"[2]

१—आचाराङ्ग सूत्र, १-८-८।

२—श्रीमद् भगवद्गीता ५-१९।

३
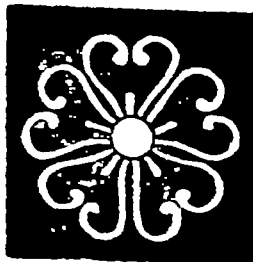
समता : मनन और मीमांसा

☐ श्री रमेश मुनि शास्त्री

समत्व की कसौटी :

जैन धर्म समता-प्रधान धर्म है । अन्तर्बाह्य विषमताओ का अन्त करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है । इसकी सपूर्ण साधना का आधार-बिन्दु आत्म-शुद्धि है । समता का यह महान् आदर्श चिरन्तन सत्य की साधना का उपयोगी तत्त्व बना, एतदर्थ जैन-दर्शन मे व्याख्यायित हुआ ।

वस्तुत वीतराग-प्ररूपित-मार्ग मे समत्व की कसौटी यथार्थ है और यथार्थता का निर्णय-निश्चय ज्ञान पुरस्सर है । अज्ञानपूर्ण तर्कों के माध्यम से निश्चयो एव निर्णयो का कोई मूल्य नही है । तथ्य यह है कि समत्व का निरूपण भी जैन दर्शन की उसी यथार्थ की भूमिका पर हुआ है । यही कारण है कि समग्र आचार दर्शन का सार समत्व की साधना मे समाहित है ।

जीवन के समूचे प्रयासो की फलश्रुति भी यही होनी चाहिये कि आत्म-शक्तियो का केन्द्रीकरण के द्वारा अपनी ऊर्जाओ का प्रकटीकरण किया जाय । पर मानव अपनी अनेक कामनाओ के कारण बिखरा हुआ रहता है, उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है । इतना ही नही, समत्व-केन्द्र से विलग हुआ व्यक्ति 'स्व' और 'पर' के दो विभागो मे बॅट जाता है, और उसका चिन्तन, राग और द्वेष के भँवर-जाल मे उलझ जाता है, जिससे फलित यह होता है कि वह वाह्य-जगत् मे मारा-मारा फिरता है ।

राग आकर्षणात्मक पक्ष है और द्वेष विकर्षणात्मक पक्ष है । इन दोनो पक्षो के द्वारा नैतिक एव आध्यात्मिक साधना का मगल पथ अवरुद्ध हो जाता

है, जिससे तनाव और द्वन्द्व का वातावरण बना रहता है। मानसिक सन्तुलन की स्थायी व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

जैन सम्मत समत्व योग–राग और द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठकर जन-जन को आत्मस्थ होने की दिशा की ओर प्रेरित करता है। जैन नैतिक और आध्यात्मिक साधना को एक ही शब्द मे कह देना हो तो यह कहना सर्वथा सगत होगा कि वह 'समत्व' की यथार्थ एव प्रभावकारी साधना है।

समत्व योग और सामायिक :

'सामायिक' शब्द की निष्पत्ति 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अय्' धातु से हुयी है। 'अय्' धातु के तीन अर्थ हैं—

१—ज्ञान, २—गमन और ३—प्रापण। सम् उपसर्ग उनकी सम्यक्ता अथवा औचित्य का अवबोध कराता है। सम् का एक अर्थ यह भी होता है—राग और द्वेप की अतीत अवस्था।

वस्तुत समत्वयोग अपने विराट् काय-रूप मे सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूप साधना पथ को समाहित किये हुए है, समेटे हुए है। ये तीनो अर्थात् साध्य के त्रिविध साधन समन्वित रूप से मुक्ति प्राप्ति मे महत्त्वपूर्ण घटक हैं।

सामायिक का वर्गीकरण तीन प्रकारो से भी किया जा सकता है—

१ सम्यक्त्व सामायिक।

२ श्रुत सामायिक।

३ चारित्र सामायिक।

सामायिक के प्रथम भेद का अभिप्राय सम्यग्दर्शन से है, द्वितीय भेद का तात्पर्य सम्यक् ज्ञान से है और तृतीय का अर्थ है—सम्यक् चारित्र। यह प्रस्तुत त्रिविध साधना पथ समत्व योग की साधना ही है, और इन्हे भाव, ज्ञान और सकल्प की आधारभित्ति पर ही विविध रूप मे विवेक्षित किया गया है।

विवेचित सन्दर्भ की गहराई मे उतर कर चिन्तन किया जाय तो यह फलित होता है कि भाव, ज्ञान और सकल्प उक्त तीनो को सम बनाने का प्रयास सामायिक है और यही समत्व योग की साधना का रहस्य है।

समता और विषमता :

प्रत्येक जीवन का मूल-भूत उद्देश्य यही है कि समत्व का सस्थापन हो। इसके पूर्व यह भी जान लेना नितान्त अपेक्षित है कि समत्व से पराङ्मुख होने

का कारण क्या है ? जैन-दर्शन के अभिमत-आलोक मे देखा जाय तो यह तथ्य अवगत होगा कि आसक्ति के कारण से ही आत्मा स्व केन्द्र से च्युत होती है, समत्व योग से विमुख हो जाती है। आसक्ति-वियुक्त आत्मा समत्व की मनोरम भूमिका पर अवस्थित हो जाती है।

वस्तुत आसक्ति ही विषमता की जननी है, विभाव दशा है, पर परिणति है। इसी आसक्ति से जागतिक जीव बाह्य पदार्थो की प्राप्ति-अप्राप्ति मे सुख और दु ख की कल्पना-सजोने मे सलग्न रहता है। इस प्रकार आत्म-चेतना बाह्य परिस्थितियो से सपृक्त हो उठती है जिससे उसका विषमताओ से ऊपर उठना असम्भव हो जाता है, इसलिये समत्व-योग की साधना अति आवश्यक है। इसके माध्यम से आत्मा अपने स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है।

वस्तुत समत्व-योग एक सफल अनुष्ठान है। इस के सन्दर्भ मे विस्तार से विचार और जैन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे अनुसन्धनात्मक विवेचन किया जाय तो जैन-साधना-पद्धति का रहस्य भी सहज मे समझा जा सकता है।

४
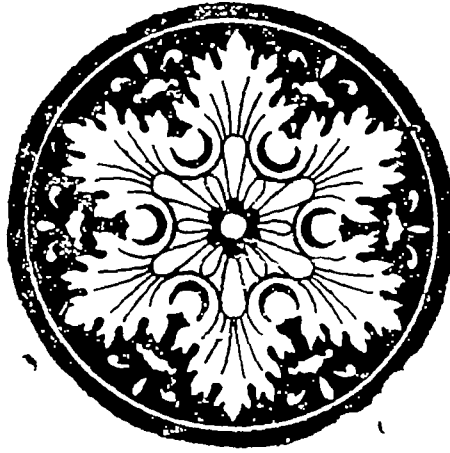
समता बनाम मानवता

☐ डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

समता मानवता का निष्पन्द है। बर्बरता, पशुता, सकीर्णता, उसका प्रति-पक्षी स्वभाव है। राग-द्वेषादि भाव उसके विकार-तन्तु हैं। ऋजुता, निष्कपटता, विनम्रता और प्रशान्त वृत्ति उसकी परिणति है। सहिष्णुता और सच्चरित्रता उसके धर्म है।

यद्यपि सापेक्षता व्यापकता लिये हुए रहती है पर मानवता के साथ सापेक्षता को सम्बद्ध करना उसके तथ्यात्मक स्वरूप को आवृत्त करना है। इसलिए समता की सत्ता मानवता की सत्ता मे निहित है। ये दोनो आत्मा की विशुद्ध अवस्था के गुण है।

व्यवहारत मानवता के साथ सापेक्षता के आधार पर विचार किया भी जा सकता है पर वास्तविक समता उससे दूर रहती है। समता मे 'यदि और तो' का सम्बन्ध बैठता ही नही। वह तो समुद्र के समान गभीर, पृथ्वी के समान क्षमाशील और आकाश के समान स्वच्छ तथा व्यापक है। इसलिए समता का सही रूप धर्म है। वही उसका मर्म है।

धर्म को शाश्वत और चिरन्तन सुखदायी माना गया है पर उसके वैविध्य रूप मे यह शाश्वतता धूमिल-सी होने लगती है। समता का स्वरूप धूमिल होने की स्थिति मे कभी नही आता। वह तो विकार भावो की असत्ता मे ही जन्म लेता है। क्रोधादिक विकार भाव असमता, विषमता, उद्धतता और ससरणशीलता की पृष्ठभूमि मे प्रादुर्भूत होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के समन्वित रूप मे ही ये विकार भाव तिरोहित होते हैं।

चारित्र का सम्यक् परिपालन बिना दर्शन और ज्ञान के नही हो पाता। दर्शन और ज्ञान आत्म-शक्ति किवा आत्म-विश्वास और आत्म-ज्ञान के प्रतीक है। आत्म-विश्वास और आत्म-ज्ञान ही समता के मूल कारण है। इसलिए चारित्र को 'धर्म' कहा गया है।

धर्म तथा समता को राग-द्वेषादिक विकार भावों की अभावात्मक स्थिति कहा जाता है। ममत्व का विसर्जन और सहिष्णुता का सर्जन उसके आवश्यक अग है। मानसिक चचलता को सयम की लगाम से वशीभूत करना तथा भौतिकता की विषादाग्नि को अध्यात्मिकता के शीतल जल से शमन करना समता की अपेक्षित तत्त्व दृष्टि है। सहयोग, सद्भाव, समन्वय और सयम उसके महास्तम्भ है। श्रमण का यही स्वरूप है। इसी को कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे इन शब्दो मे कहा है —

चारित्त खलु धम्मो यो धम्मो जो सो समो ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥

जैन-बौद्धधर्म मे इसी प्रकार की समता का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उत्तराध्ययन और धम्मपद मे समता का प्रशिक्षण इसी की परिसीमा से आबद्ध है। 'मोक्ष' का मार्ग भी यही है। इसमे अध्यात्म और दर्शन, दोनो अन्तर्भूत हो गये है। समता की गहराई मे डूबा व्यक्ति ही सही आध्यात्मिक और दार्शनिक होता है।

समतावादी व्यक्ति निष्पक्ष, वीतराग, सुख-दुख मे निर्लिप्त, प्रशसा-निन्दा मे निरासक्त, लोष्ट-काञ्चन मे निर्लिप्त और जीवन-मरण मे निर्भय रहता है। उसका मन ससार के किसी भी पदार्थ की ओर आकर्षित नही होता। इसी को श्रमण कहा जाता है।

समता हर धर्म के साथ किसी-न-किसी सीमा तक बधी हुई है। वीतरागता से जुडी हुई समता आध्यात्मिक समता है जो आगमों और कुन्द-कुन्द के ग्रन्थो मे दिखाई देती है। माध्यस्थ भाव से जुडी हुई समता दार्शनिक समता है जिसे हम स्याद्वाद, अनेकान्तवाद किंवा विभज्जवाद मे देख सकते है तथा कारुण्यमूलक समता पर राजनीति के कुछ वाद प्रस्थापित हुए हैं। मार्क्स का साम्यवाद ऐसी ही पृष्ठ-भूमि लिए हुए है।

समता आत्मा का सच्चा धर्म है। इसलिए आत्मा को 'समय' भी कहा जाता है। 'समय' की गहन और विपद व्याख्या करने वाले समयसार आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। 'सामायिक' जैसी क्रियाये उसके 'फील्डवर्क' है। समत्व की प्रस्थापना ही समत्व योग है। अहिसा उसी का एक अग है। वर्णादि व्यवस्था की सीमा मे समत्व योग की कल्पना सार्थक नही हो सकती। वह तो

एक निर्द्वन्द्व और शून्य अवस्था है जहा हर प्रकार का विकल्प अपने घुटने टेक देता है। निराकुलता और निर्विकल्पात्मकता उसके चिरस्थायी अग है।

समता को यदि किसी धर्म विशेष से जोडना ही पडे तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान जैन-धर्म की ओर आकर्षित होता है। मानवता का सर्वाधिक चिन्तन, मनन और सरक्षण करने वाला धर्म जैन-धर्म ही दिखाई देता है। समत्व का हर अग-प्रत्यग यहा भलीभाति पुष्पित और पल्लवित हुआ है। तथाकथित ईश्वर से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना ही नही बल्कि स्वय मे ही प्रच्छन्न ईश्वर अथवा तीर्थङ्कर बनने की क्षमता को उद्घाटित करना समता का प्रमुख कार्य है। समत्वयोगी किसी के 'प्रसाद' पर अवलम्बित नही होता। वह तो अपने पुरुषार्थ से ही मुक्ति रूप लक्ष्मी का परिणय करता है।

बौद्ध-धर्म मे भी समता सन्निहित है परन्तु उसमे उसका उतना उज्ज्वल पक्ष दिखाई नही देता जितना जैन-धर्म मे। समता अहिसा की व्याख्या मे जीवित रहती है। बौद्ध-धर्म की अहिंसा परिस्थितियो से सघर्ष करने की अपेक्षा उनसे तालमेल बैठालना अधिक जानती है जबकि जैन-धर्म की अहिसा यह कभी नही कर पाती। वह इस क्षेत्र मे समझौते के सिद्धान्त से बहुत दूर रहती है।

वैदिक अहिसा बौद्ध अहिसा से कही अधिक सासारिक है। इसलिए उसकी समता का स्वरूप ही दूसरा है। प्रथम तो वहा समता का अस्तित्व सही अर्थो मे है ही नही, यदि है भी तो एक सीमित क्षेत्र मे जन्मना वर्णव्यवस्था की विषमताभरी गोद मे समता का मूल्याङ्कन किया ही नही जा सकता। आश्रम व्यवस्था मे अन्तिम अवस्था समता की प्रतिग्राहिणी अवश्य कही जा सकती है पर जहा प्रारम्भ से ही बीज-वपन न हो वहा उसका प्रतिफलित होना सहज सभाव्य नही होता।

अत समता मानवता का प्रतीकात्मक धर्म है और धर्म की व्याख्या मानवता मे सन्निहित है। व्यवहारत उसे हेयोपदियात्मक विवेक की भी सज्ञा दी जा सकती है।

५

समता—समत्वं योग उच्यते

☐ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

वेदों का शिरोभाग उपनिषद् है और उपनिषदो का सार सर्वस्व 'गीता'। इस 'गीता' मे मानव पुरुषार्थ की उपलब्धि के निमित्त दो निष्ठाएँ कही गई—साख्यनिष्ठा तथा योगनिष्ठा या कर्मनिष्ठा। कहा गया है—

> सन्यास. कर्मयोगञ्च नि'श्रेयसकरावुभौ।
> तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

अर्थात् नि श्रेयस् की उपलब्धि सन्यास (त्याग) से भी हो सकती है और कर्मयोग से भी। परन्तु जब इन विकल्पो मे से किसी एक के चयन की बात हो तो कर्मयोग को ही महत्त्व देना चाहिए। हा, कर्मयोगी की 'बुद्धि' मे 'समता' की प्रतिष्ठा आवश्यक है। कारण, कर्म से 'ज्ञान' श्रेष्ठ है—बुद्धियोग श्रेष्ठ है—समत्वयोग श्रेष्ठ है। सर्वोच्च योग बुद्धिगत 'समता' की प्रतिष्ठा है।

गीताकार का कहना है कि जिस ससार मे जन्म लेना और मरना, श्वास-लेना और छोडना भी 'कर्म' है—यहा तक कि सृष्टि के निमित्त आद्य स्पन्द (जो सृष्टि मात्र का मूल है) जिसे गीताकार ने 'विसर्ग' कहा है—वह भी उत्पाद-विनाश-शील होने से कर्म ही है—क्या इन कर्मो को छोडना—इनका सामस्त्येन त्याग सभव है? जब कर्म मात्र का सामस्त्येन त्याग असम्भव है—तब उसे सभव करने का सवाल ही नही उठता? फिर जब कर्म त्याग सभव नही है और कर्म-चक्र सचित, क्रियमाण प्रारब्ध–से छुटकारा पाये बिना नि श्रेयस् की उपलब्धि नह तो फिर क्या किया जाय? यह प्रश्न केवल अर्जुन के सामने ही नही, प्रत्युत् मानव मात्र सामने है। कर्म या कर्त्तव्य सपादन मे प्राय वैयक्तिक

रागात्मक लगाव वाधा उत्पन्न करते है। अर्जुन के समक्ष कर्त्तव्य सुनिर्णीत है—युद्ध, पर वैयक्तिक रागात्मक लगाव उसे रोकता है। कृष्ण का निर्णय है कि कर्त्तव्य और वैयक्तिक रागात्मक लगाव—दोनो मे सघर्ष होने पर विश्वोपासना के माध्यम से नि श्रेयस् के अभिलाषी को रागात्मक लगाव त्याग देना चाहिए और दूसरी ओर कर्त्तव्य के परिणाम–अनुकूल या प्रतिकूल–से भी तटस्थ होना चाहिए। परिणाम मे अनुकूलता की भूख भी साधक को कर्त्तव्यच्युत कर देती है। एक शब्द मे कहना हो, तो कहा जा सकता है—लगाव यानी आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए। आसक्ति ही कर्मरूपी विच्छू का डक है—आसक्ति रूपी डक को तोड देने से कर्मरूपी विच्छू निरर्थक हो जाता है—कर्मचक्र विपमय परिणति नही प्राप्त करता। क्रियमाण का सचित वनना ही वन्द हो जाता है—भूने हुए वीज की तरह उसमे अकुर उत्पन्न ही नही हो पाता। अनासक्ति पूर्वक किया गया कर्म जन्मान्तर का कारण नही वनता।

अभिप्राय यह कि कर्म करके भी कर्मचक्र से मुक्त हुआ जा सकता है, वशर्ते कर्म करने की कला ज्ञात हो जाय। यह कला आसक्ति का त्याग है—निष्काम कर्म है—परमेश्वर के प्रति कर्म का सन्यास या अर्पण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म का सामस्त्येन त्याग असभव है—अत कर्म करना ही होगा—वह चाहे विशिष्ट कर्म हो या सामान्य। कर्म करते हुए कर्मचक्र से मुक्त हो जाने का मार्ग–आसक्ति का त्याग है—कर्मफल के प्रति बुद्धिगत 'समता' अपेक्षित है। अनुकूल फल के प्रति झुकाव और प्रतिकूल फल के प्रति द्वेष यही विषमता है। दोनो के प्रति समान भाव रखना चाहिए, महत्त्व लोक निर्धारित विश्वात्मा की उपासना के निमित्त किए जाने वाले कर्त्तव्य को दिया जाना चाहिए। यह 'विपमता' आसक्तिवश होती है—जो कर्ता को रागाध वनाकर दूसरो की ही नही, स्वयम् की भी हिसा करा डालती है। इसीलिए 'हिंसा' सवसे वडा अधर्म और 'अहिंसा' सवसे वडा धर्म है। वैदिक धर्म का मर्म निरूपित करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा कि 'पर उपकार' धर्म है और 'अहिंसा' परम धर्म है—

> पर हित सरिस धरम नहि भाई
>
> ❀　❀　❀
>
> परम धर्म श्रुति विदित अहिसा
>
> ❀　❀　❀
>
> 'पर उपकार' सार श्रुति को

गोस्वामीजी की दृष्टि से श्रौत धर्म का सार 'परहित' और परमधर्म 'अहिसा' है। आत्म-हिसा और पर हिंसा से वचना हो, तो 'विपमता' (राग-

द्वेष) को छोड़ना होगा और आसक्ति तभी जाएगी जब 'समता' बुद्धि प्रतिष्ठित होगी । गीताकार ने कहा :—

'सेय स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति' सन्यासी–त्यागी वही है—जो 'सम' है—जिसे न कही राग है और न कही द्वेष । इस 'समता' को स्पष्ट करते हुए यह भी बताया गया कि—'समता' जिसकी बुद्धि मे प्रतिष्ठित हो चुकी है—उसको सर्वत्र वही दिखता है चाहे विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण हो, गाय हो या हाथी, कुत्ता हो या चाडाल–उसके लिए 'साम्य' सर्वत्र प्रतिष्ठित है । ऐसी 'समता' मे जिनका मन स्थित हो चुका होता है—वे लोग यही, इसी शरीर और इसी लोक मे मृत्यु को जीत लेते है । यह 'सम' और 'ब्रह्म' एक ही है । 'साम्य' मे जिसकी स्थिति हो गई वह 'ब्रह्म' ही हो गया और 'छादोग्य उपनिषद्' मे ठीक कहा है—ब्रह्मसस्थोऽमृतत्वमेति–ब्रह्मनिष्ठ–साम्यनिष्ठ–अमृतत्व को प्राप्त कर जाता है । उसे निश्रेयस मिल जाता है । ऐसे ही लोग सिद्धि-असिद्धि, अनुकूल-प्रतिकूल—जैसे द्वन्द्वो से अतीत हो जाते है—ठीक ही कहा है —

'सिद्ध्यासिद्ध्योः समोभूत्वा समत्व योग उच्यते' यही है—वैदिक धर्म का 'समता' योग ।

६
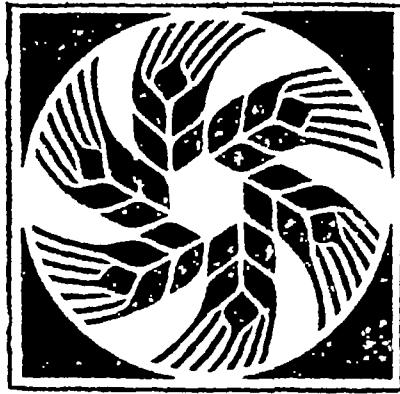
समत्व की साधना

□ श्री भंवरलाल पोल्याका

अर्थ और विज्ञान का वर्चस्व

आज के मानव पर अर्थ और विज्ञान पूरी तरह हावी हो रहे हैं। वह उन दोनो को सुख-शांति की प्राप्ति का अमोघ उपाय जान, इनके पीछे पागल की भांति घूम रहा है। विज्ञान भांति-भांति के भौतिक आविष्कारो द्वारा प्रकृति को अपनी इच्छानुसार मोडना चाह रहा है और मानव को भौतिक साधनो द्वारा सुखी बनाने का प्रयत्न कर रहा है। इन साधनो के आविष्कार के लिए तथा इनके उपभोग के लिए अर्थ की आवश्यकता है, अत आज मानव का उद्देश्य केवल येनकेन प्रकारेण अर्थ की प्राप्ति रह गया है। इसके लिए आज मानवता बलिदान हो रही है। मानव सद्गुणो का जिस तेजी से ह्रास हो रहा है यदि उसकी यही गति रही तो पता नही मानवता कितने गहन गर्त मे जा डूबेगी कि उसका वहा से उद्धार करना असभव नही तो कष्टसाध्य अवश्य होगा। मानवता के इस पतन को रोकने तथा उसे ऊँचा उठाने का प्रयत्न आज की महती आवश्यकता है।

भौतिक सुख-सुविधाओ के पीछे दौडने की इस मानव-प्रवृत्ति ने कई प्रकार की विषमताओ को जन्म दिया है। आज मानव-मानव का एक परिवार दूसरे परिवार का, एक जाति दूसरी जाति का एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शत्रु हो रहा है। प्रत्येक अपने को उच्च और दूसरे को हीन दृष्टि से देखता है। और तो और एक ही धर्म के अनुयायियो मे भी आज विषमता ने बुरी तरह अपनी जड जमा ली है। धर्म की एक शाखा के अनुयायी दूसरी शाखा के अनुयायियो के साथ इस प्रकार का व्यवहार करते हैं मानो वे उस धर्म के अनुयायी न हो

अन्य किसी ऐसे धर्म के अनुयायी हो—जिसके साथ कभी मेल ही न हो सकता हो। वे आपस मे तीन और छह का सा व्यवहार करते है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विषमताओ ने घर कर लिया है जिससे मानव आज सत्रस्त और दु खी है और वह एक ऐसे मार्ग की खोज मे है जो उसे इस सत्रास से उबार सके।

इसका इलाज है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे समत्व का पालन। जिस प्रकार विष की औषध अमृत है, अधकार का नाश करने के लिए प्रकाश की, अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञानार्जन की आवश्यकता है, उसी प्रकार वैषम्य का इलाज समत्व के अतिरिक्त अन्य नही है।

समता बनाम विषमता :

जैन-धर्म मे समता का अपना वैशिष्ट्य है। वहाँ चारित्र को धर्म कहा है और समत्व को चारित्र[1] अर्थात् धर्म, समत्व और चारित्र तीनो भिन्न न होकर एक ही है।

समता के विलोम शब्द है 'विषमता', 'वैषम्य', विसमत्व जिनका अर्थ है ऊँच-नीच, छोटे-बडे का भाव। वर्गभेद, जातिभेद, शोषण, अन्याय, अत्याचार, घृणा आदि के मूल मे विपमता की भावना ही है जो रागद्वेष और मोह से उत्पन्न होती है। जहाँ वैपम्य है वहाँ राग-द्वेष का सद्भाव अवश्य है। जब तक राग-द्वेप और मोह का लेशमात्र भी अवशेप है, समत्व की साधना अधूरी है। पूर्ण समता का धारी वीतराग होता है। वह आत्मा की सर्वोच्च अवस्था है। इसके पश्चात् वह कृत-कृत्य हो जाता है। जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष भी अवश्य होता है। यदि किसी व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के प्रति हमारा राग है

१—(।) चारित्त समभावो।

—पचास्तिकाय गा १०७

(॥) (क) वीतरागचारित्राख्य साम्य।

—प्रवचनसार गा ५ की अमृतचन्द्रीय टीका

(ख) सम्म साम्य चारित्रम्।

—वही जयसेनीय टीका

(ग) समय सया चरे। सदा समता का आचरण करना चाहिये।

—सूत्र० २-२-३

(घ) समता सव्वत्थ सुव्वए। सुव्रती सर्वत्र समता का पालन करे।

—सूत्र० २-३-१३

(ङ) समियाए धम्मे आरिएहि पवेइए।
आचार्यो द्वारा समत्व मे धर्म कहा है।

—आचाराग—१-८-३

तो अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति द्वेष अवश्य ही हमारे मन मे घर किये हुए है। राग कभी अकेला नही आता, द्वेष उसका अविनाभावी साथी है।[1] जब तक राग है तब तक आप्तता और हितोपदेशीपना आत्मा मे आ नही सकता।[2]

श्रमण परम्परा का लक्ष्य :

श्रमण परम्परा का लक्ष्य राग-द्वेष को नष्ट कर समत्व को प्राप्त करना रहा है। वह साध्य भी है और साधन भी। समत्व का साधक ही 'समण' कहलाता है।[3] महावीर 'महासमण' इसीलिए कहलाते थे कि उन्होने समत्व की साधाना पूर्ण करली थी। समभाव की पूर्णता पर मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है, यह बात सन्देश से परे है।[4]

सब जीवो के प्रति समभाव समण के सम्पूर्ण आचारो मे परम आचरण है।[5] 'समण' के लिए शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशसा, स्वर्ण-पत्थर, जीवन-मरण सब समान हैं।[6]

'समण' साधना के छह आवश्यक कर्मों मे सामायिक की प्रमुखता है। सब जीवो के प्रति चाहे वे त्रस हो अथवा स्थावर, समभाव रखना, उनमे किसी प्रकार का भेदभाव नही करना, अपना इष्ट करने वाले के प्रति राग तथा अनिष्ट करने वाले के प्रति द्वेष भाव न करना, सबका हित चाहना, किसी का भी बुरा नही चाहना, सासारिक सुख-दुःखो को समान भाव से आत्मा मे बिना किसी हर्ष विषाद के सहन करना, महल-मसान मे कोई भेद न करना, धनी और निर्धन को समान भाव से देखना, धनी का आदर और निर्धन का ति[illegible]

१—यत्र राग पदम् धत्ते द्वेपस्तत्रेति निश्चय ।
—इष्टोपदेश टीका

२—न रागद्वेपमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते ।
—आ० समन्तभद्र रत्नक[illegible]

३—समयाए समणो होइ । —उत्तराध्ययन २५-३२

४—(i) उवसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसम्पत्ती ।
—आ० कुन्द-कुन्द प्रवचनसार गा० ५

(ii) समभावभाविअप्पा लहइ मोक्ख न सन्देहो ।

५—सर्व सत्वेपु हि समता सर्वाचरणाना परमाचरणम् ।
—आ० सोमदेव नीतिवाक्यामृत

६—समसत्तुबधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
सम लोट्ठु कचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥
—आ० कुन्दकुन्द प्रवचनसार गा० २४१

नही करना, अपनी प्रशसा सुनकर मन मे हर्षित न होना तथा निन्दा सुनकर खेद न करना, इष्ट के वियोग और अनिष्ट के सयोग पर दु.खी न होना, 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्', 'गीता' के महावाक्य का अक्षरश. पालन करना आदि सब सामायिक करने वाले तथा सामायिक आचार का पालन करने वाले के प्रमुख लक्षण है।[1]

'समण' की यह साधना प्रतिपल-प्रतिक्षण चलती रहती है। इससे च्युत हुआ नही कि समणत्व भग हुआ। गृहस्थ भी इस समत्व की साधना करते है। वे त्रिकाल सामायिक करते है। इस समय वे आ० समन्तभद्र के अनुसार 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' होते है। किसी भी प्रकार का उस समय उपसर्ग आने पर वे विचलित नही होते। वे सामायिक मे वैठने से पूर्व प्रतिज्ञा करते है .—

> इस औसर मे मेरे सब सम कंचन अरु तृण ।
> महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहि समगण ।।
> जामण मरण समान जानि हम समता कीनी ।
> सामायिक का काल जिते यह भाव नवीनी ।।

राग-द्वेष की निवृत्ति समभाव की प्रवृत्ति है। इसी पर सम्पूर्ण जैनाचार का महल खडा है। चारित्र के धारण-पालन का एक मात्र उद्देश्य राग-द्वेष की निवृत्ति ही है, अन्य कुछ नही।[2]

समत्व की साधना का सोपान अहिंसा

समत्व की साधना का सोपान अहिसा है। अहिसा का पालक ही जीवन मे समता को उतार सकता है। समता के लिए सब जीव समान होते है, सब जीवो के प्रति उसका मैत्री भाव होता है, किसी के प्रति भी वैरभाव नही होता। उसके द्वार सबके लिए खुले होते है। उसका उपदेश जीवमात्र के लिए होता है। इसीलिए तीर्थंकरो के समवसरण मे मनुष्य, देव ही नही, तिर्यञ्च तक सम्मिलित होते है। यह उनकी समता का ही प्रभाव होता है कि चिरवैरी भी अपना

१—(क) ज इच्छसि अप्पणतो, ज ण इच्छसि अप्पणतो ।
त इच्छ परस्स वि या, एत्तियग जिनसासनम् ।।
—समणसुत्त २-८

(ख) समभावो सामइय तणकचणसत्तुमित्तविसओ त्ति ।
—वही २७-६

(ग) जो समो सव्वभूवेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइग ठाई, इहि केवलिसासणे ।।

२—रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ।
—आ० समन्तभद्र र० क० श्रा० ४७

वैरभाव भूल साथ-साथ रहने लगते है। सिह और गाय एक घाट पानी पीते है, सांप और नेवला एक साथ खेलते हैं, चूहा बिल्ली से भयभीत नही होता, सिह को देखकर भी मृग डर कर भागते नही, निर्भय खडे रहते है।

प्रमाद अर्थात् राग-द्वेष और मोह की अनुत्पत्ति ही अहिसा है। समत्व का लक्षण भी यही है। हिसा के अतिरिक्त अन्य कोई पाप नही है। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह तो केवल उदाहरण के लिए, मुमुक्षु को समझाने के लिए बनाए गये है। अहिसा के अतिरिक्ति सब व्रत उसकी परिपालना के लिए ही है।[1]

समत्व का साधक अपने उपास्य के प्रति भी आग्रही नहो होता। उसका किसी के प्रति भी कोई पक्षपात नही होता। जिसके रागादि दोष क्षय हो चुके है वही उसका उपास्य होता है फिर चाहे उसे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव जिन आदि किसी भी नाम से पुकारे।[2]

किसी विशेष वेष अथवा वाद के प्रति भी उसका आग्रह नही होता। न वह श्वेताम्बरत्व को मुक्ति का साधन मानता है न दिगम्बरत्व को। नित्यत्ववाद, क्षणिकवाद से भी उसका कोई सरोकार नही। स्व पक्ष का आग्रह भी उसके नही होता। उसका लक्ष्य तो एक मात्र कषायो से मुक्त होना होता है।[3]

समता के साधक के लिए जाति का कोई महत्त्व नही है। उसके लिए सब मानव समान है, मानव-मानव मे कोई भेद नही है। ससार के सब ही मनुष्यो की जाति एक है। उनकी गाय, घोडे आदि के समान पृथक्-पृथक् जातियां नही है।[4]

समता का साधक क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह के वशीभूत होकर जो स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव से सत् है उसको असत् और पर द्रव्य क्षेत्र काल

१—अहिंसाप्रतिपालनार्थमितरद्व्रतम्।

—आ० पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि ७-१४

२—भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्या क्षयमुतापगता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

—आ० हरिभद्र सूरि

३—न श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्ववादे।
न पक्षसेवाऽऽश्रयणेण मुक्ति कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव॥

४—(क) नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।

—आ० गुणभद्र

(ख) मनुष्य जातिरेकैव। —आ० जिनसेन

भाव की अपेक्षा असत् है उसको सत् नही बताता। जो पदार्थ वास्तव मे है उसे पर रूप नही कहता जैसे घोडे को गधा कहना। दूसरे की निन्दा नही करता। जिस उपदेश को सुनकर मनुष्य पापरूप प्रवृत्ति करने लगे, ऐसा उपदेश नही देता। उसके वचन हमेशा हित, मित और प्रिय होते हैं। दूसरो के दोष वताने मे उसकी वाणी सदैव मौनावलम्बिनी होती है।

सच्चा श्रमण हठी, दुराग्रही तथा एकान्ती नही हो सकता, क्योंकि ससार की प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक बार मे शब्द पुद्गल होने से वस्तु के एक धर्म की मुख्यता को लेकर कथन किया जाता है। शेष धर्म गौण रहते है। इसीलिए उसकी वाणी, उसका उपदेश सापेक्ष होता है। वह 'ही' के स्थान मे 'भी' का प्रयोग करता है। निरपेक्ष वाक्य सदा ही हठ पर आधृत होता है अत वह विग्रह को पैदा करता है। सापेक्षवाद ससार के समस्त धर्मो, वादो और मान्यताओ के समन्वय की अव्यर्थ महौषधि है।

सच्चा साधु सममार्ग का राही होता है। वह किसी के भी धन, धान्य आदि का अपहरण नही करता क्योकि ये व्यक्ति के बाह्य प्राण होते है। कहा भी है 'अन्न वै प्राणा.', 'धन वै प्राणा:' आदि। इसलिए वह वन, श्मसान, शून्य गृह आदि मे निवास करता है।

समत्व के सेवी का अधिकाश समय ज्ञान के अर्जन, ध्यान अथवा तपस्या मे व्यतीत होता है। इधर-उधर की ऐसी चर्चाओ से वह अपना कोई सबध नही रखता, जिनका सबध आत्महित से न हो।

वह सब प्रकार अन्त और बाह्य परिग्रहो का त्यागी होता है। समधर्म का उपासक गृहस्थ भी बाह्य पदार्थों का सग्रह तो करता है किन्तु उनमे ममत्व भाव नही रखता। वह उसे राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है और आवश्यकता पर बेझिझक राष्ट्र को अर्पण कर देता है। महामात्य भामाशाह का इतिहास प्रसिद्ध कथानक इसका ज्वलन्त उदाहरण है। महावीर-काल मे आनन्द श्रावक भी इसी श्रेणी मे था। इसके लिए किसी दबाव अथवा कानून की आवश्यकता नही होती। यही सच्चा अहिसक समाजवाद है। पाश्चात्य समाजवाद मे यह कार्य कानून से तथा साम्यवाद मे हिसा से, जोर जबरदस्ती से सम्पन्न किया जाता है जबकि समता धर्म उपासको का यह समाजवाद अन्तस्फुरित होता है। वह जानता है कि सारी विषमताओ की जड यह परिग्रह ही है।

◆ ◆ ◆

७

समता के सोपान

□ श्री रतनलाल कांठेड़

पदार्थ-वोध से समता का ग्रहण .

अपने ग्रात्म स्वरूप को किस प्रकार से प्राप्त किया जावे, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया और मेरा वास्तविक स्वरूप व जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, यह प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासु को ही नही प्रत्युत प्रत्येक मानव—मस्तिष्क मे उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योकि जीवन के साथ मौत का प्रश्न मुँह वाये खडा रहता है ।

इस विषय मे ऋषि, मुनियो व महात्माओ ने आत्मा के विभिन्न पहलुओ पर भिन्न-भिन्न रूपको से अन्वेषण कर भिन्न-भिन्न पक्षो के माध्यम से आत्मा के रहस्योद्घाटन का उपक्रम किया है। उसका निष्कर्ष यह है कि आत्मा का आत्म तत्त्व के रूप मे अनुभव किये विना समभाव की अथवा समता-दर्शन की प्रतीति नही होती । आत्मा की सत्ता एक है, आत्मा अखड है, आत्मा के असंख्यात प्रदेश है, उसके एक प्रदेश का भी कभी त्रिकाल मे भी नाश नही होता, आत्मा के चैतन्य धर्म की सत्ता का कभी वाध नही होता । आत्मा ध्रौव्य उत्पाद व्यय लक्षण वाला है और 'सत्वेयस्य सत्त्व अन्वय यदभावे यदभाव. व्यतिरेक', अर्थात् जिसके सत्व से जिसका सत्व हो वह अन्वय हेतु होता है और जिसके अभाव से जिसका अभाव हो, उसे व्यतिरेक हेतु होता है, आत्मा का अस्तित्व होने से ज्ञान का अस्तित्व है, आत्मा नही वहाँ ज्ञान नही, जैसे जड वस्तुएँ अचेतन व ज्ञान रहित है, इस प्रमाण से आत्मा की सिद्धि अन्वय व व्यतिरेक से होती है । आत्मा है । आत्मा कर्म की कर्त्ता है, आत्मा ही भोक्ता है । इस प्रकार आत्मा ही कर्म को ग्रहती है, आत्मा ही कर्म को छोडती है । इसी से मोक्ष है और मोक्ष के उपाय है । इन तथ्यो पर विशेष विचार करके

विवेक ख्याति प्राप्त करने से आत्मानुभव होता है। निजात्मा का ज्ञान होने से बहिरात्म भाव का नाश होकर अन्तरात्मत्व प्रकट होता है।

इस प्रकार अपने मे आत्मा परमात्मपना अनुभव कर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने के लिये सतत अनासक्त होकर साधक जब समत्व (समता) भाव मे स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है तब वह अपने मे परमात्मपना सत्ता से रहा हुआ है, ऐसा देखता है। 'स्वय स्वतन्त्र, अखण्ड परमात्मा मै हूँ, क्योकि पर पुद्गलादि रज मात्र भी मेरे नही, न मै उनमे हूँ, असख्यात प्रदेश मे सत्ता से रहा हुआ वही मै हूँ, शेष सासारिक पर्याय रूप मै कभी भी अस्तिभाव से नही हूँ', ऐसे कहने पर शेष शरीर, धन आदि मै नहीं हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष हो जाता है। पुन: द्रव्य से आत्मा असख्य प्रदेश रूप नित्य है और ज्ञानादि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है, द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य, द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुव रूप और पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद व व्ययरूप, ऐसा आत्मरूप मै हूँ। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नित्य और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अनित्य ऐसा आत्मरूप मै हूँ, स्व से सत्तारूप और पर से असत्तारूप ऐसा आत्मा, वही मै हूँ, द्रव्य की अपेक्षा व्याप्त और ज्ञानादि पर्यायो की अपेक्षा से व्यापक अर्थात् 'विभु' ऐसा आत्मारूप मै परमात्मा हूँ, द्रव्य की अपेक्षा से गुण और गुण से अभिन्न तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथान्चित भिन्न ऐसा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यमय मै आत्मा हूँ। केवल ज्ञान, केवल दर्शन तथा क्षायिक चारित्र आदि जिसके गुण है', ऐसा परमात्मा वह मै हूँ। 'मै सोऽह हूँ', 'सोह' शब्द वाच्य मेरा आत्मा है, वही मै हू। उसके बिना शेष के सर्व जड धर्म मेरे नही, उनमे मेरापन नही, ऐसा दृढ निश्चयी, आत्मानुभवी, अनुभवज्ञानी, आनन्दघन स्वरूप को अपने मे ही सवेदन करता है, वह अपने आत्म वैभव से भौतिक बाह्य पदार्थो को स्व से परे निस्सार देखता है। ऐसा अनासक्त, ममत्वहीन, निस्पृही, निर्ग्रन्थ व निर्मोही कर्तव्याचरण करता हुआ भी आत्मलीन होता है और वही समता गुण मे प्रवेश का अधिकारी कहा जा सकता है।

विभाव का क्षय करने से समता-प्राप्ति :

इस प्रकार आत्म तत्त्व का ज्ञाता द्रष्टा ज्ञेय पदार्थों को जानता और देखता है। पर पदार्थो मे वह ज्ञायक तद्‌ाकार नही होता, आत्म ख्याति जागृत होने से वह अपनी विवेक ख्याति द्वारा हेय, ज्ञेय व उपादेय के भेदो मे प्रवेश करता है। यह जीव अनादिकाल से अज्ञानवश विभाव आश्रित होकर कर्म सचय करता हुआ देव, नारक, मनुष्य और तिर्यन्च गतियो मे भ्रमण करता हुआ, शुभ, अशुभ, पाप-पुण्य-रूप पर्याये करता हुआ आपही कर्त्ता व आपही भोक्ता है। 'मन एव मनुष्याणा कारण बध मोक्षया' ऐसा गीताकार ने भी कहा

है। सत्ता की प्रतीति के अज्ञान वश पर पदार्थ मे आसक्त जीव गतियों मे सुख-दुःख का, साता-असाता का वेदन करता हुआ, भव-भव मे भटकता है, किन्तु उस अव्याबाध सुख को प्राप्त नही कर पाता जिसे पचम गति रूप मोक्ष कहते है। वैभाविक गुण जीव की अनादि योग्यता हेतु रूप है, वही कर्म बध का कारण है और वही गति कराता है। यदि ऐसा नही हो तो कर्त्ता और भोक्ता का तथा कर्म और बध का व ससार और मोक्ष का प्रश्न ही न हो; तब शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, शुद्ध-अशुद्ध व स्वभाव और विभाव का तथा त्याग-ग्रहण, जप-तप अनुष्ठान, सद्-असद् आदिका भी प्रश्न न रहेगा।

वस्तुत जीव परिणामी स्वभाव युक्त होने से ज्ञान चेतना युक्त है। वह पौद्गलिक पदार्थो को असत्ता रूप जानकर त्यागता है, तभी विभाव से स्वभाव मे प्रविष्ट होता है। जिस-जिस अश मे विभाव का त्याग करता है, उस-उस अश मे जीव परिणाम शुभाशुभ व अशुद्ध-शुद्ध कहलाते है। इन जीव के परिणाम रूप अध्यवसायो मे जीव का शुभ-अशुभमय, पाप-पुण्यमय तथा शुद्ध-अशुद्ध का मूल्याकन होता है जिन्हे जैनागमो मे १४ गुणस्थान रूप सोपानो से जाना जाता है। इसी से समता गुण के ग्रहण व अभिवर्धन का अनुमान प्रमाण होता है। ज्यो-ज्यो गुणस्थान चढता है, त्यो-त्यो जीव समता शिखर की ओर बढता है, एतदर्थ चौथे गुणस्थान जिसे अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहा है, उसमे नीचे के तीन मिथ्यात्व गुणस्थान छूटते हैं अर्थात् जीव और अजीव का सम्यक् बोध हो जाता है, किन्तु पुरुषार्थ की दृढता ऊपर के सद् आचरण रूप व्रत ग्रहण, अशुभ का त्याग, शुभ, पुण्य ग्रहण अवस्था है, किन्तु सम्यग् प्राप्त गुणी छठे मुनि गुणस्थान के मनोरथ को सदैव लक्ष मे रखता है।

आगार व अणगार धर्म

भगवान् महावीर स्वामी ने करुणार्द्र होकर, आगार धर्म और अणगार धर्म की व्यवस्था कर, चतुर्विध सघ की स्थापना की है तथा १५ प्रकार से सिद्ध होने की घोषणा की है, जिसमे गृहलिंग सिद्ध भी मान्य है। अभिप्राय यह है कि अनादिकालीन, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि १८ विभाव रूप पापो से परिमुक्त होनेके लिये तद्नुरूप पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान की सिद्धि होने पर सम्यग् आचरण स्वाभाविक रूप मे आता है। ऐसा न होना पुनः ज्ञान की श्रेणी मे आकर श्रावक अथवा साधक नीचे के गुणस्थानो मे भटक जाता है, जहाँ पूर्ण दृढ श्रद्धान रूप समता का ग्रहण नही माना जाता। जीव अगुरु-लघु स्वभावी अर्थात् हानि-वृद्धि रूप परिणामो का अभ्यासी है। अत यथाकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणादि, पाच करण का आगमो मे विधान है।

दर्शन ज्ञान चारित्र भी निश्चय और व्यवहार के भेदो से दो प्रकार का

है, किन्तु बाह्याभ्यान्तर शुद्धि के आशयो से अनेकात दृष्टि से सापेक्ष कर अपनी स्थिति व पुरुषार्थ के आधार से इन पर सम्यक् विचार करना ही दोनो नयो का ग्रहण है और वही स्याद्वाद न्याय से यथातथ्य सिद्ध होता है । अस्तु, अपना आत्मावलोकन कर आत्म-शुद्धि हेतु समता-प्राप्ति अथवा गुण श्रेणी मे बाधक आचरणो से आँखे मूद कर ज्ञान का दावा करना हास्यास्पद है। यश, कीर्ति, मान, सन्मान अभिमान, लोकैषणादि का मोह, निर्ग्रन्थ, ममत्व के त्यागी साधक साधु को द्रव्यलिगी की श्रेणी मे ला पटकता है तो ससार व्यस्त श्रावको का अनासक्त आचरण किस धरातल पर है, इसका मूल्याकन करना तो एक टेढी खीर ही हो सकेगा, अत आगम प्ररूपित ६ आवश्यक का आदर कर, श्रावक को ५ अणुव्रत धर्म और १२ प्रकार के श्रावक धर्म का आचरण विभाव मुक्ति मे पूर्णरूपेण अगीकृत करने योग्य है। वह पाचवे गुणस्थान को, समता गुण को दृढ करता-करता यदा-कदा ऊपर भी पहुँच सकता है तथा छठे गुण-स्थान का मुनि छद्मस्थ व प्रमत्त माना गया है, इसलिये भगवान् महावीर ने गणधर गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर मे "समय गोयम मा पमाए" कहा। यदि तुमने षटद्रव्य और नौ तत्त्वो के भेद को नय-निक्षेप व अनुमान-प्रमाणादि से सम्यग् प्रकार जान लिया हो तो एक समय (क्षण) मात्र का भी प्रमाद न करो, अर्थात् विभाव का त्याग कर दो। ऐसा जानकर मुनि इस काल मे भी सातवे अप्रमत्त गुण को प्राप्त हो जाता है जहाँ समता गुण नीचे के गुण स्थानो मे असख्याता गुणा अधिक दृढ होता है ।

यहाँ समता अतिबलवान रूप मे आरूढ होती है। यहाँ अनेकानेक कर्म के दलिये आश्रव द्वार के बद होने से रुक जाते है तथा अपूर्व सवर भाव से पूर्व सचित कर्म निर्जरित हो जाते है तथा पुनर्बंध रुक जाते है, तब ज्ञाता, शुभाशुभ बधो को हेय जानकर त्यागता है और वह अन्तर रमण मे मग्न अप्रमत्त साधु शुद्ध अध्यावसाय रूप परिणामो से शुद्धतर व शुद्धतर से शुद्धतम की ओर प्रयाण कर सकता है। काल लब्धि पकने पर शुक्ल ध्यान से यथाख्यात चारित्र के बल से शैलेशीकरण योग मे तब मुक्त दशा, मोक्षधाम की प्राप्ति रूप समभाव रूप समता शिखर को प्राप्त करता है। किन्तु, इससे पूर्व क्षयोपक्षम भाव से सोपान चढने का पुरुषार्थ दृढ होना अनिवार्य है। इसलिये आगमो की व गुरु की शरण लेना, मार्ग मे बढने का एकमात्र उपाय है, क्योकि अनादिकालीन कर्म के कारणो का उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक के भेद मे प्रवेश कर, श्रावक धर्म व साधु धर्म के धरातल मे कर्मक्षय का उपाय करना चाहिये ।

कर्मक्षय मे समता सहज है :

यदि विभाव को जान लिया तो स्वभाव मे लीन अध्यात्मज्ञानी को कर्माश्रव का द्वार खुला रखना अभिप्रेत नही होता, प्रत्युत् निर्जरा गुण का वेग

बढता जाता है जिससे अनत काल के अनत कर्म झडने लगते है। सवर मे अनुरक्त, अनासक्त योगी यह जानता है कि ससार मे सशरीरी मनुष्यो को सयोग-वियोग रूप पदार्थो मे इष्ट-अनिष्ट रूप अध्यवसायो के कारण आर्त व रौद्र ध्यान उत्पन्न होते है और ये विभाव रूप है। विषय कषायो मे आसक्ति अथवा ममत्ववश जीव के लेश्या परिणाम विकृत बनते है जो नील, कृष्ण रूप-हिसा क्रोधादि से आबद्ध है। रोग-चिता, अग्रसोच, हिसानुवन्धी रौद्रध्यान, मृषानुवन्धी रौद्रध्यान, स्तेयानुवन्धी रौद्रध्यान, और परिग्रहानुवन्धी रौद्रध्यान, ये चारो पापमय कालिमा युक्त है। कर्मो की विचित्र गति है। कर्म मूल आठ प्रकार के है। कर्मो की १५८ प्रकृतियाँ है। एक बार का किया हुआ पाप दश गुणा विपाक देता है जिसमे कर्मोदय के समय उपयोग नही रखा जावे तो अन्य कर्म बधते है और इस प्रकार कर्म-परम्परा बढती है। मूल कर्म अल्प होते है और वे साता-असाता के वेदन मे अत्यधिक हो जाते है। उस समय वह आत्मा राग-द्वेष मे परिणत होती है और बधती है। स्वजनो का मोह, पिता-पुत्र, स्त्री-मातादि का कौटुम्बिक मोह, शरण-अशरण आदि सात भय व उनमे आसक्ति, धन, वैभव, मकान, वाहन का मोह, मानापमान, यश, कीर्ति का मोह, इस प्रकार कर्म बध की स्थिति, मन, वचन व काया के योगो मे वृद्धि को प्राप्त होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व चारित्र की २८ प्रकृतियो के बध तथा पुण्य बध ये आस्रवरूप लोहे व सोने की बेडी रूप ससार के दु ख-सुख रूप माने जाने से बध है। अत ऊपर के स्थान मे पुण्य भी हेय है। इस भेद को जानने से समता का भेद ज्ञान होता है। ससार के सुखादि सुखाभास है। अज्ञानी वेदन करता है, वह बाधता है। ज्ञानी साता-असाता को भ्रमजाल जानकर, समभाव मे स्थिर-स्थित होता है। वही समता के महान् तत्त्व का ज्ञाता होकर मोक्ष मार्ग का राही बनता है। स्व-पर का भेदज्ञान कर्मो के कार्यकलापो से समझ लेने वाला पुरुष उस अभेद स्वरूप का ज्ञाता होता है। वही समता-ग्रहण की भूमिका का अधिकारी है।

आत्म उपयोग ही सम भाव है :

अज्ञानी बाल जीव दया के पात्र है। अज्ञान ही अधकार है, ज्ञान ही प्रकाश है, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् अधकार मे प्रकाश की ओर बढे चलो। जाति की अपेक्षा, सामान्य नय से, सभी जीवात्माएँ समान है। उनमे व हममे समानता है। विशेष नय की अपेक्षा सभी जीव अनेकानेक व स्वतन्त्र है अपनी-अपनी सत्ता मे है व कर्मो से तिर्यन्च नारकादि जाति धारण करते है। सभी जीवात्मा सुखाभिलाषी है मानव विकासशील प्राणी है। उसमे विवेक व विचार शक्ति है। वह बुद्धि प्राप्त है। मानव भव दुर्लभ है। देवता भी इस भव हेतु लालायित रहते है। परन्तु मानव जीवात्मा प्रत्येक जीव मे बन्धुत्व स्थापित करे उसे सुख दे अर्थात् अभय प्रदान करे जैसा हम अपने लिये चाहते है। इस प्रकार करुणा मन से करतो तो अभय करने से स्वय अभय व निर्भय बना जाता

श्रेणी मे आरूढ कहा जा सकता है। इस हेतु अन्तर तपो मे स्वाध्याय, ध्यान व कायोत्सर्ग मे उनके भेदो मे प्रवेश कर, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशरण, अशुचि आदि भावनाओ का निरन्तर चिंतनमनन व आचरण आध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक है। ज्ञान प्राप्त करना मानव का चरम व परम लक्ष्य है। वह समता प्राप्ति की प्रथम भूमिका रूप है।

अज्ञानी अल्प कार्य शुरू करते है और अत्यधिक व्याकुल होते है। शेक्सपीयर ने लिखा है, 'अज्ञान ही अन्धकार है।' प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा—'अज्ञानी रहने से जन्म न लेना ही अच्छा है,' क्योकि अज्ञान समस्त विपत्तियो का मूल है। चाणक्य ने कहा था, 'अज्ञान के समान मनुष्य का और कोई दूसरा शत्रु नही है।' इस प्रकार अज्ञान जीवन का सबसे बडा अभिशाप है। गीताकारने कहा है—

'नही ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते।'

अर्थात् इस ससार मे ज्ञान के समान और कुछ पवित्र नही है। ज्ञान बहुमूल्य रत्नो से अधिक मूल्यवान है। और भी कहा है—

यर्थधासि समिद्धोग्नि भस्मसात्कुर्तेर्जुन।
ज्ञानाग्नि सव कम्माणी भस्मसात कुरुते यथा ।।

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि सब भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मो को जलाकर नष्ट कर देती है। ज्ञानी कर्म मे लिप्त व आसक्त नही होता वरन् तटस्थ, नि स्पृह, निष्काम भाव से अपने कर्म मे लगा रहता है, इसलिये वह कर्म-बधनो से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मोह, कीर्ति, यश-अपयश से परे अपने ज्ञान बल से बहिरात्म भाव को त्याग कर, वीतराग भाव को, समता गुण को ग्रहण कर वह समदृषि जीव, समता शिखर का राही, इहलोक और परलोक के सुख को प्राप्त कर, अव्याबाध सुख मे आत्मरमण करता हुआ, परमात्म पद को प्राप्त कर, विश्ववद्य के पद पर सुशोभित होता है।

८
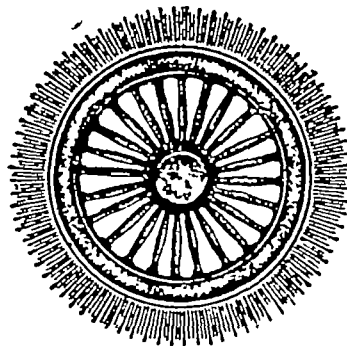
समरसता : ब्रह्मांड का मधु

□ डॉ० वीरेन्द्रसिंह

विज्ञान की यह एक मान्यता है कि प्राकृतिक नियमों का संतुलन ही प्रकृति का ऐसा सत्य है जो प्रकृति और ब्रह्मांड के रहस्य को समझने में सहायक होता है। यह बात केवल विश्व के लिए ही नहीं पर मानव जीवन के संदर्भ में भी सत्य है। धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा साहित्य—इन सभी ज्ञान-क्षेत्रों ने प्रकृति और विश्व के इसी सत्य को अपनी-अपनी पद्धतियों के द्वारा 'अनुभव' करने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर 'पद्धति' शब्द का जो प्रयोग किया गया है, वह इसलिए कि प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र की अपनी अनुभव पद्धति होती है। धर्म की अनुभव-पद्धति विश्वास और अनुभूति पर अधिक आश्रित है जबकि दर्शन की अनुभव-पद्धति तर्क और विश्लेषण पर अधिक आधारित है। कहने का अर्थ यह है कि ज्ञान-क्षेत्रों के अनुशीलन से यह सत्य प्रकट होता है कि प्रकृति, मानव, ब्रह्मांड सभी क्षेत्रों में एक सन्तुलन और समरसता (Harmony) की आवश्यकता होती है, नहीं तो प्रकृति में अव्यवस्था और असन्तुलन व्याप्त हो जायेगा। इसी असन्तुलन को 'समरसता' के द्वारा दूर किया जाता है। समरसता में घटकों का सह-अस्तित्व रहता है अथवा आपस में सन्तुलन बनाए रखने के लिए सहकारिता का आधार ग्रहण करना होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो योगी की समाधि अवस्था भी इसी समरसता के नियम पर आधारित है। जैन-दर्शन के समवसरण को इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने से यह स्पष्ट होता है कि [illegible] की अन्तर्गति समत्व भाव में अन्तर्निहित रहती है।

आइन्स्टाइन का सापेक्षवादी सिद्धान्त भी इसी तथ्य को एक अन्य आयाम देता है। सापेक्षवाद [illegible] ऐसा [illegible] है जो [illegible] के लिए [illegible] ([illegible]) की सापेक्षता को मानता है। सत्य का स्वरूप भी सापेक्ष है, वह

निरपेक्ष नही है । आइस्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष मानते हुए उनके आपसी सम्बन्धो की समरसता को चतुर्आयामिक दिक् काल की अवधारणा मे निहित माना है । सापेक्ष प्रत्यय की धारणा मे 'समरसता' का स्थान इसी दृष्टि से है और समस्त प्रकृति और ब्रह्माड इसी पूर्व-स्थापित समरसता (Pre-established Harmony) के नियम से परिचालित है । आइस्टाइन के इस 'प्रत्यय' का एक विशेष सदर्भ है । यह सदर्भ सौन्दर्य-बोध से सम्बन्धित है । वैज्ञानिक एव दार्शनिक का सौन्दर्य-बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता तथा समरसता मे निहित है । आइस्टाइन के शब्दो मे "विश्व के अतराल मे वह एक पूर्व स्थापित सामरस्य के सौन्दर्य को कार्यान्वित देखता है ।"

प्रकृति और विश्व की सरचना जहाँ एक ओर सृजन-शक्तियो से परिचालित होती है, वही वह सतुलन-शक्तियो के द्वारा भी शासित रहती है । सृजन, सतुलन और विलय (या सहार) की तीनो शक्तियाँ, प्रकृति और विश्व मे 'समरसता' को मान्यता देती है अथवा दूसरे शब्दो मे, विश्व का सचालन इन्ही शक्तियो की समरसता के द्वारा ही होता है । धर्म तथा दर्शन मे इस सत्य को अनेक प्रत्ययो के द्वारा व्यक्त किया गया है । त्रिमूर्ति तथा अर्धनारीश्वर की अवधारणाएँ इसके सुन्दर उदाहरण है ।

ब्रह्म की शक्तियो का विकास हमें त्रिमूर्ति की धारणा मे प्राप्त होता है । ब्रह्म की तीन मात्राएँ अ, उ और म का अर्थ उपनिषद् साहित्य मे दिया गया है जो समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है । 'अ' सृजन-शक्ति का प्रतीक है जो आगे चलकर 'ब्रह्मा' की धारणा को व्यक्त करता है । 'उ' सतुलन का प्रतिरूप है जो पुराणों मे 'विष्णु' का रूप हो गया और 'म' विलय या सहार का प्रतीक है जो शिव की भावना को विकसित कर सका । इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अन्योन्याश्रित सवाद को त्रिमूर्ति के द्वारा व्यक्त किया गया है । प्रकृति और विश्व की सरचना मे इन तीनो शक्तियो का समान रूप से महत्त्व है क्योकि इनमे से किसी की भी अनुपस्थिति विश्व के सतुलन को, उसकी समरसता को भग कर सकती है ।

पाश्चात्य विचारधारा मे भी त्रिमूर्ति (Trinity) की कल्पना की गयी है क्योकि यहाँ पर ज्यूपीटर ब्रह्मा का, नैपच्यून विष्णु का और प्लूटो शिव का प्रतिरूप है । यह तथ्य यह प्रकट करता है कि धर्म ने भी विश्व की शक्तियों का दैवीकरण कर उन्हे एक साकार रूप दिया है और त्रिमूर्ति इसका एक सुन्दर उदाहरण है । इसी प्रकार मानव जीवन मे नर और नारी की समरसता को आवश्यक माना गया जिसका साकार रूप अर्धनारीश्वर है जो शिव और शक्ति का एक सम्मिलित रूप है ।

यहाँ पर एक अन्य विचारधारा की ओर संकेत करना आवश्यक है। यह है कि मत का समरसता सिद्धान्त जो शिव और शक्ति की समरसता में आनन्द की उत्पत्ति मानता है। आनन्द की अवधारणा में समरसता का एक विशेष स्थान है। 'आनन्द' दो या दो से अधिक विरोधी तत्त्वों के मध्य में एक प्रकार की समरसता का ही फल है। समाज की समरसता व्यक्ति और समूह की समरसता है। जड़ और चेतन की समरसता ही आनन्द की चेतना है। व्यक्ति उसी समय 'आनन्द' प्राप्त कर सकता है जब मन और बुद्धि में समरसता हो। यही कारण है कि 'शिव' की प्रतिमा को एक समाधिस्थ योगी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। शिव का यह योगी रूप अन्तर और बाह्य की समरसता का परम प्रतीक है जहाँ आभ्यन्तर और बाह्य का अन्तर ही समाप्त हो जाता है और सर्वत्र एक 'चेतना' का स्वरूप रह जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म, दर्शन और साहित्य में समरसता का कोई-न-कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी समरसता या सन्तुलन के महत्त्व को माना गया है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' एक ऐसा काव्य है जिसमें सर्जनात्मक धरातल पर उपर्युक्त विचार-दर्शन को स्थापित किया गया है। धर्म, दर्शन, विज्ञान और द्वन्द्वात्मकता—सभी दृष्टियों से 'कामायनी' का अपना विशेष महत्त्व है क्योंकि 'कामायनी' जहाँ एक ओर समरसता के सिद्धान्त को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है, वहीं वह विज्ञान-बोध तथा अनेक विचारधाराओं को एक रचनात्मक संदर्भ प्रदान करती है। समरसता प्रकृति और विश्व का 'मधु' है—एक ऐसा सत्य जिसके बिना ब्रह्माण्ड और मानव-जीवन की अस्मिता ही खतरे में पड़ जाए।

निरपेक्ष नहीं है। आइंस्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष मानते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्धों की समरसता को चतुर्आयामिक दिक् काल की अवधारणा मे निहित माना है। सापेक्ष प्रत्यय की धारणा मे 'समरसता' का स्थान इसी दृष्टि से है और समस्त प्रकृति और ब्रह्माड इसी पूर्व-स्थापित समरसता (Pre-established Harmony) के नियम से परिचालित है। आइंस्टाइन के इस 'प्रत्यय' का एक विशेष संदर्भ है। यह संदर्भ सौन्दर्य-बोध से सम्बन्धित है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक का सौन्दर्य-बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता तथा समरसता मे निहित है। आइंस्टाइन के शब्दो मे "विश्व के अंतराल मे वह एक पूर्व स्थापित सामञ्जस्य के सौन्दर्य को कार्यान्वित देखता है।"

प्रकृति और विश्व की संरचना जहाँ एक ओर सृजन-शक्तियो से परिचालित होती है, वही वह संतुलन-शक्तियो के द्वारा भी शासित रहती है। सृजन, संतुलन और विलय (या संहार) की तीनो शक्तियाँ, प्रकृति और विश्व मे 'समरसता' को मान्यता देती है अथवा दूसरे शब्दो मे, विश्व का संचालन इन्ही शक्तियो की समरसता के द्वारा ही होता है। धर्म तथा दर्शन मे इस सत्य को अनेक प्रत्ययो के द्वारा व्यक्त किया गया है। त्रिमूर्ति तथा अर्धनारीश्वर की अवधारणाएँ इसके सुन्दर उदाहरण है।

ब्रह्म की शक्तियो का विकास हमे त्रिमूर्ति की धारणा मे प्राप्त होता है। ॐ की तीन मात्राएँ अ, उ और म का अर्थ उपनिषद् साहित्य मे दिया गया है जो समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। 'अ' सृजन-शक्ति का प्रतीक है जो आगे चलकर 'ब्रह्मा' की धारणा को व्यक्त करता है। 'उ' संतुलन का प्रतीक है जो पुराणो मे 'विष्णु' का रूप हो गया और 'म' विलय या संहार का प्रतीक है जो शिव की भावना को विकसित कर सका। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अन्योन्याश्रित संवाद को त्रिमूर्ति के द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रकृति और विश्व की समरसता मे इन तीनो शक्तियो का समान रूप से महत्त्व है क्योंकि इनमे से किसी की भी अनुपस्थिति विश्व के संतुलन को, उसकी समरसता को भंग कर सकती है।

[illegible] (Trinity) की कल्पना की गयी है [illegible] विष्णु का और रुद्र शिव का [illegible] धर्म ने भी विश्व की शक्तियो का [illegible] दिया है और त्रिमूर्ति उसका एक सुन्दर [illegible]। इसी प्रकार मानव जीवन मे नर और नारी की समरसता को [illegible] अर्धनारीश्वर है जो शिव और शक्ति [illegible] है।

यहाँ पर एक अन्य विचारधारा की ओर संकेत करना आवश्यक है। यह है कि शैव मत का समरसता सिद्धान्त जो शिव और शक्ति की समरसता से आनन्द की उत्पत्ति मानता है। आनन्द की अवधारणा में समरसता का एक विशेष स्थान है। 'आनन्द' दो या दो से अधिक विरोधी तत्त्वों के मध्य में एक प्रकार की समरसता का ही फल है। समाज की समरसता व्यक्ति और समूह की समरसता है। जड़ और चेतन की समरसता ही आनन्द की चेतना है। व्यक्ति उसी समय 'आनन्द' प्राप्त कर सकता है जब मन और बुद्धि में समरसता हो। यही कारण है कि 'शिव' की प्रतिमा को एक समाधिस्थ योगी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। शिव का यह योगी रूप अन्तर और बाह्य की समरसता का परम प्रतीक है जहाँ आभ्यन्तर और बाह्य का अन्तर ही समाप्त हो जाता है और सर्वत्र एक 'चेतना' का स्वरूप रह जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म, दर्शन और साहित्य में समरसता का कोई-न-कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी समरसता या सन्तुलन के महत्त्व को माना गया है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' एक ऐसा काव्य है जिसमें सर्जनात्मक धरातल पर उपर्युक्त विचार-दर्शन को रूपान्तरित किया गया है। धर्म, दर्शन, विज्ञान और द्वन्द्वात्मकता—सभी दृष्टियों से 'कामायनी' का अपना विशेष महत्त्व है क्योंकि 'कामायनी' जहाँ एक ओर समरसता के सिद्धान्त को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है, वहीं वह विज्ञान-बोध तथा अनेक विचारधाराओं को एक रचनात्मक संदर्भ प्रदान करती है। समरसता प्रकृति और विश्व का 'मधु' है—एक ऐसा सत्य जिसके बिना ब्रह्माण्ड और मानव-जीवन की अस्मिता ही खतरे में पड़ जाए।

६

समता : व्यक्ति और समाज के संदर्भ में

☐ श्री शान्तिचन्द्र मेहता

प्रकृति की गोद से एक बालक नग्न जन्म लेता है, किन्तु बालक की माता उसे वस्त्र पहनाती है—अन्य प्रकार से सजाती और सवारती है। इसे ही सस्कारिता कहते है। सस्कार वे, जो ससर्ग से प्राप्त होते है। प्रकृतिदत्त प्रतिभा एक बात होती है तो सस्कारजन्य गुण उस प्रतिभा को सन्तुलित एव समन्वित बनाते है। एक मेहदी का पौधा जगल मे लगता है जिसे कोई काटता-छांटता नही तो वह बदरूप और बेडोल तरीके से बढता जाता है, परन्तु यदि वही पौधा किसी उद्यान मे है तो उसे समान रीति से काट छांटकर व्यवस्थित ही नही बनाते, बल्कि उससे विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाकर उसे सुन्दर तथा दर्शनीय भी बना देते है। प्रकृति उसे पल्लवित करती है, किन्तु मनुष्य उस पौधे को इस रूप मे सस्कारित बनाकर सुदर्शनीय बना देता है।

कृति प्रकृति की : सुघड़ता मनुष्य की !

सस्कार जैसे भी हों, वे एक प्रकार की संस्कृति का निर्माण करते है। श्रेष्ठ सस्कारो से जिस प्रकार की संस्कृति का तत्कालीन समग्र वातावरण के प्रभाव में जो निर्माण होता है, वस्तुत· उसे ही संस्कृति का नाम दिया जाता है तथा वैसी संस्कृति अपनी प्रभावोत्पादकता के अनुसार जन समुदाय का भावी मार्ग-दर्शन करती रहती है।

मनुष्य स्वय प्रकृति की कृति माना जाता है और इसी प्रकार ज्ञान एव विज्ञान की सारी उपलब्धियाँ मूलत: प्रकृति की ही देन होती है, फिर भी मनुष्य अपनी चेतना शक्ति से स्वय

का तथा ज्ञान, विज्ञान एवं पदार्थों का जो विकास सम्पादित करता है, वह अवश्य ही उन की निर्मातृ शक्ति का सुफल माना जाना चाहिये। यह निर्मातृ शक्ति उसके युग की तथा उसकी स्वयं की संस्कारिता पर ही आधारित होती है। मनुष्य जीवन जिस प्रकार चेतन एवं जड़ शक्तियों का सम्मिलित एवं समन्वित रूप होता है, उसी प्रकार मनुष्य अपनी संस्कृति से संसार की समस्त चेतन एवं जड़ शक्तियों को प्रभावित भी बनाता है।

संसार के महापुरुष अपने विशिष्ट जीवन निर्माण के बल पर सुसंस्कारों की ऐसी अजस्र धारा प्रवाहित करते हैं जो एक उन्नायक संस्कृति का स्वरूप धारण करके एक नई सभ्यता को जन्म देती है और ऐसी सभ्यता सम्पूर्ण मानव-जाति का आने वाले कई युगों तक पथ निर्देश करती है। ऐसा दर्शन-प्रवाह और उसके सिद्धान्त-मौक्तिक मानव मन को शान्ति व सुख प्रदान करते हैं। ऐसे सिद्धान्तों का शिरोमणि है समता का सिद्धान्त, जिसके अनुसरण से व्यक्ति एवं समाज के जीवन में समरसता का संचार किया जा सकता है।

समता की संकल्प-धारा एवं मानव संस्कृति का विकास :

विश्व के प्राणी समूह में सर्वाधिक विवेकशील प्राणी मनुष्य होता है और इस दृष्टि से वह केवल प्रकृति की ही लीक पर नहीं चलता, बल्कि उस लीक को सुधारता और बदलता भी है। प्रकृति ने आकृति, ध्वनि या स्वभाव में किन्हीं भी दो मनुष्यों को समान नहीं बनाया, किन्तु मनुष्य के मन में प्रारम्भ से यह भावना जगी कि वातावरण तथा व्यवहार में सामान्य रूप से उसके और उसके साथियों के बीच समानता बने और बनी रहे।

मानव जाति के विकास के वैज्ञानिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि समता की संकल्प-धारा मनुष्य के मन में बहुत पहले फूटी तथा उस धारा को वेगवती बनाने के लिये वह निरन्तर संघर्ष करता चला आ रहा है। आदिम मानव को मुख्य रूप से प्रकृति का आश्रय जब तक प्राप्त था उस समय सहज स्वभाव युग था और सामान्य रूप से सबके बीच समानता का ही वातावरण था। किन्तु जब मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिये अपना ही प्रयत्न करना पड़ा तो उस समानता के वातावरण में व्यवधान पैदा होने लगे।

विभीषिकाओ मे मनुष्य को उलझाया है तो दूसरी ओर ज्ञान एव विज्ञान के क्षेत्रो मे मानव-मस्तिष्क को इतना विकसित भी बनाया है कि वह अपने समता-सकल्प को सुदृढ बनाकर कार्यान्वित करे तो व्यक्ति एव समाज मे नवनिर्माण की पृष्ठभूमि को पुष्ट भी बना सकता है।

आज तक की मानव सस्कृति के विकास मे मनुष्य की समतामय सकल्प धारा ने अपूर्व योगदान किया है। सासारिक क्रियाकलापो मे राजनीति, अर्थ-नीति एव समाजनीति की त्रिवेणी बडा असर डालती है और इस दिशा मे आगे बढते रहने के लिए मनुष्य बराबर जूझता रहा है। राजतत्र के विरुद्ध लोकतत्र की स्थापना का इतिहास छोटा नही है। विभिन्न देशो मे जनता ने लोकतत्र की वेदी पर बहुत बलिदान किया है और राजनैतिक क्षेत्र मे मताधिकार एव शासन सचालन के रूप मे समानता की प्रतिष्ठा की है। अब उसी लोकतत्र को जीवन पद्धति का रूप देकर आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रो मे जो प्रमुखता दी जाने लगी है, उसका एक मात्र अभिप्राय यही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच न सिर्फ राज-नीति के क्षेत्र मे, बल्कि समग्र रूप से वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन मे सभी प्रकार के भेदभावो की दीवारे टूट जाय तथा समता का वातावरण प्रसारित हो जाय।

भारतीय सस्कृति मे समता के बीज रहे हुए है और चू कि उनका मूल उद्गम स्थान आध्यात्मिक स्रोत रहा है, वे अपने प्रभाव के न्यूनाधिक होते रहने के बाद भी फिर-फिर फूटते है और पल्लवित होते है। भारत मे श्रमण सस्कृति की यह प्रमुख विशेषता रही है और इस सस्कृति ने मानव सभ्यता के विकास मे पर्याप्त रूप से सबल सहयोग दिया है।

व्यक्ति के लिये समता का मार्मिक मोल :

यह मनुष्य के मन की प्रकृतिदत्त वाछित वस्तुस्थिति है कि वह सबके सामने सबके समान समझा जाय। सस्कारो की बात यह है कि वह भी सबको समान समझे और सबको अपने अनुरूप माने। सस्कारहीनता हम उसे कहते है कि वह सबको अपने समान समझने मे चूक करता है। समुन्नत सस्कृति का प्रभाव यह होना चाहिये कि वह इस चूक को सुधारे।

वस्तुत: समाज व्यवस्था का आधार अर्थ होने के कारण व्यक्ति का विचार व आचार भी अधिकाशत. अर्थमूलक बन जाता है। इससे मनुष्य की प्रत्येक वृत्ति एव प्रवृत्ति पर स्वार्थ छाया हुआ रहता है। कई बार वैचारिक दृष्टि प्रबुद्ध हो जाने पर भी वह स्वार्थ को अपने आचरण से नही हटा पाता है और उसके व्यवहार मे दोहरापन आ जाता है। जीवन के दोहरे मानदड अति मायावी हो जाते है। इसी मानसिकता का कुपरिणाम होता है कि वह अपने

यही भावना है कि समाज के सभी राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों मे समानता पैदा हो। यह सर्वमान्य स्थिति बन गई है कि अर्थ के प्रभाव से मनुष्य-मन को जितना मुक्त किया जा सकेगा और वाह्य वातावरण के अर्थाधार को जितना कम किया जा सकेगा, उतनी ही समानता सबके वीच गहरी हो सकेगी। चाहे गाधीवाद को ही ले ले—आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के पीछे उसका भी यही ध्येय है। अर्थ का केन्द्रीकरण एव अर्थ सचालन की शक्ति जितने कम हाथो मे सिमटती है, स्वार्थ की भावना सब मे उतनी ही भयावह बनती जाती है। इस दृष्टि से समाज व्यवस्था मे आमूल चूल परिवर्तन के उपाय चल रहे है जिनके माध्यम से आर्थिक विषमता कम करने और सबके लिये मूलभूत आवश्यकताओ को पूरी करने की चेष्टा है। ये उपाय जितने सफल होते जायेंगे, मानना चाहिये कि उस रूप मे बाहर की समता प्रतिष्ठित होती जायगी।

परन्तु समता भीतर मे हो—यह सभी स्थितियो मे आवश्यक है। भीतर की समता को ही हम वैचारिक समता और उससे भी ऊपर आध्यात्मिक समता की सज्ञा देते है। मन मे समता का अनुभाव जव समाविष्ट हो जाता है तो वही अनुभाव वाणी और कर्म मे उतर कर बाहर की समता का एक ओर सृजन करता है तो दूसरी ओर आन्तरिक समता को सभी क्षेत्रो मे प्रोत्साहित बनाता है। यह भीतर की समता पकडी नही जाती, बाहर से बनाई नही जाती, बल्कि साधी जाती है। विचार और आचार की निरन्तर साधना से ही भीतर की समता पैदा होती और पनपती है। जो एक बार भीतर की समता का शान्ति एव सुखमय रसास्वादन कर लेता है, वह फिर उस समता के सरक्षण एव सवर्धन से विलग कभी नही होता।

आन्तरिक समता जब भीतर मे पुष्ट बनकर बाहर प्रकट होती है तो वही करुणा, दया, सहानुभूति, सौहार्द्र, सौजन्य, सहयोग आदि सहस्र धाराओ मे प्रसारित बनकर सम्पूर्ण विश्व के समस्त प्राणियो के लिये मगलमय बन जाती है। वह कोटि-कोटि हृदयो को सुखद स्पर्श देती है तो उनमे सुखद परिवर्तन लाने की प्रेरणा भी। तब समता बाहर और सनता भीतर समान रूप से निखर जाती है।

समता का संचार—व्यक्ति और समाज के सदर्भ में :

व्यक्ति-व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है और व्यक्तियो का सामूहिक सगठन ही तो समाज कहलाता है। इस रूप मे व्यक्तियो का चारित्र्य ही सामाजिक चारित्र्य के स्वरूप मे प्रतिबिम्बित बनता है। इसके बावजूद भी व्यक्ति की एकाकी शक्ति से उसकी सामूहिक शक्ति का एक पृथक् प्रकार से अवश्य ही विकास हो जाता है। एकाकी शक्ति का आधार जहाँ स्वेच्छा होती

है जो बिगड़ और बदल भी सकती है, किन्तु सामाजिक शक्ति (सामूहिक शक्ति) का आधार कुछ ऐसे नियत एवं निश्चित नियमोपनियम बनते हैं, जिन्हें तोड़ना या बदलना एक व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। इस सामूहिक शक्ति को हम सामाजिक अनुशासन कह सकते हैं।

व्यक्ति की शक्ति से भिन्न यह सामाजिक शक्ति व्यक्ति को ही मुख्य रूप से नियन्त्रित एवं सन्तुलित बनाये रखती है। व्यक्ति सही रास्ते से नहीं भटके और उस रास्ते पर बेरोकटोक आगे-से-आगे बढ़ता हुआ चल सके—यही इस सामाजिक शक्ति का सम्बल उसे मिलना चाहिये।

तो व्यक्ति और समाज के संदर्भ में जब समता के संचार की बात हम करें तो उस रूप में पृष्ठभूमिका को हम समझ लें। एक भौतिक-दार्शनिक हॉब्स ने कहा था कि "मैन इज वुल्फ बाई नेचर"। प्रकृति से मनुष्य भेड़िया होता है—ऐसा उन्होंने मनुष्य की भीषण स्वार्थ वृत्ति के कारण कहा और वास्तव में मनुष्य की अनियन्त्रित स्वार्थ वृत्ति क्या गजब नहीं ढा सकती है? अभी-अभी भारतीयों ने सत्ता स्वार्थ का भयानक रूप विगत उन्नीस माह में देखा है। स्वार्थ छोटे रूप से इतना विशाल बन जाता है कि वह विश्व युद्ध के रूप में पूरे संसार के भयंकर उत्पीड़न का कारण बन सकता है। व्यक्ति के इसी स्वार्थ पर आज अधिक-से-अधिक सामाजिक नियन्त्रण की मांग है, बल्कि लोकमत यह कहता जा रहा है कि सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार की ही समाप्ति कर दी जाय — न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।

व्यक्ति और समाज के संदर्भ में समता के संचार का स्पष्ट अभिप्राय है कि व्यक्तिगत स्वार्थों को समाप्त किया जाय तथा सामाजिक हितों को बढ़ावा दिया जाय। ऐसा करने से बाहर समता का वातावरण बनेगा और उसके माध्यम से हर समुदाय के भीतर भी समता पैदा होगी। समानता का व्यवहार पारस्परिकता उभारती है—यह एक निश्चित तथ्य है।

सामाजिक एवं वैयक्तिक शक्तियों का सन्तुलन तथा समरसता :

व्यक्ति अपनी गुणवत्ता के आधार पर समता की भावना से समाज के नव निर्माण मे प्रवृत्त हो तो समाज की सामूहिक शक्ति इस दृष्टि से जागृत वन जाय कि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति को दमन तथा शोषण का शिकार न बनावे तथा उसके स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया मे अन्य व्यक्ति अनुचित बाधाएँ उपस्थित न कर सके। व्यक्ति समाज से सन्तुलित हो तथा समाज व्यक्ति की प्रबुद्धता एव आचरणशीलता से। इस सन्तुलन से शक्ति-सघर्ष मिट जायगा तथा पारस्परिक सहयोग का क्रम बन जायगा।

सामाजिक एव वैयक्तिक शक्तियो के सन्तुलन से बाह्य एव आन्तरिक समता के सृजन मे व्यापक सहयोग मिलेगा और उस वातावरण से सामान्य रूप मे नैतिकता, शान्ति एव सुख की छाया फैल जायगी। बाहरी शान्ति तथा बाहरी सुख भीतर तक पैठ कर अपनी वास्तविकता को प्राप्त करने लगेगे और समग्र जीवन मे समरसता व्याप्त होने लगेगी।

समरस जीवन विचार एव आचार की एकरूपता से अभिव्यक्त होता है और ऐसी एकरूपता सर्वांगीण समता से उपलब्ध बनती है। सर्वांगीण समता की सृष्टि व्यक्ति एव समाज दोनो के सयुक्त प्रयत्नो से ही की जा सकती है एव उसके लिये दोनो की शक्तियो के बीच एक स्वस्थ सन्तुलन की नितान्त आवश्यकता है। यह सन्तुलन सघर्ष एव साधना का विषय है। सघर्ष वैसा नही, जिस रूप मे हम समझते है, बल्कि सघर्ष करना होगा विषमता से—विषमता के कीटाणुओ से और वह भी अपना आत्म भोग देकर। त्याग और बलिदान की परम्पराओ पर चलकर जब प्रबुद्ध व्यक्ति अपने विशिष्ट आदर्शों के बल पर समाज को एक नया मोड देते है तो वैसा सघर्ष दुर्बल व्यक्तियो को भी अनुप्राणित करता है तथा एक स्वस्थ समतापूर्ण सामाजिक शक्ति के निर्माण मे सहायक बनता है। अतः यह सघर्ष साधना का ही एक प्रतिरूप माना जाना चाहिये। साधना सदा आत्मिक गुणो के धरातल पर पल्लवित और पुष्पित होती है तथा विशिष्ट व्यक्तियो की साधना ही सामाजिक वातावरण मे सामान्य रूप से समता की स्थापना कर सकती है। तब सामाजिक समता विषमता से पीडित व्यक्तियो को उत्थान मार्ग की ओर प्रगतिशील बना सकेगी।

समता का भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप :

विश्व एव मनुष्य-मन की विविध परतो को उघाड कर देखे तो प्रतीत होगा कि भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप एक ही सिक्के के दो बाजू है—ये दोनो पृथक् नही है। दोनो का समन्वित रूप एक दूसरे का सम्पूरक होगा। ससार की भौतिकता मे यदि आध्यात्मिकता का अनुभाव न हो तो मनुष्य इतना अनैतिक, इतना विषयी-कषायी तथा इतना स्वार्थी हो जायगा कि उसे समाज की भयावहता का

अनुमान लगाना भी कठिन होगा। किसी-न-किसी रूप में रही हुई आध्यात्मिकता ही उद्दाम भौतिकता पर नियन्त्रण करती रहती है। इसी से व्यवस्था का क्रम बना रहता है। यह आध्यात्मिकता जितने अंशों में प्रबल बनती जाती है, वैयक्तिक एवं सामाजिक चारित्र्य का उच्चतर विकास होता रहता है।

समता के भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप पर भी जब विचार करें तो यह मानना होगा कि मनुष्य की भौतिक परिस्थितियों में भी समता इस रूप में प्रतिष्ठित बने कि उससे भौतिकता के प्रति ममता घटे तथा समता का आध्यात्मिक स्वरूप अधिकतम रूप में विकसित बने। जीवन-निर्वाह के लिये पदार्थ आवश्यक हैं, उन्हें ग्रहण करना पड़ेगा अतः भौतिक समता का अर्थ है कि ये पदार्थ सबको समानता के आधार पर सुलभता से उपलब्ध हों किन्तु इस तरह की विषमता न रहे कि उससे तृष्णा फैले या स्वार्थ भड़के। समता का आध्यात्मिक स्वरूप इस तृष्णा तथा स्वार्थ का ही अन्त नहीं करेगा बल्कि प्राप्त पदार्थों के प्रति भी तटस्थता का भाव पैदा कर देगा। प्रलुब्धता नहीं तो विकार नहीं और निर्विकार स्थिति ही समता की परम पुष्टि करती है। यही समता अपने सम्पूर्ण विकास में सिद्धात्माओं में समता स्थापित कराती है तथा आत्मा को परमात्मा बना देती है।

समता का सर्वोच्च आध्यात्मिक स्वरूप ही सिद्ध होना है—निर्वाण प्राप्त करना है, जिसे ही आत्मोन्नति का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। यही लक्ष्य इस आत्मा का आदर्श है और इस आदर्श को प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है समता। समता बाहर और समता भीतर—समता भौतिक और समता आध्यात्मिक तथा समता विचार में और समता आचार में। सर्वत्र समता जब व्याप्त होगी तब संसार सच्चे अर्थों में सिद्धावस्था की कर्मभूमि बन जायगा।

समता-समाज की परिकल्पना :

रूप मे निर्धारण करे कि उनका अपना समाज सारे समाज का पथ प्रदर्शन करे। इस तरह समता समाज का विस्तार होता जावे और समता का सही दृष्टिकोण अधिकतम लोगो के विचार एवं आचार मे समाता रहे। इस दृष्टि से समता समाज मे विकासोन्मुखता के स्तर से तीन श्रेणियाँ रखी जाय—समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी। पहली श्रेणी उन लोगो की जो समता के सही स्वरूप को समझले, उसका प्रचार करे तथा उसे जीवन मे उतारने को आकाक्षा रखे। ये लोग समता समाज के समर्थक होगे और अपनी वर्तमान परिस्थितियो को इस रूप मे ढालने की चेष्टा करते रहेगे कि वे दूसरी श्रेणी मे प्रवेश कर सके। दूसरी श्रेणी उन लोगो की हो जो समता को अपने जीवन मे समाविष्ट करने की प्राथमिक तैयारी करले तथा उस पर आचरण प्रारभ करदे। सर्वागत: वे समता के साधक बन जाय, जिससे वे समतावादी से समताधारी बन सके। तीसरी श्रेणी वह आदर्श श्रेणी होगी जिसमें प्रवेश करने वाला एक प्रकार से वीतराग हो जायगा। वह स्वय समता का प्रतीक ही नही बन जायगा, बल्कि समता भाव से ही सबको देखेगा—उसका आत्म-स्वरूप सारे ससार मे व्याप्त होकर व्यष्टि को समष्टि का रूप दे देगा। इस प्रकार साधना की ये तीन श्रेणियाँ समता की प्रयोगात्मक एव व्यावहारिक प्रक्रिया को सफल बना सकेगी। इन तीनो श्रेणियो के आचरण मे समता का अविकल स्वरूप भी स्पष्टत: अकित हो जाता है।

वर्तमान विषमताजन्य विश्व का मुख्य लक्ष्य होना चाहिये—समता एव समता की ही वैचारिकता तथा चारित्र्यशीलता से सभी प्रकार की विषमताओ को समाप्त करके जीवन के सभी रूपो एव सभी क्षेत्रों मे समरसता एव सुखद शान्ति का सचार हो सकता है। आइये, हम सभी सच्चे मन से समता के साधक बने तथा समता के साधको को अपनी सच्ची श्रद्धाजलि समर्पित करे।

का उत्पन्न होना ही विषमता है और निष्काम, निर्वासना, निष्कांक्षा का होना ही समता है। आत्मा और मन मे जितनी-जितनी समता बढती जाती है, विषमता घटती जाती है उतनी-उतनी स्वस्थता, शाति व प्रसन्नता बढ़ती जाती है।

बाह्य समता :

समता की आवश्यकता आध्यात्मिक जीवन मे जितनी है उतनी ही वैयक्तिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक आदि जीवन के क्षेत्रो मे भी है। भगवान महावीर ने 'आचाराग' मे कहा है कि जैसा अतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा अतर है। यह सूत्र प्राणी के आतरिक व बाहरी जीवन की समानता या एकरूपता के सिद्धात का द्योतक है। यही सिद्धान्त समता पर भी चरितार्थ होता है। अत जीवन के बाहरी क्षेत्रो मे समता लाना है तो आतरिक क्षेत्रो मे समता लाना ही होगा। वर्तमान मे समाज, राष्ट्र आदि बाहरी क्षेत्रो मे समता के स्थापनार्थ कानून के सहारे बलात् साम्यवाद या समाजवाद लाया जा रहा है परन्तु वह असफल हो रहा है। इसका कारण यही है कि यह ऊपर से पहनाया गया समता का मुखौटा है, समता का ढाचा मात्र है, समता का आभास होना वास्तविक समता नही है। इसी कारण इस समता मे से बार-बार सघर्ष का जन्म होता है। अतर से उद्भूत वास्तविक साम्यवाद या समतामूलक समाज मे तो सतत स्नेह, शाति व सुख की त्रिवेणी बहती रहती है। जिसकी पावन-धारा की शीतलता से सर्वदोष, दु ख व द्वन्द्व का ताप शात हो जाता है।

समता : वैयक्तिक जीवन मे

विषम भाव समस्त दोषो व दु खो की भूमि है। विषम भाव के रहते कामना, वासना, ममता, अहता, पराधीनता, आकुलता, सकीर्णता, स्वार्थपरता आदि दोष पनपते-पलते, फलते-फूलते रहते है। इन दोषो के कारण व्यक्ति येन-केन प्रकारेण अपना स्वार्थ-सिद्ध करना चाहता है। फलस्वरूप दूसरे व्यक्तियो का शोषण व अहित होने लगता है। जिससे दूसरे व्यक्तियो के हृदय मे प्रतिक्रिया-प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है, जो सघर्ष की कारण बनती है। वह सघर्ष वैयक्तिक रूप से कलह व द्वन्द्व रूप मे प्रकट होता है।

समता : सामाजिक क्षेत्र मे :

व्यक्तियो के समुदाय से ही समाज का निर्माण होता है। अत जो गुण-अवगुण व्यक्तियो मे होते है वे ही गुण-अवगुण उनसे निर्मित समाज मे आ जाते है। अत. सर्व सामाजिक बुराइयो की जड समाज के सदस्यो की स्वार्थ परक सकीर्ण भावना ही है जिसका मूल सम भाव का अभाव व विषम भाव का प्रभाव ही है। विषम भाव से समाज मे विषमता का जन्म होता है जिससे समाज मे छोटेपन बडेपन के भाव को प्रोत्साहन मिलता है। जब तक समाज के सदस्यो के मन स्थल का मल समभाव मे धुल न जायेगा तब तक सामाजिक व्यवहार मे समता

नहीं आयेगी, 'मूंग से मूंग बड़ा नहीं' समाज मे समता निर्देशक यह कहावत चरितार्थ नहीं होगी तब तक समाज सुधार के लिए किए गए सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध होंगे और सामाजिक बुराइयां रूप बदल-बदल कर प्रकट होती ही रहेंगी। अतः सामाजिक बुराइयों के निवारण के लिए उसके सदस्यों मे समता को स्थान देना होगा।

समता : आर्थिक क्षेत्र मे :

आर्थिक समस्याओं का कारण है व्यक्ति, वर्ग, समुदाय या देश की स्वार्थ-संग्रह परक संकीर्ण वृत्ति। स्वार्थ व संग्रह परक वृत्ति का कारण है विषम भाव। जिस व्यक्ति, वर्ग या देश का मुख्य लक्ष्य धन अर्जन करना हो जाता है और वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना, श्रम करना आदि गौण, जब व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र स्वार्थवश सारा लाभ स्वयं ही हड़प लेता है, उसका समीचीन वितरण उत्पादकों मे नहीं करता है, न उपभोक्ताओं के हित का ही ध्यान रखता है, तो लाभ श्रम के शोषण व धन के अपहरण का रूप ले लेता है। जब धन का अर्जन श्रम से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर किए जाने के बजाय धन-शक्ति, सत्ता तथा दूसरों की विवशता व दीनता से लाभ उठाकर किया जाने लगता है, तब अप्रत्यक्ष रूप से धन की छीना-झपटी व लूट चलने लगती है। यही आर्थिक समस्याओं का कारण है। जिसका निवारण ऊपर से लादी हुई साम्यवादी या सम्पत्ति-वादी आर्थिक प्रणालियों से सम्भव नहीं है और न किसी प्रकार के राजकीय कानून से ही सम्भव है। सम्भव है आन्तरिक समभाव से। समभावी व्यक्ति स्वार्थी नहीं सेवाभावी होता है। उसका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं, अभाव मिटाना होता है, धन उपार्जन नहीं, वस्तु उत्पादन होता है, आदान नहीं, प्रदान होता है। इससे आर्थिक विषमता स्वतः समाप्त होती जाती है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति तो आनुषंगिक फल के रूप मे अपने आप हो जाती है।

समता : शारीरिक क्षेत्र मे

जिसका मन शुद्ध, निर्विकार, नीरोग है उसके पाचक, स्नायु, अस्थि आदि सस्थान भी नीरोग होते है। उसका रक्त इतना शुद्ध तथा सक्षम होता है कि वह शरीर मे उत्पन्न व प्रवेशमान सभी प्रकार के रोग के कीटाणुओ को परास्त व विध्वस्त कर देता है। अतः शारीरिक स्वस्थता के लिए मानसिक समता से बढकर न तो कोई शक्तिप्रदायिनी दवा है और न रोग विनाशक अमोघ औषधि है।

समता : दार्शनिक क्षेत्र में :

अन्यान्य क्षेत्रो के समान दार्शनिक क्षेत्र मे उत्पन्न उलझनो एव विवादो का कारण भी विषमभाव ही है। जब विचार क्षेत्र मे भेदभाव व पक्षपात उत्पन्न होता है और केवल स्व-विचार या अपनी दृष्टि को सत्य मानने या मनवाने का आग्रह होता है तो वह वाद-विवाद या वितडावाद का रूप ले लेता है। विवाद को विदा करने हेतु शास्त्रार्थ होते है परन्तु परिणाम वैमनस्य एव कटुता के अतिरिक्त कुछ नही निकलता है। कारण कि केवल अपने ही सिद्धान्त का, पक्ष का आग्रह रखने वाला व्यक्ति दूसरो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के सत्य पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना नही चाहता है। उसका उद्देश्य अपने ही सिद्धान्त को दूसरो को मनवाना मात्र होता है, समझने का नही होता। अत वह वस्तु तत्त्व को समझ नही पाता है।

प्रत्येक तत्त्व वस्तुतः अपने मे अनन्त गुण सजोये होता है, जिन्हे समझने के लिए विविध विविक्षाओ एव अपेक्षाओ का विचार करना आवश्यक है। अतः दुराग्रह को त्याग निष्पक्ष, तटस्थ समदृष्टि से विचार करने पर ही सत्य को समझा जा सकता है। दृष्टि के सम होने पर ही वस्तु या तत्त्व मे निहित विविध व विरोधी धर्मों को विविध विविक्षाओ के माध्यम से युगपत देखा जा सकता है। समदृष्टि से देखने को ही दर्शन की भाषा मे 'स्याद्वाद' कहा जाता है। स्याद्वाद से सब दार्शनिक मतभेदो का अन्त होकर सत्य प्रकट हो जाता है। इस दृष्टि से समभाव ही विवेक के द्वार खोल, सत्य के जगत् मे प्रवेश कराता है।

समता : कर्त्तव्य के क्षेत्र में ·

समभावी व्यक्ति ससार के सर्व प्राणियो को अपने समान समझता है। वह सबके हित मे ही अपना हित अनुभव करता है। उसके सर्वात्मभाव या आत्मीयता से उदारता व सेवाभाव का उदय होता है। उदारता से करुणा तथा प्रसन्नता की व सेवा से हितकारिता की वृद्धि होती है, जो सब ही के लिए उपयोगी है।

समता आती है तो मन, वाणी तथा शरीर की प्रवृत्तियो में शुद्धता आती है। उनमे एकरूपता व सामजस्य आता है। मन मे कुछ हो, बोले कुछ और करे कुछ और ही, ऐसी विकारी अस्वस्थ स्थिति समता मे नही रह सकती। जैसे

११

समता का मनोविज्ञान

□ *श्री भानीराम अग्निमुख*

'पत लूह च सेवन्ति' अर्थात् समत्वदर्शी वीर प्रान्त (जो बचा हुआ है) तथा रुक्ष (जो रसहीन है) का सेवन करते है—महावीर की यह बात समता के मनोविज्ञान के उन आयामो को अनावृत्त करती है जिन पर अब तक हमारी दृष्टि नही गयी है, लेकिन जिन पर उसका जाना आज आवश्यक है।

इन पक्तियो मे वीरत्व की अवधारणा का क्रातिकारी रूपान्तरण मिलता है। अब तक की परम्परा मे वीरत्व ससार के सारे देशो मे, इतिहास के सारे युगो मे, सत्ता का प्रतीक था। इतिहास मे जो वीर पुरुष माने गये है वे सत्ताधारी सम्राट या सामत थे जो समृद्धि, अधिकार एवं शासन मे शीर्षस्थ रहे है। सिकदर हो या सीजर, चगेजखा हो या तैमूर, इतिहास मे वीरत्व की अभिधा से अलकृत वही हुआ है जो दूसरों को अपने पशुबल से कुचल सका, उन पर अपनी अबाध सत्ता स्थापित कर सका, उनके विद्रोह को दबा सका, उनकी सत्ता तथा सपत्ति का हरण कर सका, अपनी आज्ञा उन पर चला सका।

लेकिन यहां वीरत्व का आदर्श सत्ता नही है। वीर समत्वदर्शी है। विषमत्वदर्शी तो कायर है। वह बाहर से सम्पन्न इसलिए बनता जा रहा है क्योकि भीतर से कगाल है। वह दूसरों पर अपनी सत्ता इसलिए स्थापित करना चाहता है क्योकि स्वयं पर अपनी सत्ता स्थापित नही कर पाया है। वह दूसरो पर अपनी आज्ञा इसलिए चला रहा है क्योकि खुद अपनी आज्ञा मे चलने मे असमर्थ है। भीतर की रिक्तता उसे विश्राम लेने नही दे रही है। दूसरो से वह इसलिए लडता जा रहा है कि अपना सामना करने की उसमे हिम्मत ही नही है। भीतर से खाली है वह और उस खालीपन को देखने का साहस सचित नही

सिकन्दर नही जानता था कि वह क्यो, यूनान, एशिया तथा विश्व को जीतना चाहता है। उसके अवचेत की हीनता अपनी तृप्ति के लिए उसके जीवन की ऊर्जा का शोषण कर रही थी। उसमे वीरत्व जैसा कही कुछ भी नही था। यही स्थिति ससार के सारे तथाकथित वीर पुरुषो की है। सब अपने आप से हारे हुए जुवारी ही थे। सबके अवचेतन मे हीनता तथा तज्जनित कुठाए भरी थी जो उन्हे बाहर-बाहर भटकने के लिए, दूसरो से लडने के लिए, धन और सत्ता का अम्बार लगाने के लिए बाध्य कर रही थी, जिसे उनमे से कोई भी नही भोग पाया। मनोवैज्ञानिक जानते है कि ये सब मन के मरीज थे। उन्हे जीवन मे प्रेम नही मिला था, सम्मान नही मिला था। वे उस प्रेम और सम्मान के भूखे थे। असामान्य मनोविज्ञान की शब्दावली मे वे सब 'पेरानोइया' के मरीज थे।

विषमता मन का रोग है। उसके मूल मे आत्महीनता है। जो अपने को दूसरों की तुलना मे हीन पाता है, वही दूसरो पर अपनी श्रेष्ठता आरोपित करना चाहता है। जो अपने को सबसे पीछे पाता है वही बाहर के धरातल पर सबसे आगे पहुँचने की कोशिश करता है। जो अपने को दूसरो से नीचा पाता है वही सबसे ऊपर अपने को स्थापित करने के लिए जान लड़ा देता है। इतिहास के तथाकथित वीर इसी मनोरोग के शिकार थे अत वे विपमता के पोषक हुए। वे वास्तव में वीर नही थे। वीर वही है जो अपने से हारा हुआ नही, अपने को जीता हुआ है, असने अवचेतन का दास नही, अपने अन्तर्मन का स्वामी है, अपनी ग्रन्थियों से बाध्य नही, ग्रथिमुक्त है। वह निर्ग्रन्थ है। इसी कारण वह छोटे और बडे, ऊचे और नीचे, बलवान और दुर्बल की आपेक्षिक मन.स्थितियो से मुक्त होता है। निर्ग्रन्थ चित्त ही वीरत्व का धारक है। वही समत्व मे प्रतिष्ठित है। विषमता का स्रोत हीनता है, उससे उत्पन्न ग्रन्थिया है, उन ग्रन्थियो से स्फुरित व्यवहार है, उस व्यवहार से मडित जीवन है।

बहुत बार लोग कहते है कि अमुक व्यक्ति उच्चता ग्रन्थि से पीडित है। वास्तव मे उच्चता ग्रन्थि या 'सुपीरियरिटी कामप्लैक्स' जैसा कुछ भी मनोविज्ञान के क्षेत्र मे होता ही नही। उच्चता 'ग्रथि' नही होती, हीनता-ग्रथि ही होती है। हीनता ग्रन्थि का शिकार उच्चता का प्रदर्शन करता है। यह व्यवहार हीनता-ग्रन्थि का ही उलटा प्रतिबिम्ब है। जिसे हम बहुधा अभिमानी समझते है, वह हीनता-ग्रथि का रोगी है। अभिमान तो उस रोग का लक्षण है जैसे शरीर का उत्ताप ज्वर का लक्षण होता है। उत्ताप स्वय ज्वर नही होता, वह तो ज्वर की अभिव्यक्ति है। ज्वर तो वहा जहा है शरीर की श्वेत-रक्त-कणिकाए मलेरिया के जीवाणुओ से लड रही है। शरीर के उत्ताप को कोई बाहरी उपचार से घटाता भी रहे तो ज्वर से मुक्ति नही होती। रोग और विषम हो जाएगा। उसी प्रकार अभिमान से लडकर हम उसके मूल कारण को, जो हीनता है, मिटा नही सकते, उसे और जटिल ही बनाते है।

वीर समत्वदर्शी है। वह किसी के भी आगे नही खड़ा होता। आगे होने पर उसमे तथा औरो मे विषमता आ जायेगी। समता कभी आगे के स्तर पर नही होती वह सबसे पीछे के स्तर पर से प्रारम्भ होती है। कतार मे जो आदमी सबसे पीछे खडा है, उसके भी पीछे खडा होकर वीर समता पर आरूढ होता है। जो किसी को भी चाहिए उसे वह छोड देता है, किसी को भी नही चाहिए, सबने जिसे छोड दिया है, बेकार समझ कर हटा दिया है, जिसे लेने से किसी को बाधा नही होती, उसे वीर लेता है, उसी के सेवन से वह अपना काम चलाता है। जिसमे किसी को रस ही नही आता, अत. जिसके लिए किसी की अनुरक्ति नही है, उसी को वीर ग्रहण करता है। वह कतार मे सबसे पीछे खडा है। सबको अपने से आगे रखता है और खुद अपने को सबके पीछे। अगर कोई उसके पीछे आकर खडा हो गया तो वह उसे भी अपने आगे खडा कर लेता है और खुद उसके पीछे चला जाता है। वीर समत्वदर्शी है, अत· वह अत्यजन है, अन्तिम आदमी है, सबके पीछे खडा आदमी है। लाओ-त्से के शब्दो मे—'सच्चा नेता वही है जो सबके पीछे खडा होता है। इसी कारण वह सदैव सबके आगे पाया जाता है।'

१२

सम भाव :
आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में

— डॉ० उदय जैन

इसके निर्माण होने की आवश्यक एव पर्याप्त परिस्थितिया एव इसकी कार्यात्मकता को समझने मे, मानी जा सकती है।

कट्टर व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिको के अनुसार ऐसी मानसिक स्थिति का अध्ययन मनोविज्ञान की सीमा से परे माना जायगा । इनके अनुसार मन मस्तिष्क की ही क्रिया है अतः मस्तिष्क मे 'समभाव' स्थिति की प्राक्कल्पना एक ऐसी प्राक्कल्पना होगी जो वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से परखी नही जा सकती। 'समभाव' को धर्म व दर्शन मे मन या आत्मा की एक ऐसी अवस्था के रूप मे माना गया है जो रागद्वेष से रहित हो।[1] मन और आत्मा चूकि प्रत्यक्ष या परोक्ष निरीक्षण के विपय नही हो सकते अत. समभाव भी मनोविज्ञान का विषय नही हो सकता। निष्कर्ष रूप से समभाव स्थिति वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति की पहुँच से परे है। हाल ही मे कुछ प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के अनुसधानो से, जिनमे मेडिटेशन के प्रभाव का अध्ययन विभिन्न मनोदैहिक (साइकोफिजियालोजिकल) क्रियाओ पर देखा गया है, इस वात की सभावना है कि भविष्य मे शायद समभाव की स्थिति मे होने वाली कुछ मनोदैहिक प्रक्रियाओ को पहचाना जा सके।

मनोविश्लेषण सिद्धान्त (साइकोएनालेटिकल थ्योरी) के आधार पर यदि समभाव स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो यह मानना होगा कि मन के तीन भागो (इड, इगो, सुपरईगो) मे जो सामान्य अवस्था मे निरन्तर सघर्ष चलता रहता है, वह समभाव स्थिति मे समाप्त हो जायगा। इसमे सुपरईगो (नैतिक मन) का 'इड' एव 'इगो' पर आधिपत्य होगा। व्यक्ति के व्यवहार का नियामक जब सुपरईगो होगा तो सभवत. फ्रायड के अनुसार 'इगो' द्वारा अन्य इच्छाओ एव वासनाओ का दमन हो जायगा।

इस सीमा तक तो समभाव स्थिति की सभावना इस सिद्धान्त के अनुसार भी सोची जा सकती है परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समभाव स्थिति एक सतुलित मानसिक स्थिति है जबकि 'सुपरईगो' प्रधान स्थिति सतुलित नही मानी जा सकती। फ्रायड के अनुसार सतुलन का कार्य 'ईगो द्वारा सम्पन्न होता है । साथ ही इच्छाओ व वासनाओ का दमन, इच्छाओ का मरना या समाप्त होना नही है वरन् ये दमित इच्छाये व्यक्ति के अचेतन मन मे विद्यमान रहती हैं और अनजाने एव अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। अत॰ इस प्रकार की स्थिति जैनदर्शन के अनुसार वीतरागता या समभाव की स्थिति नही मानी जा सकती। रागद्वेष से रहित होने का तात्पर्य समस्त प्रकार

---

१ जैन दर्शन . मनन और मीमासा —मुनि नथमल

इस सिद्धान्त को 'डि ऑटोमेटाइजेशन' के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार प्रत्यक्षीकरण (परसेप्सन) की उत्तेजनाओ (स्टिमुलस) को सगठित, सीमित, चयनित एव व्याख्यायित करने वाली विभिन्न मनोवैज्ञानिक सरचनाओ (स्ट्रक्चर्स) का डि आटोमेटाइजेशन होने के परिणाम स्वरूप ही हमे रहस्यात्मक अनुभव होते है। सरल भाषा मे इस सिद्धान्त के अनुसार जो सज्ञानात्मक (कागनीटिव) सगठन, अभ्यास के परिणाम स्वरूप पूर्ण रूप से स्वायत्त हो गया है उसका पुन सगठन होता है। यही पुनःसगठन रहस्यात्मक अनुभवो मे निहित होता है[1]

समभाव की स्थिति मे भी इस प्रकार का सज्ञानात्मक पुनर्सगठन होना चाहिये तभी व्यक्ति का पूरा प्रत्यक्षीकरण वदल जाता है और फिर प्रत्येक वस्तु घटना एव जगत के अन्य व्यापारो के प्रति, मानव की प्रतिक्रिया सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया से भिन्न होती है। सज्ञानात्मक पुनर्सगठन की चर्चा गेस्टाल्ट मनोविज्ञान[2] मे स्पष्ट स्वीकार की गई है। वस्तुत इनका सूझ सिद्धान्त (प्रिसपल ग्राफ इनसाईट) यही वतलाता है कि वातावरण मे उपलब्ध समस्या का हल, प्राणी सूझ के आधार पर ही करता है। उपलब्ध विभिन्न घटको के आपसी सम्बन्धो का यकायक ज्ञान ही सूझ है जोकि सज्ञानात्मक पुनर्सगठन का परिणाम है।

असामान्य मनोविज्ञान (एवनार्मल साइकालॉजी) मे जिन विभिन्न मानसिक रोगो के बारे मे चर्चा की जाती है वे भी चेतना की परिवर्तीय दशाओ के रूप है; परन्तु समभाव, वीतरागता, रहस्यमय अनुभव की परिवर्तित चेतना एव मानसिक रोगो से होने वाली परिवर्तित चेतना मे भिन्नता है। पहले मे व्यक्ति का व्यवहार सकारात्मक होता है जवकि दूसरी मे नकारात्मक।

समभाव की स्थिति मे पहुँचने की अनिवार्य परिस्थितियो के लिये ध्यान की एकाग्रता का अभ्यास, अतर्मुखी चितन, मेडीटेशन आदि क्रियाओ को माना

---

१. यह सिद्धान्त हार्टमेन के स्वायत्तीकरण (आटोमेटाइजेशन) सिद्धान्त पर आधारित है। जिस प्रकार विभिन्न कौशलो (स्किल) के अर्जन मे पेशिय क्रियायें स्वायत्त हो जाती हैं, उनमे निहित शारीरिक क्रियाओ का सगठन क्रमश· दृढ हो जाता है तथा प्रारम्भ मे होने वाली अनेक सहक्रियायें विलुप्त हो जाती हैं। उसी प्रकार मानसिक सरचनाओ के बारे मे भी कहा जा सकता है। डि आटोमेटाइजेशन आटोमेटाइजेशन का पुन समाप्तीकरण माना गया है।

२ मनोविज्ञान का एक सम्प्रदाय—जिसमे व्यवहार के 'सम्पूर्ण' (गेस्टल्ट) अध्ययन पर जोर दिया गया है।

१३

समता : सभी धर्मों का सार तत्त्व

□ श्री रिषभदास रांका

सभी सयाने एकमत :

ससार के सभी धर्मो, महापुरुषो, सन्तो तथा विचारको ने मानव समाज को समता का उपदेश दिया है । समता की बात धार्मिक क्षेत्र मे तो लागू होती ही है, पर सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र मे भी समता आवश्यक है। इसमे जीवन की सभी समस्याओ का समाधान निहित है । जीवन मे समता अपनाने के विषय मे सभी सयाने एक मत है ।

कथनी और करनी में अन्तर :

लेकिन देखा यह जाता है कि हजारो वर्षों के उपदेशो के बावजूद जीवन-व्यवहार मे विषमता के ही दर्शन होते है । "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के उपदेश के नीचे धार्मिक जीवन जीने वालो मे जब विषमता पाई जाती है, तो धर्म को अफीम की गोली कहकर उसका तिरस्कार करना स्वाभाविक ही है ।

दंड द्वारा समता प्रस्थापित करने के प्रयत्न ·

जो लोग धर्म को अफीम की गोली कहकर असमता की समस्या सत्ता या दड द्वारा सुलझाने के लिए निकले थे, उनके द्वारा करोडो लोगों की हत्या करने या असख्य लोगों को यत्रणा देने पर भी समस्या का समाधान नही निकला बल्कि समस्या और भी उलझ गई, तो यह सोचने के लिए विवश होना पडा है कि इस समस्या को सुलझाने के लिए धर्म ही सर्वोत्तम उपाय है । समता की समस्या आर्थिक या राजनैतिक से अधिक मानसिक एव भावात्मक है ।

सच्चे सुख का स्रोत :

गहराई से सोचने पर इसी निष्कर्ष पर आना पडता है कि सच्चे सुख का

इन्द्रियो के [illegible] है। कानो से शब्द सुने तो न राग [illegible] है। [illegible] उचित है। अन्य जीवो तथा पौद्गलिक [illegible], समता का मूल आधार है। [illegible]।

हिंसा के कारण :

हिंसा के कारणो पर 'आचाराग' मे [illegible] —

मानव जीवन-सुरक्षा के लिए, प्रशसा, [illegible] के लिए, [illegible], धनोपार्जन, बलवृद्धि के लिए, पूजा पाने या सत्ता पाने [illegible] प्रवृत्तिया,

जन्म- सन्तान प्राप्ति या भावी जन्म [illegible] के कारण, मरण, वैर-प्रतिशोध आदि प्रवृत्तिया,

मुक्ति—दु:ख से मुक्ति पाने की [illegible] प्रकार की प्रवृत्तिया,

दु:ख प्रतिकार हेतु रोग तथा आतंक दूर करने के लिए की जाने वाली प्रवृत्तिया।

इन सब कार्यों मे होने वाली हिंसा [illegible] के कारण होती है, इसलिए कर्म का शोधन तथा निरोधन आवश्यक माना गया है।

गीता मे समता

जैन धर्म की तरह गीता के सभी श्लोको मे समता धारण करने को कहा है। गीता कहती है कि चाहे विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मण हो, चाहे गाय या हाथी हो, चाहे कुत्ता या चाडाल हो, ज्ञानी अथवा समभावी साधक उन सबमे अपने ही दर्शन करता है।

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिनः ।। ५-१८

गीता कहती है कि इन्द्रियो के स्पर्श से होने वाले सुख और दु:खो मे समता रखनी चाहिए क्योकि इन्द्रिय जन्य सुख-दु:ख अनित्य है। जो इन सुख-दु:खो से व्याकुल नही होता, वही दु:ख से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी बनता है।

मात्रा स्पर्शासु कौंतय शितोष्ण सुखदु खदा।
आगमायाथिनोऽनित्यास्ता स्तिति सस्व भासत ।। २-१४

ससार के सभी विचारक एक मत है कि यदि मनुष्य को सुखी बनना है तो समता धारण करनी चाहिए।

भेद ही विषमता का कारण

अपने-पराये का भेद विषमता का मूल कारण है। अपनों के प्रति राग और परायो के प्रति द्वेष ही विषमता है और यही दु:खो की जड है। इसलिए

एक वार मैने एक ईसाई धर्म गुरु से पूछा कि आपको मानव सेवा की प्रेरणा कहा से मिलती है । उन्होने कहा—मानव को भगवान् की सतान मानकर उसकी सेवा मे ही भगवान् की सेवा या भक्ति मानते है । यो तो सभी को भाई समझकर सबकी समान रूप से सेवा करते है लेकिन जो दीन-दुखी है, अभाव ग्रस्त है या वीमार है, उनकी सेवा की ओर अधिक ध्यान देना प्रभु को अच्छा लगता है, क्योकि वह भी अपने दुर्वल-कमजोर वच्चे की ही अधिक देखभाल करता है । ईसा के अनुयायी ईसा के प्रति अत्यन्त भक्ति रखते है, परन्तु उस भक्ति को वे मानव-सेवा मे क्रियान्वित करते है, अत. उनके द्वारा मानव सेवा के कठिन से कठिन कार्य सहज होते रहते है । कोढियो की सेवा खतरा उठाकर भी वडे आनन्द के साथ करते है । उनकी कथनी और करनी मे अन्तर नही होता, जवकि भारतीय धर्मो ने समता के विषय मे शास्त्रशुद्ध और गहरा चिन्तन प्रदान किया है, पर करनी और कथनी मे वहुत अन्तर है । भारतीय गहरा जाकर भी केवल विचार तक ही रह गया । विचार जीवन मे कम उतरा है ।

मुस्लिम धर्म की समता :

मुस्लिमो ने समता के गुणगान मे भले ही वडे-वडे ग्रन्थो की रचना न की हो, परन्तु उनके जीवन व्यवहार मे समता के स्पष्ट दर्शन होते है । कहा जाता है कि कायदेआजम जिना के साथ उनका नौकर या ड्राइवर भोजन के लिए साथ बैठ सकता था । हमारे यहा अपने मालिक के साथ नौकर भोजन करने का साहस नही कर सकता । भोजन की बात तो दूर, नौकर का सम्मुख खड़ा रहना तक वर्दाश्त नही किया जा सकता । ड्राइवर मोटर मे चाहे घटो बैठा रहे, पर उसको पानी के लिए भी पूछने वाले कम ही मिलते है ।

धर्म, ग्रन्थों की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं है .

धर्म का उपदेश ग्रन्थो मे सग्रह के लिए नही है, वह जीवन मे उतारने के लिए है । धर्म ने समता को व्यवहार में लाने को कहा है । इसका कुछ प्रभाव मानव जीवन मे देखते है, पर जब धार्मिक क्षेत्र मे विषमता आती है तव राज-नीतिज्ञ व समाज के नेताओ का इस क्षेत्र मे हस्तक्षेप अनिवार्य बन जाता है । शासन व सत्ता के बल पर समता लाने के प्रयत्न मे त्वरित परिणाम की अपेक्षा रखी जाती है । फलस्वरूप कानून, नियन्त्रण व दड का सहारा लेना पडता है, जिसकी प्रतिक्रिया से दुष्परिणाम आता है । उन दुष्परिणामों के मुकाबले धर्मों द्वारा समता लाने के प्रयत्न कम हानिकर और अधिक लाभप्रद है क्योंकि धर्म का पालन दबाव से नही स्वेच्छा से होता है, इसलिए उन प्रयत्नो मे दुष्परिणाम का भय नही होता ।

समता जीवन-व्यवहार में उतरे :

समता के क्षेत्र मे समता ने अब तक जो किया, उससे अधिक करने की

१४

समता : श्रमण संस्कृति का मूलाधार

□ श्री पी० सी० चोपड़ा

समता : जैन संस्कृति की आत्मा :

जैन धर्म, जैन दर्शन और जैन सस्कृति समता पर आधारित है। जैसे नीव के ऊपर भव्य प्रासाद का निर्माण हुआ करता है इसी तरह समता की नीव पर जैन धर्म-दर्शन या जैन सस्कृति का महल खड़ा हुआ है। जैन सस्कृति की आत्मा समता है। समता के बिना जैन धर्म निष्प्राण है। समता ही इस श्रमण सस्कृति का मूलाधार है। 'आचाराग' सूत्र मे कहा गया है—

"समियाए धम्मे आरिएहि पवेइयं"।

आर्य-तीर्थंकर देवो ने समता मे धर्म प्रवेदित किया है। समता पर आधारित होने के कारण ही जैन धर्म या संस्कृति को श्रमण सस्कृति कहा जाता है। भगवान् महावीर का नाम शास्त्रो मे जहाँ कही उल्लिखित है वहाँ उन्हे 'समणे भगव महावीरे' कहा गया है। इस 'समण' शब्द मे बहुत गम्भीर भाव सन्निहित है। मुख्यतया शमन, समन, और सुमन के रूप मे उसकी व्याख्या की जाती है। शमन का अर्थ है—क्रोधादि कषायो को उपशान्त करना। समन का अर्थ है शत्रु-मित्र, स्वजन-परजन की भेदभावना को हटाना और सु-मन का अर्थ है प्रशस्त चिन्तन करना। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करते है तो इन सब व्याख्याओ मे एक ही मूल तत्त्व परिलक्षित होता है और वह है—समता। क्रोधादि कषायो को शमन करने वाला ही समभाव धारण कर सकता है। कषायवाला व्यक्ति समभावी नही हो सकता। जो कषाय को शान्त करता है, वही समभावी हो सकता है, वही प्रशस्त चिन्तन करने वाला हो सकता है, वही

गुणाधिक व्यक्तियों को देखकर उनके प्रति आदर भाव रखना, गुणियो मे ईर्ष्या न करते हुए उनके गुणो की अनुशसा और अनुमोदना करना, उन्हे देखकर प्रमुदित होना प्रमोदभावना है ।

दु:खी जीवों के प्रति करुणाभाव लाना, उनके दु.खों को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना, दु:खियो के आँसू पोछना कारुण्यभावना है ।

जो व्यक्ति अपने द्वारा मनाया जाने पर भी विपरीत भावना को नही छोडता, जो जानबूझकर टेढा-टेढा रहता है, अपने प्रति दुर्भावना रखता है, उसके प्रति भी मध्यस्थ दृष्टि रखना माध्यस्थ भावना है ।

जो व्यक्ति उक्त चार भावनाओ का प्रतिदिन चिन्तन करता है, निष्ठापूर्वक उनका अनुशीलन करता है, उसके जीवन मे समता का प्रवेश हुए बिना नही रहता । ऐसा कषाय मुक्त, उपशान्त एव प्रशस्त भावना वाला व्यक्ति समता की सरिता मे अवगाहन करता हुआ परम शान्ति का अनुभव करता है । इस प्रकार समता व्यक्ति के जीवन को आनन्द से ओतप्रोत बना देती है ।

समता का सामाजिक संदर्भ :

अब हम यह विचार करते है कि समता का दर्शन समाज के लिए कितना उपयोगी और हितावह है । जब व्यक्ति के जीवन मे समता का प्रवेश होता है तो उसका सारा जीवन लोक कल्याण के लिए समर्पित हो जाता है । व्यक्तियो का समुदाय ही समाज है । स्वार्थ से ऊपर उठकर दूसरे के हित को महत्त्व देना ही सामाजिक भावना का द्योतक है । व्यक्ति के सुधरते ही समाज सुधर जाता है और सर्वत्र ससार मे शान्ति का सचार सभव हो जाता है । अतएव विश्वशान्ति के लिए, सामाजिक सघर्षों से बचने के लिए तथा लोक कल्याण के लिए समता की भावना का विकास और विस्तार अपेक्षित है ।

सामाजिक क्षेत्रों मे समता का सचार होने से सब प्रकार के संघर्षों का, टकराव का और अशान्ति का अन्त हो सकता है । आज दुनिया अनेक प्रकार की समस्याओ से ग्रसित है, गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, जातीय सघर्ष, पथ—मजहब, सम्प्रदायों के झगडे, वर्गगत सघर्ष, राजनीतिक उथल-पुथल इत्यादि जो कुछ भी अस्तव्यस्तता हम देख रहे है, उसके मूल मे यदि हम जावे तो प्रतीत होगा कि वैषम्य ही इनकी बुनियाद है । मानव-मानव के बीच की गहरी विषमता सब सघर्षो को जन्म देती है । इसको लेकर ही दुनिया मे विविध वादों का उद्भव हुआ है । साम्यवाद, समाजवाद, पूंजीवाद और न जाने कौन-कौन से वाद समस्याओ के समाधान के लिए प्रचलित हुए है, परन्तु स्थिति वही की वही है । कारण स्पष्ट है कि जो वाद प्रचलित हुए है वे एकांगी और अपूर्ण है । वे

गुणाधिक व्यक्तियो को देखकर उनके प्रति आदर भाव रखना, गुणियो मे ईर्ष्या न करते हुए उनके गुणों की अनुशंसा और अनुमोदना करना, उन्हे देखकर प्रमुदित होना प्रमोदभावना है।

दु:खी जीवों के प्रति करुणाभाव लाना, उनके दु:खो को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना, दु:खियो के आँसू पोछना कारुण्यभावना है।

जो व्यक्ति अपने द्वारा मनाया जाने पर भी विपरीत भावना को नही छोडता, जो जानबूझकर टेढा-टेढा रहता है, अपने प्रति दुर्भावना रखता है, उसके प्रति भी मध्यस्थ दृष्टि रखना माध्यस्थ भावना है।

जो व्यक्ति उक्त चार भावनाओ का प्रतिदिन चिन्तन करता है, निष्ठा-पूर्वक उनका अनुशीलन करता है, उसके जीवन मे समता का प्रवेश हुए बिना नही रहता। ऐसा कषाय मुक्त, उपशान्त एव प्रशस्त भावना वाला व्यक्ति समता की सरिता मे अवगाहन करता हुआ परम शान्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार समता व्यक्ति के जीवन को आनन्द से ओतप्रोत बना देती है।

समता का सामाजिक संदर्भ :

अब हम यह विचार करते है कि समता का दर्शन समाज के लिए कितना उपयोगी और हितावह है। जब व्यक्ति के जीवन मे समता का प्रवेश होता है तो उसका सारा जीवन लोक कल्याण के लिए समर्पित हो जाता है। व्यक्तियो का समुदाय ही समाज है। स्वार्थ से ऊपर उठकर दूसरे के हित को महत्त्व देना ही सामाजिक भावना का द्योतक है। व्यक्ति के सुधरते ही समाज सुधर जाता है और सर्वत्र ससार मे शान्ति का सचार सभव हो जाता है। अतएव विश्वशान्ति के लिए, सामाजिक सघर्षों से बचने के लिए तथा लोक कल्याण के लिए समता की भावना का विकास और विस्तार अपेक्षित है।

सामाजिक क्षेत्रो मे समता का संचार होने से सब प्रकार के संघर्षों का, टकराव का और अशान्ति का अन्त हो सकता है। आज दुनिया अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रसित है, गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, जातीय सघर्ष, पंथ—मजहब, सम्प्रदायो के झगडे, वर्गगत सघर्ष, राजनीतिक उथल-पुथल इत्यादि जो कुछ भी अस्तव्यस्तता हम देख रहे है, उसके मूल मे यदि हम जावे तो प्रतीत होगा कि वैषम्य ही इनकी बुनियाद है। मानव-मानव के बीच की गहरी विषमता सब सघर्षों को जन्म देती है। इसको लेकर ही दुनिया मे विविध वादो का उद्‌भव हुआ है। साम्यवाद, समाजवाद, पू जीवाद और न जाने कौन-कौन से वाद समस्याओ के समाधान के लिए प्रचलित हुए है, परन्तु स्थिति वही की वही है। कारण स्पष्ट है कि जो वाद प्रचलित हुए हैं वे एकांगी और अपूर्ण है। वे

१५

जैन दर्शन में समता का स्वरूप

□ श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म–श्रमरा धर्म .

जैन धर्म का भगवान् महावीरकालीन या आगमिक नाम है—'श्रमरा धर्म'। प्राचीन 'पक्खी सूत्र' को जब-जब मैं पाक्षिक, चातुर्मासिक एव सावत्सरिक प्रतिक्रमरा मे साधु-साध्वियो द्वारा बाल्यकाल से सुनता रहा हूँ, उसमे बार-बार 'श्रमरा धर्म' शब्द आता रहता है। वह शब्द मेरे हृदय-पटल पर ऐसा अकित हो गया कि अन्य आगमो के अध्ययन करते समय मेरे सामने यही शब्द सदा गु जित होता रहा है। 'कल्पसूत्र' मे भी प्रतिवर्ष भगवान् महावीर का चरित्र सुनते हुए बार-बार भगवान् महावीर का यह विशेषरा सुनने मे आया कि 'समरो भगवए महावीरे' अर्थात् श्रमरा भगवान् महावीर। इसमे उनको सबसे पहले 'श्रमरा' शब्द द्वारा सम्बोधित किया गया है। भगवान् महावीर कौन थे ? कि श्रमरा थे। भगवान् शब्द का प्रयोग श्रमरा के बाद हुआ है अर्थात् पहले वे 'श्रमरा' थे, भगवान् पीछे बने। जैन साधुओ के लिए 'श्रमरा' और साध्वियो के लिए 'श्रमरगी', श्रावको और श्राविकाओ के लिए श्रमरगोपासक व श्रमरगोपासिका शब्द का प्रयोग आगमो मे सर्वत्र खुलकर किया गया है। इससे मेरी उस धाररगा को पूरी पुष्टि मिल गई कि तीर्थंकरो का जो धर्म है, उसका पुराना व वास्तविक नाम 'श्रमरा धर्म' ही है।

समता से ही श्रमरा ·

अब प्रश्न उठता है कि 'श्रमरा' कौन होता है, उसका मुख्य अर्थ व लक्षरा क्या है ? तब 'उत्तराध्ययन सूत्र' की एक पक्ति [२५/३२] ने मेरा पूर्ण समाधान कर दिया 'समयाए समगो होइ' अर्थात् समता से ही श्रमरा होता है। इस

समता की साधना ही सभी तीर्थंकरो ने की और उसकी पूर्णता वीतरागता की प्राप्ति मे हुई। इसी से तीर्थकरो का प्रमुख विशेषण 'वीयराय' अर्थात् वीतराग पाया जाता है। समता और वीतरागता पर्यायवाची शब्द है। पर वीतराग स्थिति एकाएक या झटपट प्राप्त नही होती, उसके लिए क्रमश. साधना प्रारम्भ होती है—समता से। इसीलिए छह आवश्यक अर्थात् नित्य करणीय जरूरी कामो मे, सबसे पहला आवश्यक है—सामायिक अर्थात् समभाव मे रहते हुए ही आगे के ५ आवश्यक किये जाते है। पच चारित्रो मे सबसे पहले चारित्र का नाम है—सामायिक चारित्र। साधु-साध्वी जब दीक्षित होते है तो सबसे पहले उन्हे सामायिक चारित्र का व्रत दिया जाता है। उसकी कुछ दिन साधना कर लेने के बाद दूसरा चारित्र, जिसमे पाच महाव्रतो का ग्रहण करवाया जाता है, पहले को छोटी दीक्षा अर्थात् प्राथमिक भूमिका और दूसरे व्रत दीक्षा को 'वडी दीक्षा' की सज्ञा प्राप्त है। अर्थात् मुख्यता सामायिक को ही दी गई है, उसके बाद ही व्रतो का स्थान है।

सामायिक का महत्त्व :

श्रावको के लिए भी ६वा व्रत-सामायिक का है। श्वेताम्वर समाज मे तो श्रावक-श्राविकाओ को 'आज कितनी सामायिक की है', पूछा जाता है और प्रात'-काल उठने के बाद प्रभु-स्मरण नवकार मत्र वोलने के वाद शरीर चिंता से निवृत्त होकर सबसे पहला करणीय काम है—सामायिक करना अर्थात् धर्म क्रिया का प्रारम्भ ही समभाव-साधना से होता है। यद्यपि साधुओ के लिए यावत जीवन सामायिक चारित्र ग्रहण किया होता है फिर भी उन्हे प्रतिक्रमण से पहले-दोनो समय एव दिन मे भी कई वार 'करेमि भते सामाइय' पाठ का उच्चारण करना पडता है ताकि बार-बार उनको, मेरा करणीय कार्य क्या है, इसका ध्यान वना रहे और मैं सामायिक करता हूँ इस पाठ को दोहराते समय समभाव ही मेरा लक्ष्य है, यह आदर्श सामने रहे।

भगवान् महावीर ने भी, कल्प सूत्र की टीका के अनुसार, दीक्षा लेते समय 'करेमि सामाइय' का पाठ ही उच्चारण किया था। उन्होने पच महाव्रत ग्रहण किये हो, ऐसा कोई पाठ नही मिलता। इससे मुझे लगता है कि पाचो महाव्रतो का समावेश भी सामायिक शब्द मे ही हो गया है, क्योकि समता-भाव धारण करने वाला, विषमता मे जायेगा ही नही; और पाचो महाव्रत विषमता से वचने के लिए ही है।

जिन शासन का सार :

सव जीवो को अपने समान समझकर जो काम अपने को अच्छा नही लगता हो, वैसा व्यवहार दूसरो के साथ नही करना और दूसरे का दु ख, अपना

दु.ख है, ऐसी अनुभूति करते हुए प्राणीमात्र को दु.ख न देना, हिसा नही करना, इसी का नाम तो अहिसा है जो पहला व्रत है । जिन शासन क्या है ? वह बहुत सक्षेप मे बतलाते हुए कहा गया है—

ज इच्छसि अप्पणतो, ज च ण इच्छसि अप्पणतो ।
त इच्छ परस्स वि या, एतियग जिणसासण ।।

अर्थात् जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो, तथा जो तुम अपने लिए नही चाहते, वह दूसरो के लिए भी न चाहो । यही जिन शासन है—तीर्थकर का उपदेश है । जैनी होने की पहली शर्त है ।

यही बात 'महाभारत' मे धर्म का सर्वस्व या सार क्या है, इस बात को सुनाते हुए कहा गया है—

श्रुयताम् धर्म सर्वस्व श्रुत्वाचैवा धार्यताम् ।
आत्मानः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत् ।।

प्राणी मात्र मे समानानुभूति आत्मौपम्य भाव ही अहिसा है और सामायिक भी यही है—

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरे सु अ ।
तस्स सामाइय होज्जा, इय केवली भासिय ।।

चारित्र ही धर्म है :

समभाव क्या है और उसके पर्यायवाची शब्द कौन-कौन से है, इस विषय की दो गाथाएँ उद्धृत की जा रही है । पहली गाथा मे बहुत ही महत्त्व की बात कही गई है कि वास्तव मे चारित्र ही धर्म है, पर वह धर्म समता या समत्व रूप कहा गया है । समता क्या है ? मोह और क्षोभ रहित आत्मा का निर्मल परिणाम । अर्थात् रागद्वेप रहित अवस्था ही समता है । उसके पर्यायवाची शब्द या नाम है—माध्यस्थ-भाव, शुद्ध-भाव, वीतरागता, चारित्र धर्म और स्वभाव-आराधना । मूल गाथाएँ इस प्रकार हैं—

गाथा— चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिछिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ।।

संस्कृत छाया— चारित्र खलु धर्मो यः स समः इति निर्दिष्टः ।
मोह क्षोभ विहीनः, परिणाम आत्मनो हि समः ।।१३।।

गाथा— समदा तह मज्झत्थ, सुद्धो भावो य वीयरायत्त ।
तह चारित्त धम्मो, सहावग्राराहणा भणिया ।।

सस्कृत छाया— समता तथा माध्यस्थ्य, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम् ।
तथा चारित्र धर्म., स्वभावाराधना भणिता ।।१४।।

समभाव ही सामायिक :

समभाव ही सामायिक है । तिनके और सोने मे तथा शत्रु और मित्र मे समभाव रखना चाहिये । कहा भी है—

'समभावो सामइय, तरण कचरण–सत्तु मित्र विसग्रो त्ति ।

१७वी शताब्दी के महान् जैन योगी ग्रानन्दघनजी ने शातिनाथ भगवान् के स्तवन मे भगवान् के मुख से शाति का मार्ग बतलाते हुए कहा है—

मान ग्रपमान चित्त सम गरणे, सम गरणे कनक पाषाण रे ।
वदक निदक सम गरणे, एहवो होय तु जारण रे ।।शाति।।६।।

सर्व जग जतुने सम गरणे, गरणे तृरण मरिण भाव रे ।
मुक्ति-ससार बेहु सम गरणे, मुरणे भवजल निधि नावरे ।।शाति।।१०।।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक ही पद्य मे समभाव किन-किन बातो मे रखा जाय, एक-से-एक ऊँची स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जीवित-मरण, ससार और मोक्ष मे भी समत्व रखें ।

शत्रु मित्र प्रत्येवर्ते समदर्शिता ।
मान ग्रमाने वर्ते तेज स्वभाव जो ।।
जीवित के मरणे नही न्यूनाधिकता ।
भव-मोक्षे परण शुद्ध वर्ते समभाव जो ।।

माध्यस्थ भाव ही समत्व :

ग्रात्मानुभावी सत चिदानन्दजी ने भी बहुत सुन्दर रूप मे एक भजन मे इसकी व्याख्या की है कि सब जगत् को देख लिया पर उसमे निरपक्ष ग्रर्थात् पक्षपात रहित, राग द्वेष रहित कोई विरले ही व्यक्ति होते हैं । वह निरपक्षता या निष्पक्षता, माध्यस्थ भाव ही समत्व है । समरसी भाव वाला व्यक्ति कैसा होता है । देखिये—

अवधू निरपक्ष विरला कोई, देख्या जग सहु जोइ; ।।अवधू ०।।

समरस भाव भला चित्त जाके, थाप-उथाप न होइ,
अविनाशी के घर की वातां जानेगे नर सोइ ।।अ० १।।

राय रक मे भेद न जाने, कनक उपल सम लेखे;
नारी नागणी को नही परिचय, तो शिव मदिर देखे ।।अ० २।।

निदा-स्तुति श्रवण सुणीने, हर्ष-शोक नवि आणे,
ते जग में जोगीसर पूरा, नित्य चढते गुण ठाणे ।।अ० ३।।

चन्द्र समान सौम्यता जाकी, सायर जेम गम्भीरा,
अप्रमत्त भारऽपरे नित्य, सुरगिरिसम शुचिधीरा ।।अ० ४।।

पकज नाम धराय पकस्यु , रहत कमल जिम न्यारा;
'चिदानन्द' इस्या जन उत्तम, सो साहिब का प्यारा ।।अ० ५।।

मुक्ति का एक मात्र उपाय–समता :

उपाध्याय यशोविजय ने तो अपने 'अध्यात्मसार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मे ६वा अधिकार केवल समता पर ही लिख दिया है, जिसके २६ श्लोक है। उसके कुछ श्लोको मे समता का माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि 'मुक्ति का एकमात्र उपाय समता है। समता को छोडकर जो भी कष्टकारी क्रियाएँ की जाती है वे ऊसर भूमि मे वोये हुए बीज के समान निष्फल होती है। अन्य लिग अर्थात् जैन साधको से भिन्न भेप वाले जो भी सिद्ध हुए है, उनकी साधना का आधार केवल समता ही रहा है। ज्ञान का फल भी समता ही है। समता ही वास्तविक सुख है। समता ही मोक्ष मार्ग की दीपिका है। भरत चक्रवर्ती आदि ने वाह्य रूप से तो कोई धार्मिक क्रिया नही की पर समता अर्थात् वीतराग भाव प्राप्त कर लिया तो मोक्ष हो गया। दान करने, तप करने से क्या लाभ, यम-नियम के पालन से भी क्या फायदा यदि समभाव प्राप्त नही हुआ। ससार-समुद्र को पार करने के लिए नौका एकमात्र समता ही है। स्वर्ग का सुख तो दूर है और मुक्ति उससे भी दूर है। पर समभाव का सुख तो हमारे सामने है। समता रूपी अमृत कुण्ड मे स्नान करने से क्रोध आदि ताप और काम-विप नष्ट हो जाता है। सुख शाति के लिए समता अमृतमय मेघ वृष्टि के समान है। ममता का त्याग होने पर समता स्वत प्रकट होती है। पदार्थो मे प्रियत्व और अप्रियत्व की कल्पना छोडकर अपने स्वभाव मे स्थित रहना ही समता है। इष्ट और अनिष्ट के दोनो विकल्प कल्पित हैं। इन दोनो विकल्पो के नष्ट होने पर समता प्रकट होती है।'

योगनिष्ठ आचार्य बुद्धिसागर सूरिजी ने समता को ही गुण का भण्डार बताते हुए अपने भजन मे लिखा है—

[राग आसावरी व धन्यासरी]

सदा सुखकारी, प्यारी समता गुण भण्डार ।।सदा०।।
ज्ञानदशा फल जाणीयेरे, तप जप लेखे मान,
समता विण साधुपणु रे, कास-कुसुम उपमान ।।सदा० १।।
वेद पढो आगम पढो रे, गीता पढो कुरान,
समता विण शोभे नही रे, समझो चतुर सुजाण ।।सदा० २।।
निश्चय साधन आत्मनु रे, समता योग बखाण,
अध्यात्म योगी थवारे, समता प्रशस्य प्रमाण ।।सदा० ३।।
समता विण स्थिरता नही रे, स्थिरता लीनता काज,
समता दु ख-हरणी सदा रे, समता गुण सिरताज ।।सदा० ४।।
पर परिणति त्यागी मुनि रे, समता मा लयलीन,
नरपति सुरपति साहिबा रे, तस आगल छे दीन ।।सदा० ५।।
राची निजपद ध्यानधी रे, सेवो समता सार,
'बुद्धिसागर' पीजिये रे, समतामृत गुणाकार ।।सदा० ६।।

अव प्रश्न यही रह जाता है कि समता को इतना महत्त्व क्यो दिया गया और उसकी साधना कैसे की जाय ? इन प्रश्नो के समाधान के लिए जैन दर्शन की गहराई मे डुबकी लगानी पडेगी ।

समत्व आत्मा का स्वभाव :

पहली बात तो यह है कि समत्व आत्मा का स्वभाव है । विषमता और ममता तो 'पर' के सयोग से आती है जबकि समता सहज स्वभाव है । ममता और विषमता जिसे हम राग और द्वेष कहते हैं कर्म वध के दो प्रमुख कारण हैं । इससे मोह और क्षोभ पैदा होता है । राग भाव की पकड़ वहुत गहरी है । द्वेष तो उसी के कारण उत्पन्न होता है । इसीलिए मोहनीय कर्म को सव कर्मों से अधिक वलवान व लम्वी स्थिति का माना है । राग और द्वेष दोनो का उसी एक मे समावेश हो जाता है । एक मोहनीय कर्म के क्षय होते ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय तीनो घाती कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं ।

मोह राजा के दो शक्तिशाली बेटे है, 'मै' और 'मेरा'। 'मै' अहम् भाव है तथा 'मेरा', ममता भाव है। ममता का मिट जाना ही समता का प्रकट हो जाना है। सारे दु.खो का मूल या बाप मम-भाव है और सभी सुखो का मूल सम-भाव है। स्वभाव मे स्थिर रहना लीन या मगन रहना ही समता है और वही सवर और निर्जरा है। मोक्ष इन दोनों के बिना प्राप्त हो ही नही सकता। नये कर्मों के बध को रोकना सवर है। वह सम-भाव पूर्वक ही होता है और तभी पुराने कर्मो की निर्जरा होने लगती है। और मोक्ष तभी मिल सकता है। अत: समता को महत्त्व देना वाजिब है।

समता की साधना :

दूसरे प्रश्न का समाधान यह है कि समता की साधना का अभ्यास बढाने के लिए ही स्वाध्याय और ध्यान को महत्त्व दिया गया है। स्वाध्याय के द्वारा तत्त्व के स्वरूप का निर्णय किया जाता है। सबसे पहले तो मै कौन हूँ, इस पर गम्भीर विचारणा होनी चाहिये। यह शरीर मैं नही हूँ। शरीर मेरे सामने छुट जाता है, पडा रहता है। आत्मा उसमे रहती है तभी तक वह सक्रिय रहता है, इसलिए मै आत्मा हूँ, शरीर और अन्य बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध चिरस्थायी नही है। आत्मा अजर-अमर और शुद्ध-बुद्ध एव मुक्त है। इस तरह का भेद विज्ञान ही सम्यग्-दर्शन या आत्म-दर्शन है। मोक्ष मार्ग मे इसीलिए पहले सम्यग्-दर्शन को स्थान दिया गया है। उसके बिना ज्ञान, कुज्ञान और अज्ञान है, चारित्र, कुचारित्र है। ऐसा ज्ञान व चारित्र मोक्ष का हेतु नही हो सकता। सम्यग्-दर्शन होते ही कुज्ञान, सम्यग्ज्ञान और कुचारित्र सम्यग्-चारित्र वन जाता है। मोक्ष मार्ग या समभाव साधना की यह पहली सीढी है क्योंकि विपमता और ममता, मोह और अज्ञान के कारण ही होती है। विषमता भेद वुद्धि है और समता अभेद बुद्धि है। भेद से अभेद की ओर वढना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

ज्ञाता-द्रष्टा-भाव ही समभाव की सवसे वडी कुजी है। मेरा धर्म या स्वभाव, ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा देखना और जानना है, पर उसमे इष्ट-अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छा-वुरा, ये सव कल्पनाये कल्पित, आरोपित और मोहनीय के कारण है। वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसको उसी रूप मे मानना ही सम्यग् दर्शन है। उसमे इष्ट-अनिष्ट भाव न आने देना ही समता है। समता आने से ममता और विपम-भाव मिट जाते है। यो कहा जाय ममता और विपमता के घटने और नष्ट होने पर समता उत्पन्न होती है, इसलिए हम केवल 'ज्ञाता द्रष्टा भाव' से मध्यस्थ वने रहे। अच्छा और वुरा जो भी है या होना है, उसे हम केवल देखते रहे। पर अनासक्त भाव रखे। 'आता है सो आने दो, जाता है सो जाने दो और होता है सो होने दो, इन तीन महामत्रो

का जाप खूब दृढता से करते रहे। इन तीनो अवस्थाओ मे मेरा कुछ भी बनता-बिगडता नही है। दु ख के साथ सुख और जीवन के साथ मरण लगा हुआ है। उसमे क्या हर्ष और क्या शोक ? ये तो पर्यायें हैं, बदलती ही रहेगी। मेरे हर्ष-शोक करने से भी इस परिवर्तन को मैं रोक नही सकता तो मैं अपने स्वभाव मे ही स्थिर क्यो न रहूँ ? समता मे ही आनन्द है, शाति है, सुख है। कष्ट होता है वह शरीर को होता है, आत्मा को नही। इसी भावना से तो महापुरुषो ने बडे-बडे कष्ट सहे पर समभाव मे रहे। हम भी स्वाध्याय, ध्यान, मौन, मैत्री, क्षमा आदि भावो से समता की ओर बढते रहे।

१६

बौद्ध धर्म व दर्शन में समता का स्वरूप

□ डॉ० संघसेन सिह

इस बात पर प्राय. सारे इतिहासकार सहमत है कि ईसा पूर्व छठी-पाचवी सदियो मे उत्तर भारत मे सामाजिक हलचलो का दौर चल रहा था। सोलह महाजनपदो का उभडना, बिम्बिसार व अजातशत्रु के नेतृत्व मे मगध का और प्रसेनजित् के नेतृत्व मे कोसल का उदय व विकास, आदि बहुत सी घटनाए है जो इन्ही सदियो के दौरान घट रही थी। इन सब बातो से ऐसा लगता है कि समाज एक नई-नई सामाजिक व्यवस्था के लिये उछाल ले रहा था, जिसमे यकीनन पुरानी मरणशील दासव्यवस्था के स्थान पर एक नई व सजीव व्यवस्था जन्म लेने जा रही थी। वह थी सामन्तवादी व्यवस्था। इस प्रकार आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक हलचल एक क्राति के लक्षण थे, जो इन दो सदियो मे मुकम्मिल हो रही थी। ऐसी स्थिति मे क्या यह सम्भव था कि सिद्धार्थ, वर्धमान जैसे नौजवान चुप बैठे रहते और उस क्राति को आगे बढाने मे भागीदार न बनते। ऐसा लगता है कि नये उभडते शासकवर्ग के अपने अन्तर्विरोध इतने तेजी से उभड रहे थे कि उनकी लपेट मे उस समय के तमाम जागरूक नौजवान आ गये थे। यही कारण है बडे-बडे घरानो के कुलपुत्र अपना घरबार छोडकर आवाम को सगठित करने मे लग गये थे। हालाकि यह और बात है कि इन सब सगठनो का बाहरी रूप धार्मिक था। इस बात के तमाम सबूत दिये जा सकते है कि बुद्ध व महावीर के गृहत्याग बहुत ही सोचे-समझे कदम थे और यही कारण है कि उनका बहुत व्यापक प्रभाव पडा।

अपने सगठन 'भिक्षुसघ' को सुचारू रूप से चलाने के लिये बुद्ध ने समय-समय पर जिन नियमो का विधान किया, उन्हे 'विनय' का नाम दिया गया। इनमे 'दश शिक्षापद' वे नियम हैं, जिन्हे भिक्षुओं के श्रमण-जीवन

की पहली सीढी कहे तो कुछ भी अत्युक्ति नही होगी। इन शिक्षापदो मे पहला है अहिंसा—प्राणातिपात से विरत होना। इस शिक्षापद से बुद्ध का समतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। इसके अनुसार किसी भी जीव का वध करना मना है। बाद मे चलकर जब विनय के नियम और जटिल बनाये गये, तब तो इस शिक्षापद का उल्लघन करने वाला सबसे कठोर दण्ड का भागीदार माना गया। वह दण्ड था 'पाराजिक', जिसके अनुसार अपराधी भिक्षु को सघ से हमेशा के लिये अलग कर दिया जाता था।

भिक्षुसघ मे प्रवेश देने मे बुद्ध ने कभी भेदभाव नही बरता। यह बात और है कि उन्होने अपने सघ की बढोतरी के लिये कुछ ऐसे नियम बनाये, जिनसे वे तत्त्व छट जाते थे जो सघ के लिये घातक माने जाते थे। उन्होने अपने सघ का द्वार सबके लिये खोल रखा था। हालाकि यह बात एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रारम्भ मे स्त्रियो के सघ मे प्रवेश पर पाबन्दी थी, जो बाद मे चल कर ढीली कर दी गई। जहा तक विविध वर्णों व जातियो का प्रश्न है, बुद्ध उनके प्रति कभी भेदभाव बरतते नही दिखाई पडते। उनके सघ मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी प्रवेश पाते थे। सच तो यह है कि बुद्ध ने एक स्थान पर बडे दावे के साथ कहा है कि उनके सघ मे आने पर तमाम वर्णों के लोग उसी तरह आत्मसात हो जाते है जैसे समुद्र मे गिरने पर सभी नदियो का जल समुद्र-मय हो जाता है और यह कहना सम्भव नही कि यह गगा का पानी है या सरयू का, या अन्य नदियो का।

अपने पहले धर्मोपदेश मे—जिसका नाम 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' दिया गया—बुद्ध ने अपने खोजे हुए सत्यो को स्पष्ट करते हुए कहा था कि दु ख है, उसका कारण भी है और यह कि उसका निरोध भी है। उस समय के धार्मिक नेताओ के बयानो से पता चलता है कि इस समस्या के समाधान के लिये वे तरह-तरह की अटकले प्रस्तुत करते थे। बुद्ध ने इस सम्बन्ध मे जो नुस्खा पेश किया था वह निहायत आसान व युक्ति सगत था। उन्होने अपने शिष्यो से दो अतियो को छोडने को कहा। ये दो अतिया थी—अपनी निजी मुक्ति के लिये अत्य-धिक भोगविलास मे लिप्त होना और अपने शरीर को अत्यधिक तपाना या कष्ट देना। बुद्ध ने—जैसा कि उनकी जीवनी के पन्नो से, जो आज बिखरी व टूटे-फूटे रूप मे मिलती है, मालूम होता है—इन दोनो अतियो का न केवल बहिष्कार ही किया, बल्कि मुक्ति के मार्ग मे बाधक बताकर अपने शिष्यो को उनसे बचने की सलाह दी। उन्होंने इन दोनो अतियो के बीच का रास्ता निकाला। अपने पहले धर्मोपदेश के बाद और जब उनकी शिष्य मडली के रूप मे सगठित होकर एकसठ 'अरहतो' का एक सगठन बन गया, उन्होंने अपने शिष्यो को तमाम जगहो मे घूम-घूम कर बहुतो के हित व

१६

बौद्ध धर्म व दर्शन में समता का स्वरूप

□ डॉ० संघसेन सिंह

इस बात पर प्राय सारे इतिहासकार सहमत है कि ईसा पूर्व छठी-पाचवी सदियो मे उत्तर भारत मे सामाजिक हलचलो का दौर चल रहा था। सोलह महाजनपदो का उभडना, बिम्बिसार व अजातशत्रु के नेतृत्व मे मगध का और प्रसेनजित् के नेतृत्व मे कोसल का उदय व विकास, आदि बहुत सी घटनाए है जो इन्ही सदियो के दौरान घट रही थी। इन सब बातो से ऐसा लगता है कि समाज एक नई-नई सामाजिक व्यवस्था के लिये उछाल ले रहा था, जिसमे यकीनन पुरानी मरणशील दासव्यवस्था के स्थान पर एक नई व सजीव व्यवस्था जन्म लेने जा रही थी। वह थी सामन्तवादी व्यवस्था। इस प्रकार आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक हलचल एक क्राति के लक्षण थे, जो इन दो सदियो मे मुकम्मिल हो रही थी। ऐसी स्थिति मे क्या यह सम्भव था कि सिद्धार्थ, वर्धमान जैसे नौजवान चुप बैठे रहते और उस क्राति को आगे बढाने मे भागीदार न बनते। ऐसा लगता है कि नये उभडते शासकवर्ग के अपने अन्तर्विरोध इतने तेजी से उभड रहे थे कि उनको लपेट मे उस समय के तमाम जागरूक नौजवान आ गये थे। यही कारण है बडे-बडे घरानो के कुलपुत्र अपना घरबार छोडकर आवाम को सगठित करने मे लग गये थे। हालाकि यह और बात है कि इन सब सगठनो का बाहरी रूप धार्मिक था। इस बात के तमाम सबूत दिये जा सकते है कि बुद्ध व महावीर के गृहत्याग बहुत ही सोचे-समझे कदम थे और यही कारण है कि उनका बहुत व्यापक प्रभाव पडा।

अपने सगठन 'भिक्षुसघ' को सुचारु रूप मे चलाने के लिये बुद्ध ने समय-समय पर जिन नियमो का विधान किया, उन्हे 'विनय' का नाम दिया गया। इनमे 'दश शिक्षापद' वे नियम हैं, जिन्हे भिक्षुओ के श्रमण-जीवन

की पहली सीढी कहे तो कुछ भी अत्युक्ति नही होगी। इन शिक्षापदो मे पहला है अहिसा—प्राणातिपात से विरत होना। इस शिक्षापद से बुद्ध का समतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। इसके अनुसार किसी भी जीव का वध करना मना है। बाद मे चलकर जब विनय के नियम और जटिल बनाये गये, तब तो इस शिक्षापद का उल्लघन करने वाला सबसे कठोर दण्ड का भागीदार माना गया। वह दण्ड था 'पाराजिक', जिसके अनुसार अपराधी भिक्षु को सघ से हमेशा के लिये अलग कर दिया जाता था।

भिक्षुसघ मे प्रवेश देने मे बुद्ध ने कभी भेदभाव नही बरता। यह बात और है कि उन्होने अपने सघ की बढोतरी के लिये कुछ ऐसे नियम बनाये, जिनसे वे तत्त्व छट जाते थे जो सघ के लिये घातक माने जाते थे। उन्होने अपने सघ का द्वार सबके लिये खोल रखा था। हालाकि यह बात एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रारम्भ मे स्त्रियो के सघ मे प्रवेश पर पाबन्दी थी, जो बाद मे चल कर ढीली कर दी गई। जहा तक विविध वर्णों व जातियो का प्रश्न है, बुद्ध उनके प्रति कभी भेदभाव बरतते नही दिखाई पडते। उनके सघ मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी प्रवेश पाते थे। सच तो यह है कि बुद्ध ने एक स्थान पर बडे दावे के साथ कहा है कि उनके सघ मे आने पर तमाम वर्णों के लोग उसी तरह आत्मसात हो जाते है जैसे समुद्र मे गिरने पर सभी नदियो का जल समुद्र-मय हो जाता है और यह कहना सम्भव नही कि यह गगा का पानी है या सरय का, या अन्य नदियो का।

अपने पहले धर्मोपदेश मे—जिसका नाम 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' दिया गया—बुद्ध ने अपने खोजे हुए सत्यो को स्पष्ट करते हुए कहा था कि दु ख है, उसका कारण भी है और यह कि उसका निरोध भी है। उस समय के धार्मिक नेताओ के बयानो से पता चलता है कि इस समस्या के समाधान के लिये वे तरह-तरह की अटकलें प्रस्तुत करते थे। बुद्ध ने इस सम्बन्ध मे जो नुस्खा पेश किया था वह निहायत आसान व युक्ति सगत था। उन्होने अपने शिष्यो से दो अतियो को छोडने को कहा। ये दो अतिया थी—अपनी निजी मुक्ति के लिये अत्यधिक भोगविलास मे लिप्त होना और अपने शरीर को अत्यधिक तपाना या कष्ट देना। बुद्ध ने—जैसा कि उनकी जीवनी के पन्नो से, जो आज बिखरी व टूटे-फूटे रूप मे मिलती है, मालूम होता है—इन दोनो अतियो का न केवल बहिष्कार ही किया, बल्कि मुक्ति के मार्ग मे बाधक बताकर अपने शिष्यो को उनसे बचने की सलाह दी। उन्होंने इन दोनो अतियो के बीच का रास्ता निकाला। अपने पहले धर्मोपदेश के बाद और जब उनकी शिष्य मडली के रूप मे सगठित होकर एकसठ 'अरहतो' का एक सगठन बन गया, उन्होने अपने शिष्यो को तमाम जगहो मे घूम-घूम कर बहुतो के हित व

सुख[1] के लिए 'धम्म' का उपदेश करने को कहा। उनके इस उपदेश से यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि वे लोगो के 'दु ख' से पूरी तरह चिन्तित थे और यह कि उनकी दृष्टि में 'मानव'[2] का दर्जा पहला था और उसकी मुक्ति उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह बात इतिहास विदित है कि इस सच्चाई तक पहुँचने के लिये उन्होने कितनी कठिनाइयो का सामना किया, कितनी परेशानियो से गुजरे और कितनी ही यातनाये झेली। इस सच्चाई की प्राप्ति के लिये उनका त्याग भी सम्भवत· अभूतपूर्व था। उन्होने राजा होने की सम्भावना को एक किनारे फेंक दिया, पूरी तरह से सगठित कई धर्म-संघों की रहनुमाई को लात मार दी,[3] बिम्बिसार की सशक्त सेना का सेनापति पद ठुकरा दिया,[4] आदि-आदि। उनके लिये 'मानव' से बढकर और ऊँचा कोई तत्त्व नही था। बुद्ध ने तमाम जन-समूह को, दुःखो से तड़पते-बिलखते देखा, उनके दु खो से निराकरण का मार्ग खोज निकाला, जिससे कि उन्हे त्राण मिल सके। छ· साल की घोर तपस्या, उसके बाद का सतत ध्यान व समाधि—सबका सब उस दु ख के नष्ट करने के लिये था, जिससे तमाम जनता त्रस्त थी। बुद्धत्व प्राप्ति के वाद अपने पाच वर्गीय शिष्यो से मिलने पर, जो पहले भी उनके शिष्य व सहयोगी थे और पथभ्रष्ट समझकर छोडकर चले गये थे, उन्होने बडे साफ शब्दो मे उनको सम्बोधित करते हुए, अपने साथ आने को कहा और इस वात की घोषणा की कि उन्होने मुक्ति का मार्ग ढूंढ निकाला है जिसका अनुसरण करने पर वे अपने दु खो का अन्त बखूबी कर सकते हैं। उन्होने अपने शिष्यो को यह पूरी तरह स्पष्ट कर दिया था कि हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति स्वय व स्वत. प्राप्त करनी होगी। तथागत तो उनके लिये सिर्फ रहबर हैं।[5] वे अपनी मुक्ति के लिये उनपर निर्भर न रहे। वास्तव मे बुद्ध की सबसे वडी उपलब्धि इस वात मे थी कि उन्होने अपने शिष्यो मे एक ऐसा स्वावलम्बन पैदा किया था कि जिससे वे स्वत. अपनी मुक्ति प्राप्त कर सके और दूसरो पर निर्भर न रहे।

इस सम्बन्ध मे इस वात का निर्देश करना शायद असगत न होगा कि प्रारम्भिक बौद्धधर्म का यह स्वरूप कालान्तर के बौद्धधर्म से इतना भिन्न हो

---

१. बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, देखिये महावग्ग (विनय पिटक)।

२. यहा यह शब्द प्राय उसी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है, जिस अर्थ मे अंग्रेजी मे 'The Man' शब्द प्रयुक्त होता है।

३ देखिये महावग्ग। सारिपुत्त व मोग्गल्लान के पहले वाले धर्म नेता सजय ने ऐसा प्रस्ताव रखा था।

४ देखिये—पधानसुत्त, सुत्तनिपात।

५ तुम्हे व किच्च आतप्प अक्खातारो तथागता। देखिये—धम्मपद

गया कि दोनो मे जमीन-आसमान का अन्तर दीख पडने लगा। बाद के बौद्धधर्म मे बोधिसत्त्व सिद्धात इतना दूर तक ले जाया गया कि बोधिसत्त्व ही सारे जीवो की मुक्ति की गारटी देते दिखाई देते हैं। 'बोधिचर्यावतार' मे तो यहा तक कहा गया है कि बोधिसत्त्व ऐसा निश्चय करते है कि वे तब तक अपनी मुक्ति का प्रयास नही करेगे, जब तक कि वे सभी जीवो को मुक्त न करा दें। यही नही, इसके साथ ही साथ अपने पुण्य को दूसरो के लिये निछावर करने का सिद्धान्त भी विकसित हो गया। इससे 'मानव' का मानवपन नीचे गिर गया और वह दूसरो के आश्रय का मुहताज बन गया। पारमिता-प्राप्ति का सिद्धान्त भी इस प्रवृत्ति का शिकार हुआ। मनुष्य स्वय अपने प्रयास से मुक्ति प्राप्त करे, यह भावना तो दूर फेंक दी गई और उसका स्थान ले लिया अन्यान्य बुद्ध क्षेत्रो मे बुद्धो से प्राप्त की गई कृपा ने। बौद्ध की महायान शाखा मे इस भावना का विकास इस हद तक हुआ कि कुछ पारमिताओ को दैवत्व प्राप्त हो गया। प्रज्ञा उनमे से एक थी।[1]

प्रारम्भिक बौद्ध ग्रथो से इस बात के तमाम उद्धरण मिलते है कि बुद्ध ने अपने शिष्यो को बार-बार कहा था कि यदि वे उनके पद चिह्नो पर और उनके बताये मार्ग पर चलते रहेगे, तो उन्हे जीवन का चरम उद्देश्य यानी अर्हत्व अवश्य प्राप्त होगा। उन्होंने इस बात का विधान किया कि जो एक बार स्रोतापन्न हो गया, वह देर-सवेर अर्हत अवश्य होगा। वह अपनी पिछली स्थिति मे नही लौट सकता। मुक्ति मार्ग की चार सीढिया इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। ये सीढिया हैं—स्रोतापत्ति (मार्ग व फल), सकृदागामी (मार्ग व फल), अनागामी (मार्ग व फल) और अर्हत्व (मार्ग व फल)। वास्तव मे प्रारम्भिक बौद्धधर्म मे अर्हत्व प्राप्ति अन्तिम सीढी ही नही, अन्तिम लक्ष्य भी था। कालान्तर मे निब्बान या निर्वाण[2] मुक्तिमार्ग का अन्तिम लक्ष्य बना। बौद्ध धर्म व दर्शन के और विकसित होने पर बुद्धत्व-प्राप्ति एक ऐसा नारा बना कि उसके सामने पिछले सभी घोषित लक्ष्य फीके पडते गये। यह क्रम सिर्फ बौद्ध-धर्म मे ही देखने को नही मिलता, वरन् अन्य धर्मो मे भी देखने को मिलता है। वास्तव मे यह एक समाजशास्त्रीय प्रश्न है। होता यह है कि एक निश्चित समय तक एक लक्ष्य लोगो को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है और बाद मे चलकर वही लक्ष्य फीका पडते-पडते पूरी तरह धूमिल हो जाता है। उस स्थिति मे धर्म-नेताओ को अपने आन्दोलन मे नई प्रेरणा, स्फूर्ति व जान डालने के लिये नया नारा देना पडता है।

---

१ देखिये, प्रज्ञापारमिता साहित्य

२ निब्वान = नि + वान, निर्वाण 7 नि + वृ। इन शब्दो की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है कि निब्वान या निर्वाण शब्द की तरह-तरह की व्याख्या की गई है। प्रारम्भिक मान्यता और बाद की मान्यताओ मे जमीन-आसमान की दूरी हो गई।

जहा कही भी मुक्ति की बात आती है वहा मुक्तिमार्ग के अधिकारी की बात भी सामने आती है। इस सम्बन्ध मे बुद्ध पूरी तरह स्पष्ट थे। उन्होने एलान किया–"चरथ भिक्खवे चारिक बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान ति।"[1] यानी भिक्षुओ, बहुतो के हित व सुख के लिये एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे····स्थानो की चारिका करते चलो। उन्होने दु ख से तडपते लोगो को देखा। इसलिये उस दु·ख से लोगो को त्राण दिलाने के लिये मुक्ति का मार्ग खोज निकाला। यह मार्ग उन्होने सबके लिये बताया। इसमे उन्होने कोई चुनाव नही किया। वस्तुत प्राय· सभी वर्ग के लोग उनके मार्ग के अनुगामी बने—ब्राह्मण भी, शूद्र भी, पुरुष भी, स्त्री भी। ऐसा समझा जाता है कि इतिहास के पन्नो मे बुद्ध पहले व्यक्ति थे, जिन्होने अपने सघ का द्वार शूद्रो व स्त्रियो के लिए भी खोल रखा था। उन्होने शूद्रो व अन्त्यजो को सघ मे प्रवेश दिलाने के लिये 'चातुवण्णपारिसुद्धि' की बात की, जो उस युग के लिये क्रान्तिकारी कदम था। उनकी दृष्टि मे चारो वर्णों के लोग शुद्धि, यानी पवित्रता, यानी मुक्ति के अधिकारी है। इसी प्रकार स्त्रियो को सघ मे प्रवेश दिलाने के लिये उन्होने बडी सूझ-बूझ से काम लिया। हालाकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था—शूद्रो व स्त्रियो—दोनो को मुक्तिमार्ग के कायल सघो मे प्रवेश देने पर नाक-भौ सिकोड रही थी। यह बात अपने मे एक सबूत है कि बुद्ध प्रगति के पक्ष मे थे और उस समय की बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था मे विकासोन्मुख सामाजिक व्यवस्था के पोषक थे।

उस समय की सामाजिक व्यवस्था मे जो बाते बुद्ध के मस्तिष्क को सबसे ज्यादा कुरेद रही होगी, वे थी—तरह-तरह के पूजापाठ के विधान, यज्ञ-याग और उनके साथ जुडी पशु-बलि। बुद्ध इस बात के पूरी तरह कायल थे कि किसी प्रकार का भी धार्मिक अनुष्ठान मुक्ति के मार्ग मे बाधक होता है। इसीलिये 'सीलब्बतपरामास' को उन्होने एक सयोजन, यानी, बन्धन, यानी जकड बताया। उन्होने वैदिक यज्ञ-यागो का इसलिये भी विरोध किया कि उनकी वजह से 'मुक्ति' के लिये मानव प्रयास दूसरे दर्जे पर फेक दिया जाता है और उसका 'मानवपन' नीचे ढकेल दिया जाता है। यज्ञ-याग मे पुरोहित प्रधान भूमिका अदा करता था और 'यजमान' अपनी मुक्ति का मार्ग स्वत नही पाता था। उसकी निजी भूमिका दूसरे दर्जे की हो जाती थी। दैवी शक्तियो मे विश्वास के बजाय बुद्ध ने अपने शिष्यो को यह शिक्षा दी कि वे अपने दिमाग से काम ले और किसी बात को कबूल करने के पहले उसे हर तरह से परखें।

एक बार केसपुत्तगाम के कालामो ने धार्मिक गुरुओं के द्वारा प्रतिपादित

---

1. देखिये, महावग्ग (विनय पिटक)।

धर्म-सिद्धान्तो के असली व नकलीपन के बारे मे बुद्ध स सवाल किया। वे धर्म गुरु प्राय केसपुत्तगाम आते और वहाँ के बाशिन्दो को अपने धार्मिक सिद्धान्तो का बडप्पन और दूसरो के सिद्धान्तो का घटियापन बयान करते। बुद्ध ने उन्हे सलाह दी कि उन्हे अपने दिमाग का इस्तेमाल करना चाहिये और दूसरो के कथन को अपने अनुभवो की कसौटी पर परखना चाहिये। उन्हे चाहिये कि वे उन सिद्धान्तों को तभी ग्रहण करे जब वे उनकी भलाई के लिये साबित हो।[1] बुद्ध ने धर्म-ग्रन्थो की प्रामाणिकता को स्वीकार नही किया। उन्होने उन्हे प्रमाण नही माना। प्रमाणशास्त्र का शब्द-प्रमाण उनके लिये बे-मानो था। उन्होने अपने शिष्यो को अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के लिये कहा और तथाकथित सन्तो व मुनियो के कथनो को पूरी तरह परखकर ही कबूल करने को कहा। मुख्य बात जिस तरफ बुद्ध का सकेत रहा होगा वह यह थी कि मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता होता है, कोई अन्य नही[2]। मनुष्य खुद अपना शरण या द्वीप है न कि कोई और।[3]

बुद्ध के बारे मे प्राय. कहा जाता है कि उन्हे दुनिया मे दु ख ही दु ख नजर आता था। ऐसा समझा जाता है कि उन्होने एक बार कहा था कि लोगो ने अनन्त काल से जितना आसू बहाया है, वह चारो महासमुद्रो में भरे पानी से कही ज्यादा है[4]। यहाँ दु खो का बयान और परिभाषा करते हुये बुद्ध की सीमा यह थी कि उन्होंने दु खो के कारणो को मनुष्य के वैयक्तिक जीवन मे ही देखा। उन्होने दु खो को मनुष्य के सामाजिक सगठनो, सस्थानो और उनके इर्द-गिर्द मनुष्य के कार्य-कलापो में देखने का तनिक भी गवारा नही किया। उन्होने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के दु खो का कारण उसकी अपनी अविद्या और तृष्णा है। एक दृष्टात देते हुये उन्होने अपने शिष्यो को समझाया कि अपने पैर को काटो से बचाने के लिये यह आवश्यक नही कि सारी पृथ्वी को चमडे से ढका जाय, बल्कि यह कि अपने पैरो में जूते डाल दिये जॉय। इसका मतलब यह हुआ कि वे दु.खो का निराकरण व्यक्तिगत क्रिया मे ढूढते थे, न कि सामूहिक क्रिया में। उस युग में शायद इस तथ्य तक पहुँच पाना उनके लिये कठिन था कि लोगो के दु खो का कारण शासकवर्ग की सामूहिक क्रियाये थी और इसीलिये उनके निराकरण के लिए आवाम की सामूहिक क्रियायें आवश्यक थी। उनके उपदेशो से कितने ही उद्धरण देकर साबित किया जा सकता है कि बुद्ध वैयक्तिक सम्पत्ति के खिलाफ थे। लेकिन उस समय के उदीयमान वर्ग—सामन्त,

---

१ देखिये, केसपुत्तगायसुत्त, सयुत्त निकाय।
२ देखिये, धम्मपद, अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
३ देखिये, महापरि निब्बानसुत्त (दीघनिकाय)
४ देखिये, सयुत्त निकाय।

व्यापारी व बैंकर—के साथ जुडे होने के कारण उन्होने खुले रूप मे इसका विरोध नही किया। उन्होने अपने विचारो को सघ के जीवन मे उतारा और नियम बाधकर भिक्षुओ को पालन करने के लिये प्रेरित किया। भिक्षु सघ मे किसी को भी व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार नही था।[1] राहुल साकृत्यायन के कथनानुसार सघ-जीवन मे यह बात सम्भवत कबीलो के जीवन से आई थी जहा आदिम कमुनिज्म उस समय भी जीवित था।[2]

बुद्ध का दर्शन तीन सिद्धान्तो मे सन्निहित है—अनित्यवाद, दु खवाद और अनात्मवाद। पूरा मानव व्यक्तित्व पाच स्कन्धो के रूप मे देखा जाता है। पाँचो स्कन्ध—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान—अनित्य, सस्कृत और प्रतीत्य-समुत्पन्न है। वे नित्य नही है। उनमे हमेशा परिवर्तन होता रहता है। अनित्यवाद का कोई उल्लघन नही। अनात्मवाद के सम्बन्ध मे बुद्ध की स्थिति बहुत ही स्पष्ट है। वे उपनिषदो के आत्मवाद और लोकायतो के उच्छेदवाद के सर्वथा खिलाफ थे। बुद्ध की बात 'मज्झिम निकाय' के मूलसच्चकसुत्त मे बहुत ही साफ-साफ शब्दो मे कही गई है—"रूप अनात्म है, वेदना अनात्म है, सज्ञा अनात्म है, सस्कार अनात्म है, विज्ञान अनात्म है—सक्षेप मे सारे तत्त्व अनात्म है।" बुद्ध के द्वारा उच्छेदवाद का निराकरण तो इसी बात से सिद्ध है कि उन्होने पुनर्जन्म और परलोक को नकारा नही। इसका मतलब यह है कि वे यह जानते थे कि जीवन की प्रक्रिया मृत्यु के साथ ही खत्म नही होती, बल्कि वह उसके बाद भी प्रवाहित होती रहती है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य (जीवन) तभी सम्भव हो सकता है, जब यह मान के चला जाय कि इस जीवन के अच्छे-जीवन बुरे कर्म अगले जन्मो मे तदनुकूल फल उत्पन्न करते है अन्यथा शरीर व जीवात्मा को एक ही मानने वाले लोकायतों की तरह उनके लिये भी ब्रह्मचर्य-जीवन बेमानी ठहरता। लोकायत के लिये सबसे उत्तम मार्ग तो यही है कि वह इसी जीवन मे सारे सुखो का भोग कर ले। दूसरी तरफ शरीर व जीवात्मा को अलग-अलग मानने वालो के लिये ब्रह्मचर्य-जीवन बेमानी है, क्योकि उनके अनुसार आत्मा अजर, अमर और अपरिवर्तनशील है। ब्रह्मचर्य-जीवन से उस पर कोई प्रभाव पडने को नही।

बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व को नही माना। वस्तुतः उनके सिद्धान्तो मे ईश्वर नाम के किसी तत्त्व की कोई गु जाइश ही नही। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धात से तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। बौद्ध धर्म मे सारे तत्त्व[3] अनित्य, सस्कृत और प्रतीत्य समुत्पन्न माने गये है। ऐसी स्थिति मे ईश्वरत्व ठहरता ही

---

१ सुई, चीवर आदि कुछ दैनिक व्यवहार व जरूरत के सामान रखने की मनाही नही थी।

२ देखिए—दर्शन-दिग्दर्शन।

३ निर्वाण व आकाश को छोडकर।

नही। पाथिक सुत्त ग्रौर केवह सुत्त मे बुद्ध ने ईश्वरत्व की मखौल उडाई है ग्रौर कहा है कि ईश्वर मे विश्वास तर्क के प्रतिकूल है। तेविज्ज सुत्त मे ईश्वर मे विश्वास करने वालो की तुलना कतार मे खडे ग्रन्धो से की गई है, जिनमे न तो पहला ही देखता है, न बीच वाला ग्रौर न सबसे पीछे वाला ही। बारीकी से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध मानव को उस बुलन्दी तक ले जाना चाहते थे, जहाँ वह किसी प्रकार की जकड महसूस न करे ग्रौर मुक्ति का मार्ग उसे सहज सुलभ हो जाय।[1]
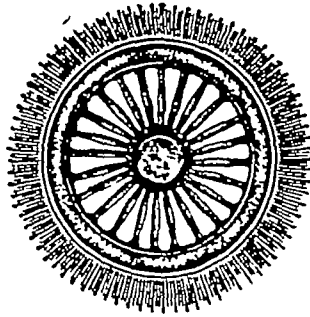
१ इस लेख के लेखक डॉ० सघसेन सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय मे बौद्ध विद्या विभाग के रीडर व ग्रध्यक्ष हैं। उनके द्वारा प्रकट किये गये विचार उनके निजी विचार हैं जिनमे मत-भिन्नता होना सभव है। सम्पादक या साधुमार्गी जैन सघ का इनसे सहमत होना ग्रावश्यक नही है।

—सम्पादक

१७

गीता में समत्व दर्शन

□ डॉ० हरिराम आचार्य

'श्रीमद्भगवद् गीता' मे जहा भी जीवन्मुक्त महात्मा या स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षणो का वर्णन किया गया है, वहा 'समत्व', दृष्टि पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुतः वैषम्य मोघ-दृष्टि का प्रतिफल है, मोह-दृष्टि का आभास है। जहा साधक विषयो के आकर्षण से इन्द्रियग्राम को मुक्त करके अन्त करणो को सयमन द्वारा आत्मा मे प्रतिष्ठित कर लेता है, वही वह विषमता के गुरुत्वाकर्षण से परे एक ऐसे लोक मे सहज विचरण करने लगता है, जहा अनाहत नाद है, अखड आनन्द और सम्पूर्ण समता का साम्राज्य है।

योग का आचरण आसक्ति रहित भाव से करने का उपदेश देते हुए गीताकार ने 'योग' का लक्षण किया है—

समत्वं योग उच्यते[1]

जीवन के प्रत्येक कार्य के फल की सिद्धि या असिद्धि के प्रति समत्व-भाव ही योग है। योग का उपदेश ही गीता का सार है और उस सार मे समत्व-दर्शन ही निहित है। यद्यपि विभिन्न विद्वानो ने गीता मे उपदिष्ट तत्त्वज्ञान की कही कर्मयोगपरक, कही ज्ञानयोगपरक, कही भक्तियोग परक, कही कर्म-सन्यास योगपरक या अनासक्तियोगपरक व्याख्याए की हैं, किन्तु साधना के प्रत्येक मार्ग द्वारा सिद्ध दशा को प्राप्त हुए योगी के सम्पूर्ण लक्षणो का चरम स्वरूप क्या है, यदि यह प्रश्न किया जाय तो उसका उत्तर होगा—'समता'। समत्व दर्शन माला के मणियो मे सूत्र की तरह गीता के सभी तत्त्व दर्शनो मे ओत-प्रोत है।

---

१. २।४८

समदर्शी ही सच्चा योगी है। वह कर्म के विविध फलो के प्रति ही नही, ससार के चर-अचर सभी भूत-समुदय को भी आत्म-दृष्टि से देखता है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करके कहा है :—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि वा दु खं स योगी परमो मतः ।।[1]

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिन ।।[2]

—हे अर्जुन! जो योगी आत्म-सादृश्य से सम्पूर्ण भूतो मे समदृष्टि रखता है, सुख हो या दु ख-दोनो मे जिसकी दृष्टि सम रहती है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाडाल— इन सभी को ज्ञानीजन समभाव से देखने वाले होते हैं।

यहा 'समदर्शी' शब्द का प्रयोग है, 'समवर्ती' का नही। प्राय सकीर्ण विचार के लोग इसका अर्थ यह भी करतें हैं कि गीता दृष्टि के स्तर पर समता और व्यवहार के स्तर पर भेदभाव का प्रच्छन्न उपदेश देती है। यह श्लोक का अर्थ नही अनर्थ है। जैविक स्तर पर 'वर्तन' का अन्तर होना स्वाभाविक है और गुण-कर्म-विभाग के आधार पर व्यवहार भी पृथक् होते हैं। महत्त्व तो 'दृष्टि' का है जो आत्मिक स्तर पर साधक की उपलब्धि होती है। इसलिए ज्ञानी को 'समदर्शी' कहा गया है।

यह समदर्शित्व कर्म के द्विविध फलो या ससार के विभिन्न भूतजात मे ही नही, हर्षशोकादि के द्वन्द्वमय मनोभावो के प्रति भी होना अनिवार्य है। द्वादश अध्याय मे भगवद् भक्त के लक्षणो मे इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त',[3] अनपेक्षः, उदासीन[4], शुभाशुभपरित्यागी[5], 'सम-दु खसुख[6] 'तुल्यनिन्दास्तुति' 'अनिकेतः'[7] पदो का प्रयोग 'समत्व-दर्शन, प्रति-पादन के लिए ही किया गया है। 'स्थितप्रज्ञ' मुनि वही होता है, जो दुःखो मे अनुद्विग्न और सुखो के प्रति निःस्पृह बना रहे, न जिसमे राग हो, न भय, न क्रोध, न द्वेष[8], वही वायुरहित स्थान मे जलती दीपशिखा के समान अकम्प[9] और समुद्र के सदृश 'अचलप्रतिष्ठ' होता है।[10] वस्तुत. समता ही एकता है। यही परमेश्वर का स्वरूप है। इसमे स्थित हो जाने का नाम ही 'ब्राह्मी स्थिति है। जिसकी इसमे गाढ स्थिति होती है, वह त्रिगुणातीत, निर्विकार, स्थितधी, और योगयुक्त कहलाता है। एक ज्ञान-स्वरूप परमात्मा मे वह नित्य स्थित है,

---

१ ६।३२ २ ५।१८ ३ १२।१५ ४ १२।१६
५ १२।१७ ६ १२।१३ ७ १२।१९ ८ २।५६
९ ६।१९ १० २।७०

१८

समता : प्लेटो का दृष्टिकोण

□ श्री के० एल० शर्मा

समता या 'सम का भाव' व्यक्त करने वाले शब्द का प्रयोग करते ही मन मे स्वत ही एक प्रश्न उठता है कि 'समता' किस के बीच ? उदाहरण के लिये अगर यह कहा जाय कि वस्तु 'अ', वस्तु 'ब' के समान है या उनमे समता है तो इस कथन का क्या अर्थ है ? क्या दो वस्तुए एक दूसरे से पूर्णत समान हो सकती है ? वास्तव मे, एक ही वर्ग की दो वस्तुओ मे पूर्ण समता नही होती। उदाहरण के लिए, यह सम्भव हो सकता है कि दो टेबिलो मे रग, ऊचाई, भार आदि गुणो मे समानता हो लेकिन अन्य दृष्टिकोणो से उन दोनो टेबिलो मे अन्तर अवश्य है। यह बात हो सकती है कि उनमे जो असमानता है वह हमे स्पष्ट दिखाई न दे। उस असमानता को देखने मे भौतिकशास्त्री, रसायन-शास्त्री एव वनस्पतिशास्त्री हमारी सहायता कर सकते हैं। विभेदीकरण की इस प्रक्रिया मे हमे भौतिक उपकरणो एव रासायनिक विधियो का सहारा लेना पडेगा।

दो मनुष्यो मे असमानताए तो स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। यहा तक कि एक ही ऑवम से पैदा होने वाले जुडवा बच्चो मे दैहिक समता होते हुए भी मनोवैज्ञानिक असमानताए पाई जाती है। वास्तव मे देखा जाय तो समता एक प्रत्यय (कान्सेप्ट) मात्र है। यह एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्न करते हैं, हमे प्रयत्न करना चाहिये। दो विचारो या वस्तुओ मे समरसता, सामजस्य बैठाने का प्रयत्न करना ही इस तथ्य की ओर इगित करता है कि उन विचारो या वस्तुओ मे पूर्ण समता नही है। दो वस्तुओ या विचारो मे जितनी अधिक समता होगी, उतना ही उनमे सामजस्य होगा। अत समता एक आदर्श है। इस आदर्श को हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड सकते है। आदर्शमय

इसलिए ज्ञानी है । सर्वत्र उसे परमात्मा के दर्शन होते है, इसलिए वह भक्त है । उसे कोई कर्म कभी बाध नही सकता, इसी कारण वह जीवन्मुक्त कहलाता है । समता दृष्टि के कारण वह भूतदयावश लोक सग्रह करता है, निष्काम आचरण करता है, इसलिए वह महात्मा कहलाता है । वह 'विज्ञानानदघन' मे तद्रूप होकर स्थिर रहता है । उसका आनद नित्य, शुद्ध-बुद्ध एव विलक्षण होता है ।

अत. गीता-दर्शन सार रूप मे समत्व-दर्शन ही है । यही समता है, यही अद्वैत है । निम्नलिखित श्लोक मे स्पष्ट शब्दो मे इसी तत्त्व का प्रतिपादन है -

इहैव तैर्जित सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता. ।।[1]

—जिनका मन समत्वभाव मे (साम्ये) स्थित है, उनके द्वारा जीवित अवस्था मे ही सम्पूर्ण ससार (सर्ग) जीत लिया गया है । सच्चिदानदघन ब्रह्म निर्दोष और 'सम' है, अत समत्व बुद्धि वाले वे जीवन्मुक्त वस्तुतः ब्रह्म मे ही स्थित है ।

१८

समता : प्लेटो का दृष्टिकोण

□ श्री के० एल० शर्मा

समता या 'सम का भाव' व्यक्त करने वाले शब्द का प्रयोग करते ही मन मे स्वत ही एक प्रश्न उठता है कि 'समता' किस के बीच ? उदाहरण के लिये अगर यह कहा जाय कि वस्तु 'अ', वस्तु 'ब' के समान है या उनमे समता है तो इस कथन का क्या अर्थ है ? क्या दो वस्तुए एक दूसरे से पूर्णत समान हो सकती हैं ? वास्तव मे, एक ही वर्ग की दो वस्तुओ मे पूर्ण समता नही होती। उदाहरण के लिए, यह सम्भव हो सकता है कि दो टेबिलो मे रग, ऊचाई, भार आदि गुणो मे समानता हो लेकिन अन्य दृष्टिकोणो से उन दोनो टेबिलो मे अन्तर अवश्य है। यह बात हो सकती है कि उनमे जो असमानता है वह हमे स्पष्ट दिखाई न दे। उस असमानता को देखने मे भौतिकशास्त्री, रसायन-शास्त्री एव वनस्पतिशास्त्री हमारी सहायता कर सकते हैं। विभेदीकरण की इस प्रक्रिया मे हमे भौतिक उपकरणो एव रासायनिक विधियो का सहारा लेना पडेगा।

दो मनुष्यो मे असमानताए तो स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। यहा तक कि एक ही ऑवम से पैदा होने वाले जुडवा बच्चो मे दैहिक समता होते हुए भी मनोवैज्ञानिक असमानताए पाई जाती है। वास्तव मे देखा जाय तो समता एक प्रत्यय (कान्सेप्ट) मात्र है। यह एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्न करते हैं, हमे प्रयत्न करना चाहिये। दो विचारो या वस्तुओ मे समरसता, सामजस्य बैठाने का प्रयत्न करना ही इस तथ्य की ओर इगित करता है कि उन विचारो या वस्तुओ मे पूर्ण समता नही है। दो वस्तुओ या विचारो मे जितनी अधिक समता होगी, उतना ही उनमे सामंजस्य होगा। अत समता एक आदर्श है। इस आदर्श को हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड सकते है। आदर्शमय

इसलिए ज्ञानी है। सर्वत्र उसे परमात्मा के दर्शन होते है, इसलिए वह भक्त है। उसे कोई कर्म कभी बाध नही सकता, इसी कारण वह जीवन्मुक्त कहलाता है। समता दृष्टि के कारण वह भूतदयावश लोक सग्रह करता है, निष्काम आचरण करता है, इसलिए वह महात्मा कहलाता है। वह 'विज्ञानानदघन' मे तद्रूप होकर स्थिर रहता है। उसका आनद नित्य, शुद्ध-बुद्ध एव विलक्षण होता है।

अतः गीता-दर्शन सार रूप मे समत्व-दर्शन ही है। यही समता है, यही अद्वैत है। निम्नलिखित श्लोक मे स्पष्ट शब्दो मे इसी तत्त्व का प्रतिपादन है –

इहैव तैर्जित सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः।
निर्दोषं हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥[1]

—जिनका मन समत्वभाव मे (साम्ये) स्थित है, उनके द्वारा जीवित अवस्था मे ही सम्पूर्ण ससार (सर्ग) जीत लिया गया है। सच्चिदानदघन ब्रह्म निर्दोष और 'सम' है, अत. समत्व बुद्धि वाले वे जीवन्मुक्त वस्तुत ब्रह्म मे ही स्थित है।

१८

समता : प्लेटो का दृष्टिकोण

☐ श्री के० एल० शर्मा

समता या 'सम का भाव' व्यक्त करने वाले शब्द का प्रयोग करते ही मन मे स्वत ही एक प्रश्न उठता है कि 'समता' किस के बीच ? उदाहरण के लिये अगर यह कहा जाय कि वस्तु 'अ', वस्तु 'ब' के समान है या उनमे समता है तो इस कथन का क्या अर्थ है ? क्या दो वस्तुए एक दूसरे से पूर्णत समान हो सकती है ? वास्तव मे, एक ही वर्ग की दो वस्तुओ मे पूर्ण समता नही होती। उदाहरण के लिए, यह सम्भव हो सकता है कि दो टेविलो मे रग, ऊचाई, भार आदि गुणो मे समानता हो लेकिन अन्य दृष्टिकोणो से उन दोनो टेविलो मे अन्तर अवश्य है। यह वात हो सकती है कि उनमे जो असमानता है वह हमे स्पष्ट दिखाई न दे। उस असमानता को देखने मे भौतिकशास्त्री, रसायन-शास्त्री एव वनस्पतिशास्त्री हमारी सहायता कर सकते हैं। विभेदीकरण की इस प्रक्रिया मे हमे भौतिक उपकरणो एव रासायनिक विधियो का सहारा लेना पडेगा।

दो मनुष्यो मे असमानताए तो स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। यहा तक कि एक ही ऑवम से पैदा होने वाले जुडवा वच्चो मे दैहिक समता होते हुए भी मनोवैज्ञानिक असमानताए पाई जाती हैं। वास्तव मे देखा जाय तो समता एक प्रत्यय (कान्सेप्ट) मात्र है। यह एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्न करते हैं, हमे प्रयत्न करना चाहिये। दो विचारो या वस्तुओ मे समरसता, सामजस्य वैठाने का प्रयत्न करना ही इस तथ्य की ओर इगित करता है कि उन विचारो या वस्तुओ मे पूर्ण समता नही है। दो वस्तुओ या विचारो मे जितनी अधिक समता होगी, उतना ही उनमे सामजस्य होगा। अत समता एक आदर्श है। इस आदर्श को हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड सकते है। आदर्शमय

जीवन अथवा जीवन मे पूर्णता तभी सम्भव है जबकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे 'समभाव' की स्थिति प्राप्त हो, दैहिक, मानसिक एव आध्यात्मिक पहलुओ मे सामजस्य हो।

सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो (४२८-३४७ ई० पूर्व) की बहुचर्चित पुस्तक (डायलॉग) 'रिपब्लिक' की प्रमुख थीम 'समरसता' है। प्लेटो की उपर्युक्त पुस्तक मे वर्णित, समाज, आत्मा, शिक्षा एवं कला सम्बन्धी विचारो मे इसी आदर्श—समरसता का आदर्श—की प्राप्ति की झलक मिलती है। इस सक्षिप्त लेख मे, हम प्लेटो के 'समरसता' के 'प्रत्यय' पर चर्चा करेगे।

प्लेटो के रिपब्लिक की प्रमुख समस्या है—न्याय (नैतिकता) का स्वरूप क्या है? तथा क्या अन्यायी व्यक्ति (अनैतिक व्यक्ति) न्यायी व्यक्ति की तुलना मे सुखी रहता है? प्रथम प्लेटो इन प्रश्नो के प्रचलित उत्तरो का खण्डन करते है। इसके उपरान्त इन प्रश्नो के उत्तर के लिए 'आदर्श राज्य' की कल्पना करते है। पहले उन्होने इन प्रश्नो का उत्तर समाज के सदर्भ मे देने का प्रयत्न किया है और इसके बाद (उन्ही तर्को के आधार पर) आत्मा या व्यक्ति के सदर्भ मे न्याय के प्रश्न पर चर्चा की है।

प्लेटो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते है कि मनुष्यो मे वैयक्तिक भिन्नताए होती है। दूसरे शब्दो मे, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूर्णरूपेण समान नही होता। उनमे कई दृष्टियो से असमनाताए होती है। इसीलिये प्लेटो की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलना चाहिये। इतना ही नही, कार्यो के स्वरूप मे भी भिन्नताएं होती है।। अतः कार्यो या व्यवसायों की मागो के अनुसार व्यक्तियो का चुनाव करना चाहिए। प्लेटो के इस मत को सार रूप मे इस प्रकार कह सकते है कि 'काम को आदमी और आदमी को काम' मिलना चाहिये।

यहा एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है। वह प्रश्न है प्लेटो का इस सब से क्या आशय है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि कोई समाज आदर्श समाज तभी बन सकता है जब प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिले। व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण क्षमता का प्रदर्शन इसी स्थिति मे कर सकता है, अन्यथा नही। जब सभी नागरिक अपनी क्षमता के अनुसार पूरा-पूरा काम करेगे तो समाज मे सामजस्य उत्पन्न होगा। सामजस्य से युक्त समाज प्रगति करता है और उसके नागरिक सुखी होते है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके है कि न्याय की समस्या को प्लेटो ने दो संदर्भो मे उठाया है—प्रथम राज्य (समाज) के संदर्भ मे तथा द्वितीय व्यक्ति या

ग्रात्मा के सदर्भ मे। प्लेटो के ग्रादर्श राज्य मे तीन कोटियो के व्यक्ति है—उत्पादक वर्ग (Economic class), सैनिक वर्ग तथा शासक वर्ग। इन व्यक्तियो को उनकी योग्यता के ग्राधार पर ही इन वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को केवल वही कर्म करना चाहिये जो कि उसके वर्ग के लिए करना है। समाज मे ग्रसामान्य स्थिति तव उत्पन्न होती है जव व्यक्ति ग्रपना कार्य छोडकर, ग्रथवा ग्रपने कार्य के साथ-साथ ग्रन्य कार्य भी करने लगे। ऐसा करने पर व्यक्ति ग्रपने मूल कार्य को भली प्रकार पूर्ण क्षमता से नही कर पायेगा। उदाहरण के लिये ग्रगर कोई ग्रध्यापक, ग्रध्यापन कार्य के साथ-साथ व्यापार भी करने लगे तो वह ग्रपने मूल कार्य—ग्रध्यापन को भली-भाति नही कर पायेगा। इसका छात्रो एव समाज पर बुरा प्रभाव पडेगा। प्लेटो ने 'एक ग्रादमी ग्रौर एक काम' (One man, one job) का नारा दिया। इसका तात्पर्य ही यही था कि व्यक्ति की पूरी क्षमता का उपयोग करना ग्रौर सामाजिक सामजस्यता को वनाये रखना।

उत्पादक वर्ग का काम वस्तुग्रो का उत्पादन करना एव विनिमय करना है। ग्रगर उत्पादक, सैनिक या शासक के कार्य मे भी रुचि लेने लगे तो इसका उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडेगा। इसलिये प्लेटो ने उत्पादक वर्ग के लिये जिस सद्गुण की चर्चा की है वह है—'ग्रात्म निग्रह'। ग्रात्मनिग्रह से तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को जो कार्य सौपा गया है, उसे वह दत्तचित्त होकर करे ग्रौर ग्रन्य कार्यो मे लगकर ग्रपनी शक्ति नष्ट न करे।

प्रत्येक व्यक्ति या व्यवसाय समाज के लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि कोई ग्रन्य व्यवसाय। सैनिक वर्ग का कार्य उत्पादक वर्ग की सहायता करना एव देश की शत्रुग्रो से रक्षा करना है। इस वर्ग के व्यक्तियो मे 'साहस' का गुण तो होना ही चाहिए लेकिन इसके साथ-साथ ग्रात्म-निग्रह भी ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है। सैनिक मे ग्रगर साहस न होगा तो वह ग्रपनी एव ग्रपने देश की रक्षा नही कर पायेगा। ग्रात्मनिग्रह का सैनिको के सन्दर्भ मे, ग्रर्थ है, शौर्य का यथास्थान प्रदर्शन करना। शासक वर्ग मे उपर्युक्त दो गुणो—ग्रात्म निग्रह एव साहस—के साथ-साथ 'विवेक' भी होना चाहिये। 'विवेक' ही ऐसा गुण है जिसके ग्राधार पर वह 'क्या करना चाहिये ग्रौर क्या नही करना चाहिये' मे भेद स्थापित कर सकता है। समाज ग्रादर्श समाज तभी वन सकता है जव प्रत्येक व्यक्ति ग्रपने-ग्रपने कार्य को ग्रपनी सम्पूर्ण क्षमता से करे। समाज मे पतन तव ग्राता है जव व्यक्ति ग्रपना 'कर्म' छोडकर ग्रन्य कर्म भी करना चाहे। शासक जव सैनिक भी वनना चाहे या सैनिक शासक वनना चाहे तो समाज मे ग्रव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति के इतिहास मे वहुत से प्रमाण मिल जायेंगे।

'न्याय' को प्लेटो ने चतुर्थ सद्गुण माना है। पर यह ग्रन्य तीन सद्गुणो

—आत्म निग्रह, साहस एव विवेक—से भिन्न कोई अन्य सद्गुण नही है वरन् इसकी उत्पत्ति इन्ही के सामजस्य से होती है। न्यायी समाज वह समाज है जिसमे उपर्युक्त तीनो गुणो मे पूर्ण सामजस्य हो। दूसरे शब्दो मे समाज के सभी वर्ग मिलजुल कर कार्य करे, तभी समाज 'न्यायी' समाज बनता है।

यह प्रश्न कि व्यक्ति कर्त्तव्य भावना से काम क्यो करे जबकि उसे इसमे किसी प्रकार का सुख (भौतिक) न मिलता हो, उठना स्वाभाविक है। इस प्रश्न की ओर प्लेटो का ध्यान था। इसीलिये आदर्श राज्य मे सामजस्यता लाने के लिए प्लेटो ने कहा कि धन एव अन्य भौतिक सुविधाए रखने की छूट केवल उत्पादक वर्ग को ही मिलेगी। शासक वर्ग को इस प्रकार की कोई सुविधा नही होगी। उसने तो यहा तक कहा है कि शासक वर्ग का परिवार भी नही होगा। (प्लेटो आज के समान, यह मानते थे कि व्यक्ति भ्रष्ट कार्य परिवार के लिये सम्पत्ति इकट्ठा करने के लिए ही करता है।)

प्लेटो ने समाज को एक मूर्ति के समान माना। मूर्ति की सुन्दरता इस बात मे निहित है कि उसके सभी अगो मे समरसता हो। कोई एक अग अति सुन्दर हो तथा अन्य अग उसकी तुलना मे सुन्दर न हो तो मूर्ति को सुन्दर नही कहा जा सकता। अगर शासको को ही सब सुविधाएं दे दी जायेगी तो वह समाज उस मूर्ति के समान हो जायेगा जिसका मुह तो अति सुन्दर है लेकिन अन्य अगो पर पूरा ध्यान नही दिया गया हो। शासक, जो स्वभावत स्वर्ण के है, उन्हे धन-सम्पत्ति इकट्ठी नही करनी चाहिए अर्थात् उन्हे इन चीजो का उन लोगो के लिए त्याग करना चाहिये जिन्हे इनकी आवश्यकता हो। धन—सम्पत्ति या अर्थ ही एक वस्तु है जो कि सामाजिक सतुलन को बिगाड देती है। अतः प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य मे अर्थ को उतना ही महत्त्व दिया जायगा कि व्यक्ति की अपनी आवश्यताओ की पूर्ति हो जाय।

कुछ आलोचक यह प्रश्न उठाते है कि प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना मात्र कल्पना है। इसे व्यवहार रूप प्रदान नही किया जा सकता। प्लेटो के अनुसार इस प्रकार का राज्य तभी संभव हो सकता है जब दार्शनिक शासक हो या शासक दार्शनिक हो। दर्शन एव राजनीति के बीच सामजस्य प्लेटो की अद्भुत कल्पना थी। (आज जो भी अव्यवस्था है, वह इसीलिए है कि योग्य व्यक्ति शासन मे रुचि नही लेते।) प्लेटो ने विशुद्ध दर्शन एव विशुद्ध राजनीति को अपने आदर्श राज्य मे कोई स्थान नही दिया। अच्छा शासक बनने के लिये दर्शन और राजनीति मे सामजस्य होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नही, शासक जो ज्ञानी भी है, का यह कर्त्तव्य है कि वे अज्ञानी व्यक्तियो को उठाये, उन्हे ज्योति प्रदान करे। प्लेटो ने इस बात को 'गुफा की उपमा' मे भलीभांति स्पष्ट किया है। अज्ञानी व्यक्ति गफा मे पडे हुए व्यक्तियो के समान है।

ज्ञानी व्यक्तियों का काम उन्हे गुफा से वाहर निकालना है और उन्हे प्रकाश मे लाना है ।

व्यक्ति या आत्मा के सदर्भ मे भी प्लेटो ने न्याय के प्रश्न को उठाया है । प्लेटो आत्मा के तीन पहलू मानते है । इच्छात्मक (Appetitive), भावात्मक (Spirited) तथा ज्ञानात्मक (Rational) पहलू । जव इन तीनो पहलुओ मे सामजस्य होता है तव आत्मा मे न्याय की उत्पत्ति होती है । फ्रायड (मनो-विश्लेपणवादी मनोवैज्ञानिक) ने भी व्यक्तित्व के तीन पहलू—इड, ईगो एव सुपरईगो माने है । 'इड' का सम्वन्ध इच्छाओ (दमित) से है । 'ईगो' व्यक्तित्व का वह पहलू है जो वास्तविकता (Reality) के सम्पर्क मे आता है तथा 'सुपरईगो' का निर्माण, सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक आदर्श करते है । अगर इन तीनो पहलुओ मे सामजस्य होता है तो वह व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तित्व कहलाता है । व्यक्ति के व्यवहार मे असामान्यता तव आती है जव 'ईगो' इड या सुपरईगो द्वारा परिचालित होता है ।

समरसता या सामजस्यता के लिये प्लेटो ने केवल समाज एव व्यक्ति के सदर्भ मे ही चर्चा नही की है वरन् अन्य सन्दर्भो मे भी इसी तत्त्व को महत्ता प्रदान की है ।

'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने जो शिक्षा-व्यवस्था प्रदान की है, उसके दो स्तर है—प्राथमिक शिक्षा एव उच्च शिक्षा । प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर प्लेटो ने व्यायाम और सगीत (सगीत शब्द का प्रयोग यहा सभी प्रकार की कलाओ के अर्थ मे किया गया है) को पाठ्यक्रम मे रखा है । उच्चस्तरीय शिक्षा केवल उन्ही चुने हुए व्यक्तियो को दी जाएगी जिन्हे शासक वनाना है । इस स्तर पर गणित एव दर्शन (Dialectics) विषयो की शिक्षा की व्यवस्था है । शिक्षा के इस पाठ्य-क्रम—व्यायाम, सगीत, गणित एव दर्शन पर विचार करे तो ज्ञात होगा कि इसमे इस वात का प्रावधान रखा गया है कि व्यक्ति का सर्वागीण विकास हो, शारीरिक एव मानसिक क्षमताओ मे सामजस्य स्थापित हो, दोनो के विकास के समान अवसर हो ।

सगीत एव कला के क्षेत्र मे प्लेटो ने सामजस्य पर वल दिया है । सगीत-शिक्षा के पाठ्यक्रम पर चर्चा करते हुए उसने कहा है कि पाठ्यक्रम मे तेज धुनो सवेगो को तीव्रता से उभारने वाली धुनो एव मिश्रित धुनो को स्थान न दिया जाय । सगीत इस प्रकार का हो कि व्यवित के सवेगो मे उथल-पुथल पैदा न हो तथा सगीत से व्यक्ति मे समरसभाव की उत्पत्ति हो ।

यहा स्त्रियो एव परिवार के वारे मे कुछ शब्द कहना अपेक्षित है । प्लेटो

स्त्रियो एवं पुरुषों मे अन्तर नही मानते। स्त्रिया भी पुरुषो की भाति शासक, सैनिक आदि सभी कुछ बन सकती है। लेकिन चूंकि पुरुष प्रजनन नही कर सकते अतः स्त्रिया परिवार एवं बच्चो के लालन-पालन का कार्य ही करे तो सामाजिक सामजस्य के लिए उत्तम रहेगा।

सक्षेप मे, उपर्युक्त उदाहरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्लेटो के 'रिपब्लिक' की मुख्य समस्या समरसता के आदर्श की प्रतिस्थापना है। जीवन के सभी क्षेत्रो में उन्होने इस आदर्श की प्राप्ति पर बल दिया है।

१६
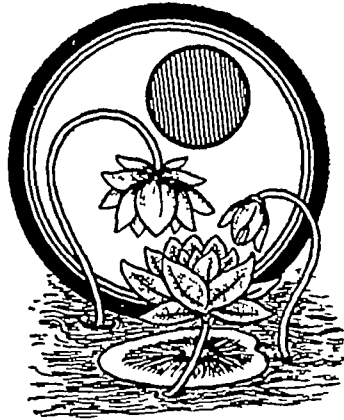
ईसाई धर्म में समता का स्वरूप

□ श्री जेड० आर० मसीह

आज समस्त ससार मे, प्रत्येक दिशा मे घोर निराशा का सा वातावरण प्राय देखने मे आता है। चाहे धनवान व्यक्ति हो अथवा निर्धन, ऊँचे वर्ग की श्रेणी मे आता हो अथवा निचली मे, किसी-न-किसी प्रकार की चिन्ता उसे घेरे रहती है। इसी चिन्ता का परिणाम है—असतोष। असतोष से मानव मे घृणा उत्पन्न होती है एव घृणा से पाप का जन्म होता है। अत मनुष्य शरीर के लिए आवश्यकताओ की पूर्ति दो भागो मे प्राय विभक्त की जा सकती है—

(अ) सासारिक और (ब) आध्यात्मिक

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और जिस समाज का वह सदस्य है, उसी समाज के सामयिक स्तर पर वह जीवनयापन के लिए लालायित होता है और समानता के स्तर पर पहुँचने के लिए यदि उसे ऐसे कार्य भी करने पडे, जिससे मान, मर्यादा एव अनुशासन भग होता हो, तब भी वह सासारिक लोलुपता एव भोगविलास के लिए प्राय साधन जुटाता है।

इस स्थिति मे भी सभी वर्ग के लोग नही आते। कुछ ऐसे भी होते हैं जो इस प्रकार साधन नही जुटा पाते अथवा नही चाहते, किन्तु पारिवारिक समस्याएँ और सामाजिक चेतना उन्हे कचोटती रहती है। ऐसी स्थिति मे मानव मे घृणा उत्पन्न होती है और घृणा से पाप। इस प्रकार असतोष का एक भयकर परिणाम यह होता है कि मनुष्य का साहस टूट जाता है और इससे वह आत्म-हत्या तक कर लेता है।

हमारे देश भारतवर्ष मे इन आत्महत्याओ का दर अमेरिका की अपेक्षा अधिक है। अभी कुछ समय पूर्व ही प्राप्त आकडो के आधार पर अमेरिका मे

प्रत्येक ३८ घण्टे के अन्तर्गत एक आत्महत्या होती है जबकि बगलौर मे २६ घन्टे मे एक । इससे भी भयानक और हृदय विदारक सत्य यह कहा जाता है कि भारत में प्रति १२ मिनिट के अन्तर्गत एक आत्महत्या होती है । भारत के गाँव तथा शहरो मे प्रतिदिन ११० के लगभग आत्महत्याएँ होती है, जिनमे से अधिकाश डूबकर या जहर पीकर होती है ।

आखिर यह सब क्यो ? मनुष्य इतना क्षीण क्यो ? इन सबका एक ही उत्तर है जो पवित्र धर्म शास्त्र 'बाइबिल' मे इस प्रकार वर्णित है—जब उन्होने परमेश्वर को पहिचानना न चाहा, इसलिए परमेश्वर ने भी उन्हे उनके निकम्मे मन पर छोड दिया कि वे अनुचित काम करे । [रोमियो १ अध्याय २८ पद]

आज ससार का प्रत्येक वर्ग किसी-न-किसी कारण से सशकित है तथा सतुष्ट होने के लिए अनेक उपाय करता है । प्रत्येक दैनिक समाचार पत्रिका इस तथ्य की साक्षी हो सकती है कि ससार मे कितना अन्याय और दु ख है । यह सब पढ कर कोई भी विचारशील व्यक्ति यह प्रश्न करेगा कि आखिर मे सारे दु:ख कहाँ से आते है और क्यो होते है ? यदि यह जिज्ञासा करने वाला किसी प्रकार का धार्मिक विश्वास रखता हो, तो उसका प्रश्न ऐसा रूप धारण करेगा कि क्या परमेश्वर इन सब बातो को नही देखता, या वह इनके प्रति निश्चित रहता है ? क्या वह इनका निवारण करना नही चाहता या वह इनके विषय मे कुछ कर नही सकता ? इस प्रकार के प्रश्न आना स्वाभाविक है और आवश्यक है कि इनका उत्तर भी हो ।

ईसाई धर्मावलम्बी का यह विश्वास है कि एक सर्व शक्तिमान, न्यायशील, प्रेमी पिता परमेश्वर इस विश्व का सृजनहार और पालनहार है । हम अपने अनुभवो के आधार पर कह सकते है कि मनुष्य का दु ख कोई काल्पनिक अथवा स्वप्न नही, बल्कि वास्तविकता है । यदि कोई भक्तजन असाध्य रोग से पीडित है या निर्दोष बालक की असामयिक मृत्यु होती है, तब हम क्या कह सकते है ? ऐसी समस्याओ पर विचार करते समय तीन प्रमुख बातो को सम्मुख रखना होगा—

(१) सृष्टि पर परमेश्वर का पूरा अधिकार है ।

(२) परमेश्वर शुद्ध और पवित्र प्रेममय है ।

(३) ससार मे पाप और दु:ख वर्तमान और वास्तविक है ।

ईसाई मत के अनुसार परमेश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप मे सृजा और इसके द्वारा उसने अपने सर्व सामर्थ्य को कुछ अश तक सीमित

किया। सृष्टि मे परमेश्वर का मनुष्य को बनाने का यह अभिप्राय प्रतीत नही होता कि मनुष्य ऐसे निर्जीव यत्र के समान हो जो अपरिवर्तनशील नियमो पर चलता हो। परमेश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप मे और अपने साथ सगति रखने के लिए सृजा है। यह सगति सभव हो सकती है, परन्तु इसमे न केवल सबसे उत्तम जीवन की प्राप्ति की सम्भावना है बल्कि साथ ही परमेश्वर के प्रति विद्रोह और पाप मे गिरने की भी सम्भावना है। सृष्टि मे जो स्वतन्त्रता हमे दी गई है उसमे भला और बुरा चुनने का अवसर और चुनने का उत्तर-दायित्व भी दिया गया है। यदि ऐसा नही होता तो मनुष्य, मनुष्य न होकर और कुछ कम होता।

पवित्र धर्म शास्त्र 'बाइबिल' सृष्टि के सम्बन्ध मे परमेश्वर के इस अभि-प्राय को स्पष्ट करती है। ससार मे भी बहुत सी बाते हैं जो गवाही देती हैं कि वह ऐसा स्थान है जिसका अभिप्राय यह है कि हम उसमे नैतिक उत्तरदायित्व को सीख ले और सद्नीति पर चलें। परमेश्वर ने बुराई को उत्पन्न नही किया और वह चाहता नही कि मनुष्य पाप करे, तो भी उसने ऐसे ससार को सृजा है जिसमे पाप सभव हो सकता है। जब हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी बुरे मार्ग पर चलते है, तब भी परमेश्वर हमारी स्वतन्त्रता को वापिस नही लेता बल्कि वह हमे अपने अच्छे अथवा बुरे चुनाव का फल भोगने देता है। वह हमे कठपुतली नही किन्तु व्यक्ति समझकर हमारे साथ व्यवहार करता है। इस कारण वह हमे पाप और पाप के दुष्परिणामो से भी नही रोकता है। उसने हमे स्वतन्त्र बनाया और मनुष्य इस प्रकार प्रदान की गई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर परमेश्वर के विरुद्ध विद्रोही बन दु ख का भागीदार हुआ।

मसीही विश्वास की यही आधारशिला है। "क्योकि परमेश्वर ने जगत् से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे, वह नाश न हो, परन्तु अनन्त जीवन पाए"।

(यहुन्ना ३-१६ पद)

अत' यदि मनुष्य अपना प्राण त्याग भी दे तो भी एक समय उसे प्रभु यिशू मसीह के सम्मुख आना होगा, अपने कर्मो के अनुसार न्याय पाने के लिए। समस्त क्लेशो, दु खो व पापो का एकमात्र उपाय यही है जो प्रभु यिशू मसीह के एक शिष्य मत्ती द्वारा प्रेषित किया गया है—"हे सब परिश्रम करने वालो और बोझ से दबे हुए लोगो ! मेरे पास आओ, मैं, तुम्हे विश्राम दू गा"।

(मत्ती ११ : २८ पद)

एक अनोखा निमत्रण जो सब जाति के लोगो के लिए, समस्त वर्ग के

लोगो के लिए अर्थात् सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए है। यिशू मसीह ने पतित मानव-जाति के पाप का भार उठा लिया। वह क्रूस पर मरा और फिर जी उठा। मसीह के साथ जीवन हमे सासारिक दु:ख से बचाता है ऐसा नही, किन्तु वह मार्ग है जो हमें दु.खो के बीच से होकर ऐसे लक्ष्य तक पहुँचाता है जो उन दु:खो से परे है। यह मार्ग निराशा और पराजय का मार्ग नही बल्कि मसीह के साथ आशा, आनन्द और विजय का मार्ग है। यह अनुभव न केवल यिशू मसीह के शिष्यों का है बल्कि इतिहास साक्षी है कि प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी और अध्यात्मवेत्ताओ में गिने जाने वाले एल्बर्ट स्वाइत्जर जैसे व्यक्तियो का भी है।

२०
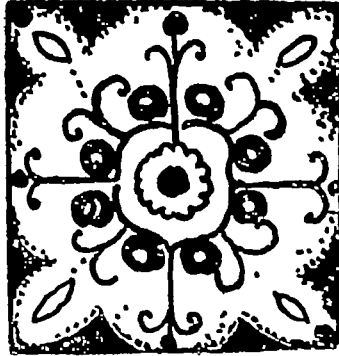
इस्लामी जीवन-दर्शन में समता की भूमिका

☐ डॉ० फज्ले इमाम

"लेयुस्जदेलहू माफिस्समावाते व माफिल अर्ज०"

—कुरआने मजीद

इस्लाम की माग :

अल्लाह के लिए सम्पूर्ण जगत् की समस्त वस्तुएँ जो आसमान और जमीन मे हैं, सर झुकाए हुए है। बल्कि इन्सान तो कभी बागी, अल्लाह की हुकूमत का हो भी जाता है लेकिन इन्सान के अलावा दुनिया का कोई भी अश अल्लाह का बागी नही हो सकता है। जिसके लिए जो विधान नियमित है वह उसी विधान का पाबन्द है और इसीलिए यह दीने इस्लाम कोई अलग से पाबन्दी नही है जो इन्सान पर लागू होती है बल्कि वह पाबन्दी है जो प्रकृति के सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण दुनिया को घेरे हुए है, बस अन्तर केवल इतना है कि तमाम दुनिया का इस्लाम बेअख्तियारी और नाचारी का नतीजा है और इन्सान से अख्तियारी और ऐच्छिक इस्लाम की माग है।

इस्लाम का अर्थ :

इस्लाम का अर्थ हुक्म मानकर सरझुका देने का है। अल्लाह के सामने वह सब तमाम चीजे जो भी आसमान और जमीन मे हैं, सर झुकाए हुए हैं। इन्सानी बुलन्दी को इस्लाम ने कुरआन से भी प्रमाणित किया है :—

"लक़द ख़लक़नल इन्साना फी अहसनेतक़वीम०" कुरआन की इस आयत मे इन्सान की सबसे अधिक श्रेष्ठता की बात कही गयी है। चूँकि दुनिया

तो पूरे शहर को निचोडने लगा । जिसका प्रभाव देश मे पैदा हुआ वह पूरे देश का तेल निकालने लगा । जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव पैदा कर सका वह पूरी दुनिया को पीसने का प्रयत्न करने लगा । निष्कर्ष यह निकला कि इन्सान जितना बढता जा रहा है, जितना फैलता जा रहा है, जितना प्रभावशाली होता जा रहा है, उसी के साथ 'लेने' की भावना भी बढती और फैलती जा रही है ।

इस्लाम ने बताया कि दुनिया मे समस्त बुराइयो की जड यही एक मात्र भावना है । यह भावना जब तक रहेगी, दुनिया मे बुराइयाँ भी रहेगी—लेकिन 'इस्लाम' ने इसी विष से औषधि बना दी । सखिया अवश्य विष है लेकिन डॉक्टर इसी विष से औषधि बनाता है । इसी प्रकार इस्लाम ने इसी लेने की भावना को सशोधित एव इस्लाह करके इन्सानियत के रोग की चिकित्सा प्रदान की ।

लेने वाले घटें देने वाले बढें :

विश्व मे शान्ति तभी स्थापित की जा सकती है जब लेने वाले घटे और देने वाले बढे । ससार मे अराजकता, उपद्रव तथा अशान्ति सदैव बढती रहेगी जब 'लेने' वाले बढेगे और 'देने' वाले घटेगे । 'लेने' की भावना की वृद्धि मे अशान्ति और 'देने' की भावना मे शान्ति है ।

अब यहाँ यह बात समझ लेना आवश्यक है कि इस लेने की भावना को देने की भावना से इस्लाम ने कैसे बदला है । क्योंकि यह भावना है और रहेगी । इसके लिए इस्लाम ने दो चीजो की ओर ध्यान दिलाया । जिन मे एक कम हो और दूसरी अधिक हो । और कहा जाए कि कम दे दो तो हम अधिक दे देगे तो इन्सान कम देकर अधिक के लिए तैयार हो जायेगा ।

बस यही दुनिया नहीं .

इस्लाम ने इन्सानो को यह विश्वास दिलाया कि 'दुनिया' बस यही दुनिया नही है । क्योकि अगर हम सोचते है कि बस यही दुनिया है और जब तक हम जीते है तभी तक जिन्दगी है तो हम यह समझने पर विवश हो जाएगे कि जब तक जीवित है जो मिल जाए बस वही मिलने वाला है । अत: यदि केवल यही दुनिया मानी जाएगी तो दुनिया मे अत्याचार ही अत्याचार रहेगा । शान्ति का नामोनिशान नही रह जाएगा ।

पैगम्बर ने अपने जीवन चरित्र से यह प्रमाणित किया कि यह दुनिया ही केवल दुनिया नही है अपितु इस दुनिया के बाद एक और दुनिया है, उसका नाम 'आखिरत' है । इस दुनिया मे जो कुछ है, मिटने वाला है । उस दुनिया मे जो कुछ है वह सदैव रहने वाला है । यह दुनिया नाश्यवर है, वह दुनिया सदा-

वहार है "और ख़ुदा (ईश्वर) वादा करता है कि यह मिटने वाली दुनिया, तुम अगर उस (ख़ुदा) के आदेशानुसार व्यतीत करोगे तो उस दुनिया (आख़िरत) मे, मैं तुम्हे अच्छा वदला दूंगा।" जिस इन्सान के दिल मे यह विश्वास वैठ जाता है—यह दुनिया छोटी और कम है और वह दुनिया (आख़िरत) अधिक और वडी है, वह यह दुनिया छोडकर उस दुनिया के लिए काम करता है।

इन्सान इसीलिए अनाथो, असहायो, विकलागो, तथा परेशान हाल लोगो की मदद करता है। विधवाओ की सेवा, माता-पिता की सेवा, पडोसी की सहायता, आदि की भावना इसीलिए पैदा होती है। वास्तव मे देखा जाय तो इन्सान किसी को कुछ नही देता है लेकिन ख़ुदा के वादे के भरोसे कम देकर अधिक ले रहा है। इस्लाम ने यही दर्शन अरव के जाहिल और अनपढ इन्सानो के सामने पेश किया था। परिणाम यह निकला कि वह अरव जो झूठी इज्जत और धन दौलत वचाने के लिए बेटी का गला दवा दिया करते थे, वे ख़ुदा की राह मे अपना सव कुछ लुटाने पर तैयार हो गए। अत्याचार न्याय से, वेरहमी रहमदिली से वदल गई और वुराई मिटने लगी। अच्छाई और शान्ति को उचित स्थान मिला।

ख़ुदा पर विश्वास :

'आखिरत' का भी विश्वास पर्याप्त नही है, जव तक इसी के साथ 'ख़ुदा' पर भी विश्वास न हो। क्योकि 'आख़िरत' पर विश्वास के वाद भी नेकी और अच्छाई की भावना नही पैदा होगी जव तक यह विश्वास न आ जाए कि जो आज हम अनाथ को दे रहे हैं वह कल 'आखिरत' मे मिलेगा। यह विश्वास तभी आएगा जव मध्य मे 'ख़ुदा' की कल्पना आए। और वह अपने पैगम्बर के माध्यम से कहलाए कि "देखो, तुम न थे और मैंने तुम्हे पैदा किया, तुम्हारे पास जीवन नही था, मैंने तुम्हे जीवन दिया। तुम्हारे पास शक्ति नही थी, मैंने तुमको सारी शक्तियाँ दी। तुम्हारे पास आँख, नाक, कान, ज़वान, दिल, दिमाग कुछ नही था, सव हमने दिया। जव तुम वच्चे थे तो तुम्हारी देख-भाल, लालन-पालन का प्रवन्ध हमने किया, और यह सव तव दिया जव तुम मागना भी नही जानते थे। अर्थात् जो कुछ भी दिया विना माँगे दिया।" वह ख़ुदा जो अव तक विना माँगे देता रहा, वह वादा करता है कि मेरे कहने पर दोगे तो इससे अधिक दूंगा—अव दिल को विश्वास आएगा कि जो अव तक विना माँगे दे रहा था, वह वादा करने के वाद क्यो नही देगा।

इन्सान की कर्त्तव्यपरायणता

इस्लाम मे सवसे अधिक वल इन्सान के चरित्र की वुलन्दी को दिया

गया है और यह बलन्दी निर्भर करती है, इन्सान की कर्त्तव्यपरायणता पर। इस कर्त्तव्यपरायणता की पस्ती और बलन्दी की सीमाएँ निश्चित की गयी है। कर्त्तव्य सदैव एक ही जैसे नही रहते है। कोई बड़े से बडा दार्शनिक, विद्वान् कर्तव्यो की कोई ऐसी सूची नही बना सकता है जो हर इन्सान के लिए हर हाल मे पालन योग्य हो।

धार्मिक हैसियत से इस्लामी इबादत (उपासना) मे सबसे महत्त्वपूर्ण 'नमाज़' है लेकिन अगर कोई पानी मे डूबता हो और उसका बचाना नमाज भग करने पर निर्भर हो तो नमाज को तोडना अनिवार्य है। अगर वह डूब गया और नमाज़ जारी रही तो यह 'नमाज़' अल्लाह की बारगाह मे निरस्त हो जायेगी कि मेरा एक बन्दा डूब गया और तुम नमाज पढते ही रहे। मुझे ऐसी नमाज की आवश्यकता नही है। इससे यह ज्ञात हुआ कि इस्लामी दर्शन के दृष्टिकोण से कर्तव्यो एव उपासनाओ मे परिवेश, परिप्रेक्ष, समय तथा काल के अनुसार परिवर्तित होते रहना है और कर्तव्यो की यही परख तथा रक्षा इन्सानियत का विशेष एव मौलिक अश है।

पग़म्बर मुहम्मद की बहादुरी और क्षमा :

इस्लाम ने यह बताया कि कर्तव्यशील इन्सान के व्यवहार एव आचरण उसके मन से प्रेरित नही होते है बल्कि कर्तव्यो के तकाजो को पूरा करने के लिए होते है। इस्लाम के आखिरी पैगम्बर हज़रते मुहम्मद मुस्तफा ने चालीस वर्ष पूरे हो जाने के बाद अपनी पैगम्बरी का एलान किया। चालीस वर्ष तक बिल्कुल खामोश रहे। केवल इन्सानी कर्तव्यो पर व्यावहारिक रूप से प्रकाश डालते रहे। कोई एक शब्द भी नही कहते है। पैगम्बरी के एलान के बाद आपको बहुत मुसीबतो, कठिनाइयों और परेशानियो का सामना करना पडा। शरीर पर कूडा करकट फेंका जाता रहा, पत्थरो की बारिश की जाती रही। मक्का मे तेरह वर्ष इसी प्रकार व्यतीत करते रहे। यदि हजरत मुहम्मद के जीवन के इसी काल को कोई देखे तो यह विश्वास कर लेगा कि जैसे ये अहिंसा के सबसे बडे समर्थक एव प्रवर्तक हैं। यह मार्ग इतनी सबलता से निरन्तर अपनाए रहे कि कोई भी पीडा, चोट, और व्यग्य हजरत मुहम्मद को विचलित नही कर सका। इस मध्य मे कोई भी ऐसी घटना नही होती है जो इस मार्ग के विपरीत हो। यद्यपि कोई लाख बेकस और बेबस हो तो भी उसे जोश आ ही जाता है और वह जान लेने और जान देने को तैयार हो जाता है फिर चाहे उसे और अधिक कष्ट क्यो न उठाना पडे, मगर एक दो वर्ष नही तेरह वर्ष तक निरन्तर पत्थर खाकर भी, सब्र व सकून एव धैर्य के साथ वही जीवन व्यतीत कर सकता है जिसके सीने मे वह दिल और दिल मे वह भावना ही न हो जो लडाई पर उकसा सके।

इसी मध्य मे वह समय भी आता है जब दुश्मन आपकी जिन्दगी के चिराग को बुझा देना चाहते हैं और एक रात को निर्णय कर लेते है कि उस रात को सब मिलकर हजरते मुहम्मद को शहीद कर डाले। उस समय भी तलवार, नियाम से बाहर नही निकलती, कोई सरदारी का दावा नही करते बल्कि खुदा के हुक्म से मक्का छोड देते हैं। जो हजरत मुहम्मद के व्यक्तित्व को नही जानता हो, वह इस हटने को क्या समझेगा ? यही तो कि जान के डर ने शहर छोड दिया—और वास्तविकता भी यही है कि जान की सुरक्षा के लिए यह प्रबन्ध था—लेकिन केवल जान नही बल्कि जान के साथ उन उद्देश्यो की सुरक्षा भी थी जो जान से सम्बन्धित थे। बहरहाल कोई इस कदम को कुछ भी कहे, मगर दुनिया इसे बहादुरी तो नही कहेगी—और अगर इस रूप को देखकर हजरत मुहम्मद के बारे मे कोई राय कायम की जायेगी तो वह भी वास्तविकता के विपरीत और गुमराह करने वाली होगी।

अब, हजरते मुहम्मद, जब मदीना पहुँचते है तो ५३ वर्ष की उम्र है और आगे बुढापे की ओर बढते हुए कदम हैं। बचपना और जवानी का हिस्सा खामोशी से गुजरा है और फिर जवानी से लेकर अधेड उम्र तक की मन्जिले पत्थर खाते गुजरी हैं—अन्त मे जान की सुरक्षा के सम्मुख शहर छोड चुके है। भला कोई यह कल्पना कर सकता है कि जो एक समय मे जान की सुरक्षा के लिए वतन छोड दे, वही शीघ्र ही फौजो का सिपहसालार बना दिखाई देगा। हालांकि मक्का ही मे नही, मदीना मे आने के बाद आपने लडाई की कोई तैयारी नही की। इसका प्रमाण यह है कि एक वर्ष की अवधि के बाद जब दुश्मनो ने मुकाबले की नौबत आई तो आपके साथ कुल ३१३ आदमी थे और केवल १३ तलवारे और २ घोडे थे। स्पष्ट है कि यह एक साल की तैयारी का नतीजा नही था, जबकि इस एक साल मे मदीना मे निर्माण कार्य बहुत से हो गए। कई मस्जिदे, और शरणार्थियो (महाजिरीन) के लिए मकान बन गए। मगर लडाई का कोई सामान नही एकत्रित किया गया। इस से साफ स्पष्ट है कि आपकी ओर से लडाई का कोई प्रश्न ही नही उठता है। जब दुश्मनो ने अतिक्रमण किये तब जाकर बद्र, उहद, खन्दक, खैबर और हुनैन की लडाइयां होती है। 'उहद' की लडाई मे सिवा दो एक के सब साथी भाग जाते हैं तो भी आप लडाई के मैदान से नही हटते है। यहां तक कि घायल हो जाते है। चेहरा खून से भीग जाता है, सर के अन्दर खोद की कडियां चुभ जाती हैं, दांत शहीद हो जाते है—लेकिन अपनी जगह से एक कदम नही हटते हैं। अब क्या बुद्धि, विवेक और न्याय की दृष्टि से मक्का छोडकर मदीना आना जान के डर से अर्थ मे समझा जा सकता है जिससे बहादुरी पर धब्बा आए ? कदापि नहीं।

कुछ लोगो ने पैगम्बरे इस्लाम की तस्वीर इसी लडाई के दौर की खींची

है जिसमे एक हाथ मे तो कुरआन और दूसरे मे तलवार। मगर जिस प्रकार पैगम्बर की केवल उस जीवन की तस्वीर सामने रखकर वह राय कायम करना त्रुटिपूर्ण था कि आप पूर्णतया अहिंसा के प्रवर्तक है अथवा सीने मे वह दिल ही नही जो लडाई कर सके, ठीक उसी प्रकार इस दौर को सामने रखकर यह तस्वीर खीचना भी अत्याचार है कि बस कुरआन है और तलवार। आखिर यह किस की तस्वीर है ? हजरत मुहम्मद मुस्तफा की है—तो मुहम्मद नाम तो उस पूरे जीवन के मालिक व्यक्तित्व का है जिसमे वह ४० वर्ष खामोशी के है, वह १३ वर्ष भी है जब पत्थर खाते रहे और अब यह मदीना के १० वर्ष भी है। इसलिए हजरत मुहम्मद मुस्तफा की पूरी तस्वीर तो वह होगी जो उनके जीवन के सभी पहलू को पेश करे। हाँ, इसी दस वर्ष मे 'हुदैबिया' नामक सन्धि भी होती है। जब पैगम्बर लडाई के इरादे से नही, हज के इरादे से मक्का की ओर आते है। साथ मे वही विजेता लशकर है, बहादुर सिपाही और सूरमा है—और सामने वही निरन्तर परास्त होने वाली फौज है लेकिन फिर भी मक्का के दुश्मन 'हज' अदा करने मे बाधाएँ उत्पन्न करते है। उस समय यह बाधाएँ ही सैद्धान्तिक रूप से लड़ाई का पहलू बनने के लिए पर्याप्त थी—लेकिन पैगम्बरे इस्लाम इस अवसर पर चढाई करके लडाई करने के आरोप से बरी रखते हुए सुलह करके वापस लौट आते है। जबकि कुछ साथ वालो मे आक्रोश था और लडाई के लिए तैयार थे। शर्ते भी ऐसी थी जैसे कोई विजेता, पराजित हो जाने वाले से मनवाता है—अर्थात् इस समय वापस लौट जाइए—इस साल 'हज' न कीजिए, अगले वर्ष आइएगा—केवल ३ दिन मक्का मे रहिएगा। चौथे दिन आप मे से कोई मक्का मे नही दिखाई दे। अगर कोई हमारी ओर से आपके पास चला जाये तो वापस करना होगा और अगर आप मे से कोई भाग कर हमारे मे आ जाए तो हम वापस नही करेगे।"

इस प्रकार की शर्ते और फिर पैगम्बर का सुल्ह करना, वास्तव मे बहुत बडी बहादुरी है। इसके बाद जब दुश्मनो की ओर से समझौता तोडा गया तो हजरत मुहम्मद मक्का मे विजेता बनकर प्रवेश करने के लिए विवश हो जाते है—अब देखना यह है कि दुश्मनो से कैसा बर्ताव होता है। हालाँकि ये दुश्मन कोई साधारण दुश्मन नही है, निरन्तर १३ वर्ष तक शरीर पर कूडे और पत्थर फेंकते रहे हैं और जब मदीना आ गए तब भी चैन नही लेने दिया है। कितने ही रिश्तेदारो और सम्बन्धियो को खून मे तडपते देखा है। अपने सगे चचा हजरते हमजा का सीना चाक करके कलेजा चबाते हुए देखा है। जब वही दुश्मनो की जमाअत सामने है और बिल्कुल हजरते मुहम्मद के कब्जे मे है। यह समय तो वह था कि सम्पूर्ण पिछले अत्याचारो का गिन-गिन कर बदला लिया जाना लेकिन उस रहम और दया के पुतले ने जब सब को बेबस और बेदम पाया तो क्षमा का आम एलान कर दिया और खून की एक भी बूँद

जमीन पर गिरने नहीं दी। अब दुनिया वाले बतायें कि इस्लाम के पैगम्बर क्या थे—लड़ाई करने वाले अथवा शान्ति रखने वाले ?

वास्तव मे इस्लाम मे लडाई हो या सुलह; यह मनुष्य की अपनी भावनाओं की बुनियाद पर नही होती है बल्कि कर्तव्यो के आधार से निर्धारित हुआ करती है। जिस समय खामोश रहना, कर्तव्य का तकाजा था, खामोश रहे, और जब हालात के बदलने से लडाई की आवश्यकता हुई तो, लडाई भी लडे, फिर जब सुलह की सम्भावना हो गई तो सुलह करली—और जब दुश्मन बिल्कुल बेबस हो गया तो क्षमा कर दिया। यही इस्लाम तथा पैगम्बरे इस्लाम की शिक्षा का उदाहरण है।

२१

समता : मार्क्सवादी धारणा

☐ डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्राचीन काल से आज तक मानववादी विचारकों की शृंखला मे मानव समता ही नही, जीव मात्र की समता पर सोचा गया है। बहुत पुराचीन काल मे ही योगियो ने अतरावलोकन और वस्तु-पर्यवेक्षण के बल पर चीजो और परिदृश्यो, प्राणियो और पदार्थों की मूलभूत एकता का साक्षात्कार कर लिया था। किसी साधक ने सृष्टि मात्र के मूल मे कार्यरत शक्ति को चिन्मय और किसी ने भौतिक तत्त्व माना था। दार्शनिको मे चार्वाकमत के विचारको ने यह देखा कि जगत् की स्थिति, गति और पुनः स्थिति का जो क्रम है, वह स्वभावत है, वह किसी अलौकिक सत्ता से सचालित या प्रेरित नही है। लोकायतो के इस इहलौकिकतावाद का अध्यात्मवादी विचारको ने विरोध किया और इन मे वेदान्त ने घोषित किया कि सृष्टि नही है, सृष्टि भ्रम है। सत्य चेतना है और चेतना दिव्य है, अतिक्रमणशील है। वह मायात्मक जगत् का अतिक्रमण (ट्रान्सैन्डेस) कर मुक्त हो जाती है, अतएव ससार केवल मूर्खों के लिए सच है।

आत्यन्तिक दृष्टि से जगत् को भ्रम मान कर भी वेदान्त परम्परा के दार्शनिकों ने प्राणीमात्र की समता घोषित की क्योकि सर्वत्र चैतन्य है अत· कीट-पतग से मानव तक और मानव से दिव्य योनियो तक एक ही विश्व चेतना का प्रकाश है, अतएव विद्वान् वही है, जो समदर्शी हो, "शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन·" (गीता)।

समता का यह धरातल बहुत ऊचा है लेकिन व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्ता मे समानान्तरता मानने के कारण वेदान्तियो ने वास्तविक

जीवन मे समता को स्वीकार नही किया। धारणा मे अद्वैतवाद, व्यावहारिक जीवन मे द्वैत, भेदभाव, ऊच-नीच, आदि के मानव विरोधी प्रत्ययो को मानता रहा, अत: वर्ण-व्यवस्था कायम रही।

आधुनिक शिक्षा और मानववादी विचारको ने, विज्ञान और समतावादी राजनीति ने, लोकतान्त्रिक व्यवस्था और अन्त मे मार्क्सवादी चिन्तन और राजनीति ने, व्यावहारिक जीवन मे मानव-समता की वास्तविक स्थापना का कार्य पूरा किया। समाजवादी साम्यवादी देशो मे ही वह समदर्शिता कार्यरूप मे परिणत हो सकी, जिसके सपने प्राचीन दार्शनिक और योगी देखा करते थे। यह नही कि साम्यवादी, पूर्णत समता की स्थापना मे सफल हो गए है, पर यह तो सच ही है कि इस दुनिया मे सामन्ती और पू जीवादी लोकतान्त्रिक समाजो मे जो घोर वैषम्य और असमता दिखाई पडती है, वह समाजवादी-साम्यवादी समाजो मे नही है। वहा मानव द्वारा मानव के आर्थिक शोषण को समाप्त कर दिया गया है और सामाजिक जीवन मे, रोटी-बेटी के व्यवहार मे ऊँच-नीच, छुआछूत तथा जाति-पात की असमता समाप्त कर दी गई है। यह उपलब्धि मामूली नही है। वहा सामती-पू जीवादी सस्कारो के जो अवशेष बच गए है या नए प्रबन्धक वर्ग के कारण जो वैषम्य पैदा हुआ है, उसके दूरीकरण के लिए वहा के लोग सघर्ष कर रहे है जबकि हम "समता" की घोषणाए तो करते है पर व्यवहार मे अपनी-अपनी बिरादरी और जाति अथवा वर्ग के कोटरो मे बन्द है। भारतीय लोग विचारो मे उदार मगर व्यवहार मे घोर सकीर्णतावादी साबित होते है, तभी "भारतीय पाखण्ड" या "इण्डियन हिप्पोक्रिसी", सारे ससार मे मशहूर हो गई है। अपवादो को छोडकर आप किसी भारतीय के ऊचे समतावादी विचार सुनकर यह अनुमान नही लगा सकते कि वह व्यवहार मे भी उसी विचार का पालन करेगा।

इस अमानवीय स्थिति मे समता के लिए सघर्ष जरूरी है। मार्क्सवादी समता की धारणा को समझना इस सघर्ष का प्रथम सोपान है। मार्क्सवाद के अनुसार समता का अर्थ, समाज मे एक सी दशा की स्थापना (आइडेन्टीकल कडीशन आफ पीपुल इन सोसाइटी) है।

पू जीवादी जनतन्त्रो (पश्चिमी योरोप के देश, अमरीका, जापान और भारत आदि) मे कानून के नाते सबको समान माना जाता है, किन्तु कानूनी न्याय, गरीबो को सुलभ नही है और आर्थिक शोषण तथा सामाजिक शोषण जारी है। सन्त सम्पत्तिशाली (पैनी-बूर्ज्वा) विचारणा यह मानती है कि सबको सम्पत्ति के सग्रह का समान अधिकार हो, पर इस सग्रह की दौड मे राज्य किसी व्यक्ति या वश या वर्ग को अति धनवान न होने दे। भारत मे यही पैनी-बूर्ज्वा धारणा, समाजवाद के नाम पर प्रचारित की जा रही है।

२१

समता : मार्क्सवादी धारणा

☐ डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्राचीन काल से आज तक मानववादी विचारको की शृ खला मे मानव समता ही नही, जीव मात्र की समता पर सोचा गया है। बहुत पुराचीन काल में ही योगियो ने अतरावलोकन और वस्तु-पर्यवेक्षण के बल पर चीजो और परिदृश्यो, प्राणियो और पदार्थों की मूलभूत एकता का साक्षात्कार कर लिया था। किसी साधक ने सृष्टि मात्र के मूल मे कार्यरत शक्ति को चिन्मय और किसी ने भौतिक तत्त्व माना था। दार्शनिको मे चार्वाकमत के विचारको ने यह देखा कि जगत् की स्थिति, गति और पुन· स्थिति का जो क्रम है, वह स्वभावत है, वह किसी अलौकिक सत्ता से सचालित या प्रेरित नही है। लोकायतों के इस इहलौकिकतावाद का अध्यात्मवादी विचारको ने विरोध किया और इन मे वेदान्त ने घोषित किया कि सृष्टि नही है, सृष्टि भ्रम है। सत्य चेतना है और चेतना दिव्य है, अतिक्रमणशील है। वह मायात्मक जगत् का अतिक्रमण (ट्रान्सैन्डेस) कर मुक्त हो जाती है, अतएव ससार केवल मूर्खों के लिए सच है।

आत्यन्तिक दृष्टि से जगत् को भ्रम मान कर भी वेदान्त परम्परा के दार्शनिको ने प्राणीमात्र की समता घोषित की क्योकि सर्वत्र चैतन्य है अत: कीट-पतग से मानव तक और मानव से दिव्य योनियों तक एक ही विश्व चेतना का प्रकाश है, अतएव विद्वान् वही है, जो समदर्शी हो, "शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन:" (गीता)।

समता का यह धरातल बहुत ऊचा है लेकिन व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्ता में समानान्तरता मानने के कारण वेदान्तियो ने वास्तविक

जीवन मे समता को स्वीकार नही किया। धारणा मे अद्वैतवाद, व्यावहारिक जीवन मे द्वैत, भेदभाव, ऊच-नीच, आदि के मानव विरोधी प्रत्ययो को मानता रहा, अत वर्ण-व्यवस्था कायम रही।

आधुनिक शिक्षा और मानववादी विचारको ने, विज्ञान और समतावादी राजनीति ने, लोकतान्त्रिक व्यवस्था और अन्त मे मार्क्सवादी चिन्तन और राजनीति ने, व्यावहारिक जीवन मे मानव-समता की वास्तविक स्थापना का कार्य पूरा किया। समाजवादी साम्यवादी देशो मे ही वह समदर्शिता कार्यरूप मे परिणत हो सकी, जिसके सपने प्राचीन दार्शनिक और योगी देखा करते थे। यह नही कि साम्यवादी, पूर्णत समता की स्थापना मे सफल हो गए है, पर यह तो सच ही है कि इस दुनिया मे सामन्ती और पूजीवादी लोकतान्त्रिक समाजो मे जो घोर वैषम्य और असमता दिखाई पडती है, वह समाजवादी-साम्यवादी समाजो मे नही है। वहा मानव द्वारा मानव के आर्थिक शोषण को समाप्त कर दिया गया है और सामाजिक जीवन मे, रोटी-बेटी के व्यवहार मे ऊँच-नीच, छूआछूत तथा जाति-पात की असमता समाप्त कर दी गई है। यह उपलब्धि मामूली नही है। वहा सामती-पूजीवादी सस्कारो के जो अवशेष बच गए है या नए प्रबन्धक वर्ग के कारण जो वैषम्य पैदा हुआ है, उसके दूरीकरण के लिए वहा के लोग सघर्ष कर रहे है जबकि हम "समता" की घोषणाए तो करते है पर व्यवहार मे अपनी-अपनी बिरादरी और जाति अथवा वर्ग के कोटरो मे बन्द है। भारतीय लोग विचारो मे उदार मगर व्यवहार मे घोर सकीर्णतावादी साबित होते है, तभी "भारतीय पाखण्ड" या "इण्डियन हिप्पोक्रिसी", सारे ससार मे मशहूर हो गई है। अपवादो को छोडकर आप किसी भारतीय के ऊचे समतावादी विचार सुनकर यह अनुमान नही लगा सकते कि वह व्यवहार मे भी उसी विचार का पालन करेगा।

इस असमानवीय स्थिति मे समता के लिए सघर्ष जरूरी है। मार्क्सवादी समता की धारणा को समझना इस सघर्ष का प्रथम सोपान है। मार्क्सवाद के अनुसार समता का अर्थ, समाज मे एक सी दशा की स्थापना (आइडेन्टीकल कडीशन आफ पीपुल इन सोसाइटी) है।

पूजीवादी जनतन्त्रो (पश्चिमी योरोप के देश, अमरीका, जापान और भारत आदि) मे कानून के आगे सबको समान माना जाता है, किन्तु कानूनी न्याय गरीबो को सुलभ नही है और आर्थिक शोषण तथा सामाजिक शोषण जारी है। इस सम्पत्तिवादी (पैनी-हुन्तो) विचारधारा यह मानती है कि सबको सम्पत्ति के सग्रह का समान अधिकार हो, पर इस सग्रह की होड मे राज्य किसी व्यक्ति या दल या वर्ग को अधिक धनवान न होने दे। भारत मे यही पैनी-हुन्तो धारणा, समाजवाद के नाम पर प्रचारित की जा रही है।

इन दोनो धारणाओ मे उत्पादन के साधनो पर किसका अधिकार हो, व्यक्तियो या समाज का, यह तै नही किया जाता । मार्क्सवादी समता की धारणा यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की पद्धति के विनाश के बिना आर्थिक, राजनैतिक और सास्कृतिक समता कायम नही हो सकती । इस सन्दर्भ मे अराजकतावादी विचारक प्रूधो का मत स्मरणीय है । उसने कहा था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति चोरी है ।

इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था मे ही समता स्थापित हो सकती है, जिसमे उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करके आर्थिक शोषण का अन्त कर दिया जाता है । समाजवाद के आलोचको का यह कथन कि समाजवाद मे, सोवियत रूस और चोन मे असमता है, निराधार है क्योकि वहाँ असमता विनाशोन्मुख है । समाजवाद के प्रथम सोपान मे पारिश्रमिक योग्यतानुसार दिया जाता है जबकि जन सेवाए (शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, यात्रा-व्यवस्था आदि) प्राय: मुफ्त होती है अतएव शिक्षा, स्वास्थ्य, निवास और यात्रा करीब-करीब नि:शुल्क होने से, पारिश्रमिक मे यदि अन्तर रहता भी है तो वह अधिक अखरता नही है जबकि सामती और पू जीवादी देशो मे वेतनमानो का वैपम्य प्राणान्तक हो जाता है क्योकि ऐसे मुल्को मे मेहनतकश जनता उच्च शिक्षा, खर्चीली दवाइयो तथा स्तरीय जीवन से वचित रहती है, केवल उच्च वर्ग और उच्च मध्य वर्ग ही सुखी रह पाता है ।

अत: जो लोग 'योग्यतानुसार पारिश्रमिक' के समाजवादी सिद्धान्त को समझना चाहते हे, उन्हे राज्य द्वारा सचालित जनसेवाओ की विराटता और सर्वसुलभता पर मनन करना चाहिए । हमारे देश मे रोटी, यात्रा, शिक्षा, निवास और उपचार सर्वसुलभ नही है, अत: असमता है ।

समाजवाद का अगला कदम साम्यवाद है, जिसमे पारिश्रमिक योग्यता के आधार पर नही, इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार मिल सकता है क्योकि साम्यवाद के सोपान तक पहुँच कर वस्तुओ का उत्पादन, तकनीकी उन्नति से इतना अधिक होगा कि सभी लोगो की सारी जरूरते पूरी की जा सकेगी और श्रम या कार्य तब बोझ या व्याधि नही, आनन्द या क्रीडा में बदल जायगा ।

लेकिन साम्यवादी व्यवस्था मे भी समता हर बात मे नही हो सकती । शरीर-सरचना, रूप, रुचि, योग्यता, बौद्धिक-प्रतिभा, सर्जनात्मक शक्ति आदि की दृष्टि मे अन्तर रहेगा ही । मुख्य विन्दु यह है कि साम्यवादी समाज मे इस प्रकार के अन्तर व्यक्तित्व की विशिष्टताओ के रूप मे रहेगे, वैपम्यमूलक अन्तर्विरोधो के रूप मे नही ।

कार्ल मार्क्स ने १८४४ ई० की अपनी 'आर्थिक और दार्शनिक पाडुलिपि' शीर्षक पुस्तक मे सर्व प्रथम विषमताग्रस्त समाजो मे सर्वत्र व्याप्त "अ-लगाव" (एलियनेशन) की ओर ध्यान खीचा था। आज सौ सवा सौ वर्षो के बाद भी हम गैर बराबरी ग्रस्त समाजो की रग-रग मे समायी हुई विषमता की व्याधि और तज्जन्य अ-लगाव से लड रहे है।

उत्पादन के साधनो पर कुछ एक व्यक्तियो या वर्गो के स्वामित्व से श्रमिक या वेतनभोगी नौकर अपने कार्य से आत्मनिर्वासित हो जाता है, क्योकि उसका लाभ और श्रेय मालिक को मिलेगा या बडे अधिकारी को —

That labour is external to the worker i e, it does not belong to his essential being that in his work therefore, he does not affirm himself but denies himself, does not feel content but unhappy, does not develop freely his physical and mental energy but mortifies his body and ruins his mind...... .he is at home when he is not woking and when he is working, he is not at home His labour is therefore not voluntary but coerced, it is forced labour "[1]

श्रम-प्रक्रिया या उत्पादन के सारे सिलसिले पर लाभ और प्रतियोगिता पर आधारित स्वामित्व के रहते, श्रमजीवी जनता के लोग अपने कार्य को कभी अपना नही समझ पाते अत उन्हे कार्य बोझ लगता है अतएव उन्हे निम्न जैवी स्तर की गतिविधियो मे आनन्द आता है (भोजन, पान, यौनसुख आदि)। इस प्रकार निजी स्वामित्व पर आधारित विषम आर्थिक व्यवस्था मे साधारण जन, पशु स्तर पर रहता है। पूंजीवादी समाजो मे करोडो लोग ऐसा ही अमानवीय और अ-लगाव ग्रस्त जीवन जी रहे है।

मनुष्य यदि वह पशु नही है तो वह केवल आवश्यकता पूर्ति के लिए कार्य नही करता, वह आनन्द या आत्म अभिव्यक्ति के लिए काम करता है। कार्य उसके लिए स्वेच्छापरक हो, विवशता नही। समताहीन समाजो मे मनुष्य, पशु की तरह विवश होकर कार्य करता है। मनुष्य का यह पाशवीकरण या अमानवीकरण (डी ह्यूमेनाइजेशन) आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एकाधिकारी वर्गो के अस्तित्व के कारण है, अत वर्गहीन समाज मे ही समता रह सकती है।

यदि श्रमिक के उत्पादन से लाभ दूसरे व्यक्ति को होता है, यदि श्रम, मजदूर या वेतनभोगी व्यक्ति के लिए परायी वस्तु है ... यदि श्रमिक के लिए

---

1 Economic and Philosophical Manuscripts of 1844 pp 68-69

श्रम आनन्द नही, यातना है तब वह श्रम किसी (मालिक) और के लिए आनन्ददायक चीज होगी । । इस प्रकार, देवता, प्रकृति आदि मनुष्य के दुश्मन नही है बल्कि मनुष्य ही मनुष्य के लिए पराई सत्ता या शत्रु है ।"[1]

साराश यह है कि भारतीय समाज मे सम्पत्ति-सम्बन्धों के आमूल परिवर्तन के बिना और व्यक्तिगत सम्पत्ति-सग्रह या व्यक्तिगत उत्पादन-वितरण व्यवस्था को पूर्णत: बदले बिना, समता की बात करने वाले लोग अपने को भी धोखा दे रहे है और दूसरों को भी। धोखे की यह प्रक्रिया, सस्कृति और विचारो के क्षेत्रो मे चली आ रही है। आज सभी धार्मिक सम्प्रदाय भी "समता" का घोष कर रहे है पर ये ही धार्मिक सम्प्रदाय श्रमिक समाज को सदा के लिए, उसके स्वामियो और सेठो का दास बनाए रखने के लिए अमूर्त्त समता का उपदेश कर रहे हैं और धनी वर्ग के विरुद्ध श्रमिको के स्वाभाविक असतोष को शात कर रहे है । धर्म या मजहब, इन लोगो के लिए सहनशीलता या जीवन-सघर्ष से पलायन का मार्ग है। जीवन-सघर्ष मे शोषित जन का पक्ष-धर बन कर धर्म श्रमिको को मुक्त करने की कार्यवाही को अधर्म मानता है। इस प्रकार धर्म-क्षेत्र, प्रतिक्रियावाद के केन्द्र और धार्मिक लोग, धनी वर्ग के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने वाले बन गए है। धर्म मे जो सबके अभ्युदय की धारणा थी, वह सिर्फ कथनी तक सीमित हो गई है ।

भारतवर्ष मे जैन और बौद्ध आदोलनो ने वर्णव्यवस्था का विरोध किया था। अहिंसा और अपरिग्रह जैसी मानवीय भावनाओ का उपदेश कल्याणकारी था। लेकिन कालातर मे जैन मतावलम्बी, महावीर तथा अन्य तीर्थङ्करों की क्रातिकारी दृष्टि (अपरिग्रह) को छोडकर व्यापारी या वणिक वर्ग के अग बन गए और आज उनकी अहिसा और अपरिग्रह औपचारिक आग्रह बनकर रह गए है। एक विराट जनान्दोलन (जैन + बौद्ध + आजीवक + लोकायत आदि) अब एक वर्ग या जाति मे परिणत हो गया है, अत इस स्थापित और समृद्ध जाति के लिए धर्म और साधना का रूप भी वर्गीय हो गया है, उसमे श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिए कोई आश्वासन नही है ।

समता, पुण्य कार्य (वरच्यू) है पर वह धारणा तक ही सीमित रह जाने पर अलंकार की शक्ल धारण कर लेता है। समता तभी पुण्य कार्य बन सकता है जब उसे निजी सम्पत्ति के निराकरण से जोडा जाए और व्यापार, कृषि और उद्योग आदि उत्पादन के क्षेत्रो का सामाजिकीकरण हो। व्यक्तिगत लाभ और हानि पर आधारित कार्यों और व्यापार द्वारा, समाज बाजार मे परिणत होता है और बाजार मे समता नही, पैसे की ताकत काम करती है ।

---

1. Economic and Philosophical Manscripts of 1844, p 75.

योग से शरीर में परिवर्तन हो सकता है, समाज में नही। धर्म का अर्थ यदि व्यापक अर्थों में किया जाए तो सबसे बड़ा धर्म वही है, जिससे मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण, दबाव या दलन समाप्त हो, पर भारतवर्ष के सभी धार्मिक सम्प्रदाय व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित समाज-व्यवस्था के पक्षधर है। वे यथास्थितिशीलता के विरुद्ध नही लडते, शान्ति और सहनशीलता सिखा रहे है। इनसे लाभ मालिको को होता है, उनके दासो को नही।

भारतीय धर्ममतावलम्बियो को समता, बधुत्व और जन स्वतत्रता के लिए सघर्ष करना होगा, अन्यथा वे अप्रासगिक हो जाएगे।

२२

समता : गांधीवादी दृष्टिकोण

☐ श्री काशीनाथ त्रिवेदी

समता और समानता :

हम सब जानते है कि **समता** और **समानता** मे दोनो भिन्न अर्थ वाले स्वतन्त्र शब्द है। हिन्दी मे कभी-कभी इनका उपयोग पर्यायवाची शब्द के रूप मे होता है, पर असल मे एक-दूसरे के पर्याय है नही। जो समता है, वह समानता नही है। समता भावरूप है। उसका सम्बन्ध मन की आन्तरिक चेतना से है, विवेक से है, विचार से है। बोलचाल मे समानता का मतलब बराबरी होता है। यह एक बिलकुल बाहरी चीज है। खाने मे बराबरी, पहनने मे बराबरी, काम-काज मे बराबरी, रहन-सहन मे बराबरी, पैसे-टके मे बराबरी, जात-पात मे बराबरी अथवा उमर मे, योग्यता मे, पेशे मे बराबरी का जो मतलब होता है, वह समता वाले मतलब से बिलकुल अलग ही है। समता मे सूक्ष्मता है, आन्तरिकता है। समता-युक्त जीवन, जीवन जीने की एक अलग ही कला है। उसमे आपस की बराबरी से भिन्न एक बहुत मौलिक और गम्भीर दृष्टि निहित है। उसका आकलन जितना व्यापक और विशाल है, उतना ही सूक्ष्म और गहन भी है। मन की एक शुद्ध, बुद्ध, उच्च, निर्लेप और निःसग स्थिति की परिणति समता मे होती है।

यह समता हर किसी के बस की चीज नही। यह सहज और सुलभ भी नही। कठिन चिन्तन, मनन, मन्थन और निग्रह के बाद यह कुछ विरले ही लोगो मे प्रकट होती है। इसे आम आदमी की पहुँच के बाहर की चीज कहना या मानना उचित होगा। मेरे विचार मे इसके मूल मे आत्मा की एकता सचित है।

जिसे आत्मा की एकता की आन्तरिक प्रतीति हो लेती है उसके जीवन में और व्यवहार में समता का उदय क्रम-क्रम से होता जाता है और अन्त में वह समता-निष्ठ बनकर जीने लगता है। अपनी उस भूमिका में समताशील व्यक्ति के निकट अपने-पराए का, ऊँच-नीच का, छोटे-बड़े का, अमीर-गरीब का, हिन्दू-मुसलमान का, देशी-विदेशी का या स्त्री-पुरुष का कोई भेद टिक नही पाता। वह अभेद की स्थिति में जीने-मरने-वाला बन जाता है। उसकी समता उसे चराचर सृष्टि के साथ उस तरह जोड़ देती है कि उसमें और सृष्टि के अन्य जीवो या पदार्थों में आपस का कोई अन्तर या व्यवधान नही रह जाता। सबकुछ आत्म-रूप-सा बन जाता है। यह मानव-मन की एक ऐसी ऊँची भूमिका है, जो लम्बी और कठिन साधना के बाद ही किसी योग-युक्त साधक को कभी सुलभ हो पाती है। आगे हम यहाँ देखेंगे कि समता के उस अर्थ में गाधीजी का अपना जीवन किस हद तक समता-युक्त बन पाया था।

गांधीजी की समता : किशोरावस्था में और युवावस्था में

अपनी 'आत्मकथा' के आरम्भ में गाधीजी ने किशोरावस्था में अपने मांसाहार का जो अनुभव लिखा है, उससे हमें उनके मन में छिपी, बीज-रूप में बैठी, समता का संकेत मिलता है। जिस दिन मांसाहार के हिमायती अपने मित्र के कहने, फुसलाने और पटाने पर उन्होंने पहली बार अपने घर से दूर, अपने पारिवारिक संस्कारों के विरुद्ध और अपनी आदत के खिलाफ जाकर बकरे का मांस खाया, उस दिन घर लौटने के बाद रात को वे चैन की नींद सो नही सके। रात भर वे यह अनुभव करते रहे कि जिस बकरे का मांस उन्होंने खाया है, वह उनके पेट में पड़ा-पड़ा मिमिया रहा है। उन्हें अपनी उस उमर में भी यह बात बड़ी अटपटी-सी लगी कि एक जीवधारी दूसरे जीवधारी को मारकर उसका मांस पकाए और उसे खाए। जीव-मात्र की एकता के इस विचार ने उनके मन में एक नई चेतना जगादी। मुझे लगता है कि गाधीजी के जीवन में समता का बीज तभी अंकुरित हुआ। मांसाहार का दोष उनके ध्यान में आ गया। मांसाहार अपने आप में एक गलत चीज थी ही, छिपकर मांसाहार करना दूसरी गलत चीज बनी, मांसाहार के कारण माँ के सामने झूठ बोलना पड़ा, कहना पड़ा कि आज भूख ही नहीं लगी, यह तीसरी गलत चीज हुई। गलतियों की इस परम्परा से बचने और अपने माता-पिता के साथ सच्चाई का और प्रामाणिकता का व्यवहार करने की उत्कट भावना से गाधीजी ने यह संकल्प कर लिया कि वे तब तक मांसाहार नहीं करेंगे, जबतक उनके माता-पिता जीवित हैं, और जब तक वे स्वयं सयाने बनकर स्वतन्त्र रूप से कमाने खाने लायक नहीं बन जाते हैं।

[illegible] उस समय और स्पष्ट हुआ, जब बैरिस्टरी सीखने के लिए विलायत जाने से पहले उन्होंने अपनी माँ के पैर छूकर उनकी साक्षी में

और परिवार के अन्य लोगो की साक्षी मे यह प्रतिज्ञा की कि विलायत मे रहते समय वे शराब पीने, मास खाने और पराई स्त्री का सेवन करने से प्रयत्न-पूर्वक बचेगे। ऐसा लगता है कि उस समय तक उन्हे इस बात की प्रतीति हो चुकी थी कि अपनी माता के सुख और सन्तोष मे ही उनका अपना सुख और सन्तोप भी समाया हुआ है। समत्व-युक्त चितन के बिना इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने की प्रेरणा सहसा किसी को नही मिल सकती। माँ का दु ख, माँ की चिन्ता, मेरा ही दु ख और मेरी चिन्ता है, इसकी गहरी अनुभूति उन्हे उस समय न होती, तो वे ऐसी प्रतिज्ञा कर ही नही पाते। माँ के सतोष के लिए तीन साल की अवधि को ध्यान मे रखकर की गई अपनी इस प्रतिज्ञा को उन्होने अपने पूरे जीवनकाल की प्रतिज्ञा मे बदल कर अपने मन की समता का एक अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया है। केवल माँ का सन्तोष ही क्यो ? पूरी मानवता का सन्तोष क्यो नही ? अपनी आत्मचेतना का सन्तोष क्यो नही ? इससे हमे उनकी आत्मौपम्य बुद्धि का ही पता चलता है। इसी के बल पर उन्होने अपनी मन की समता का उत्तरोत्तर विकास किया और वे अपने समय के एक महान् समत्वशील व्यक्ति बने।

दक्षिण अफ्रीका में समता का विकास .

सन् १८९३ मे गाधीजी एक दीवानी मुकदमे के सिलसिले मे दक्षिण अफ्रीका पहुचे। कुछ ही महीनो के लिए वे उधर गए थे। २४ साल की उमर लेकर गए थे। अकेले गए थे। लेकिन दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के बाद वहा के विषम भेदभावयुक्त लोक-जीवन का जो प्रत्यक्ष अनुभव उन्हे हुआ, काले और गोरे लोगो के बीच पडी गहरी खाई का जो भयावना, घिनौना और मन -प्राण को बुरी तरह कचोटने वाला रूप उन्होने देखा, उसने उनकी समत्व बुद्धि को और समता की भावना को प्रबल रूप से जगा दिया। वहा उन्होने पग-पग पर जिस अपमान का, तिरस्कार का, और आदमी-आदमी के बीच के असह्य और अक्षम्य भेदभाव का दर्शन और अनुभव किया, वह उनकी समत्व भावना के लिए एक चुनौती बन गया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका मे फैले रग-भेद और जाति-भेद को अपनी शक्ति-भर मिटाने का सकल्प किया और वे इस काम मे जी-जान से जुट गए। लगातार २१ बरस तक वे वहा सतत जूझते ही रहे। वही उनके सत्व का और उनकी समता का अद्भुत विकास हुआ। वही उन्होने मान-अपमान, सुख-दु ख, हानि-लाभ और जीवन-मरण जैसे सनातन द्वन्द्वो से ऊपर उठकर, जीने और काम करने की कला सीखी। वही अपनो से और बीरानो से निकट की आत्मीयता और पारिवारिकता का विकास एव विस्तार करने की दिशा और दृष्टि उन्हे मिली। वही अपने समाज मे फैली सामाजिक और आर्थिक विपमता को जडमूल से मिटाने के विषय मे उनका अध्ययन, चिन्तन और प्रयोग

रहा। वहीं रस्किन की पुस्तक पढ़कर वे सर्वोदय की दिशा में मुड़े। वहीं गीता का गहन अध्ययन और चिन्तन करते-करते उन्होंने उसके मर्म को समझा।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन

गीता के इस सुप्रसिद्ध उक्ति के अनुसार उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच के भेदों की व्यर्थता को समझा और प्राणिमात्र के प्रति अपनी एकता का भान उन्हें हुआ। वहीं वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य मात्र को अपना मित्र और साथी समझो, पर मनुष्यों में पाई जाने वाली बुराइयों को मिटाने के लिए निर्वैर और निःस्वार्थभाव से सतत जूझते रहो। इस सिलसिले में वहा उन्हें निष्क्रिय प्रतिरोध का, असहयोग का, आगे चलकर सत्याग्रह का रास्ता सूझा। वे अपने जमाने के एक अग्रगण्य और मार्गदर्शक सत्याग्रही बने। सत्य की ही खोज उनके जीवन का मिशन बनी। वहीं वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मानवों की दुनिया में कोई उनका शत्रु नहीं है और स्वयं वे किसी के शत्रु नहीं हैं। अजातशत्रुत्व की उनकी यह भूमिका उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई और वे सारे संसार के एक जाने-माने अजातशत्रु व्यक्ति बन गए। यदि उनके जीवन में, विचार में, वाणी में, व्यवहार में समता न होती, सन्तुलन न होता, संयम, विवेक और सहिष्णुता, उदारता और क्षमा न होती, उनका अपना पिण्ड करुणा से ओतप्रोत न होता, तो देश-विदेश के विचक्षण लोगों ने उनमें जिस महानता के और महात्मापन के प्रभावकारी दर्शन किए, वे दर्शन उस रूप में उन्हें कभी न हो पाते।

दक्षिण अफ्रीका में रहते-रहते ही उन्होंने अपने पारिवारिक जीवन को बड़ी कुशलता से सवारा और निखारा। परिवार की संकीर्ण परिभाषा को उन्होंने जड़-मूल से बदल डाला। उनका परिवार केवल उनमें, उनकी पत्नी में या उनके चार पुत्रों में सीमित नहीं रह पाया। वह उत्तरोत्तर विशाल से विशाल-तर और विशालतम बनता गया। वह मनुष्य-समाज की सीमा से परे पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और कीड़े-मकोड़ों तक फैलता चला गया। इन सबके प्रति उनमें एक सूक्ष्म आत्मीय भाव प्रकट हो गया। वे इन सबके अपने बन गए। यदि उनके जीवन में सच्ची समता विकसित न होती तो वे इतने सहज, सरल [illegible] और [illegible] बन ही न पाते। समता की उनकी साधना ने ही उनमें इन विलक्षण गुणों का और तन-मन की इन अलौकिक शक्तियों का इतना सुन्दर विकास [illegible] किया था। एक बार जैन-तत्त्वज्ञान के जाने-माने विद्वान और चिन्तक [illegible] पण्डित सुखलालजी ने गांधीजी के अलौकिक [illegible] की चर्चा करते [illegible] [illegible] था कि संसार के अनेक महापुरुषों और अवतारों [illegible] [illegible] सुना और समझा है [illegible] [illegible] [illegible] है कि गांधीजी के जीवन में [illegible] [illegible] दर्शन किए हैं [illegible] [illegible] [illegible] नहीं रहे। वह [illegible]

बिना अनीति और अन्याय के अटूट धन-सम्पत्ति का सचय करना औसत आदमी के लिए कभी सम्भव ही नही होता। एक जगह ढेर खडा होगा, तो दूसरी जगह गड्ढा बनेगा ही। उनकी समता उनसे कहती थी कि सग्रह मे सहार छिपा हुआ है। इसलिए वे अपने अपरिग्रह को अन्त तक बढाते ही चले गए। नित्य की अपनी आवश्यकता से अधिक कोई वस्तु वे अपने पास रखना पसन्द नही करते थे। इस विषय मे वे बहुत ही सजग और चौकस थे। उनकी ऐसी सजगता और चौकसाई के कुछ हृदयस्पर्शी प्रसगो की चर्चा करके मै अपने इस लेख को समाप्त करना चाहूगा। इनमे कुछ तो मेरे अपने देखे और जाने हुए प्रसग है।

गांधीजी की समता के ये प्ररक प्रसंग :

१. छुआछूत के अधार्मिक और अमानवीय विचारो और व्यवहारो मे गले-गले तक डूबे हिन्दू समाज को समतानिष्ठ गाधीजी ने पहला धक्का उस समय दिया, जब उन्होने अहमदाबाद के अपने आश्रम मे अस्पृश्य माने जाने वाले एक ढेड परिवार को रख कर अपनी सगी बहन को न केवल नाराज किया, बल्कि उन्हे आश्रम छोड़कर जाने की भी सलाह दी ! जब इस घटना के विरोध में अहमदाबाद के धनिक वर्ग ने आश्रम को आर्थिक मदद देना बन्द किया, तो गाधीजी ने अपने साथियो से कह दिया कि जिस दिन हमारे हाथ मे जरूरी खर्च के लिए पैसा नही रहेगा, हम मिट्टी खोदकर और मिट्टी फोडकर अपनी जरूरत का पैसा कमा लेगे, पर अपने आश्रम मे छुआछूत को तो एक क्षरण के लिए भी नही अपनाएँगे ! समता का प्रखर साधक-उपासक इससे भिन्न और कोई निर्णय ले ही कैसे सकता था ?

२ सन् १९१६–१७ मे गाधीजी ने अहमदाबाद के निकट साबरमती नदी के किनारे वाली वीरान जमीन पर अपना आश्रम खडा किया और उसे सत्याग्रह आश्रम का नाम दिया। जब गाधीजी और उनके साथी इस नई जगह मे आश्रम-वासी की तरह रहने लगे, तो उन्होने देखा कि आश्रम के लिए पसन्द की गई इस भूमि मे तो अनगिनत सापो की बहुत बडी और पुरानी बस्ती है। समतानिष्ठ गाधीजी ने तुरन्त ही एक निश्चय किया और आश्रम के बच्चो से लेकर बड़ो तक सबको यह कह दिया कि हम सापो के घर मे उनके मेहमान की तरह यहाँ रहने आये है अत. हम ऐसा कोई काम नही करेंगे, जिनसे सॉपो को कष्ट हो। उनको मारने की बात तो हम कभी सोचेगे भी नही। साप तो हमारा बहुत ही वडा और भला दोस्त है। उसकी अमूल्य सेवा के कारण ही हमारी खेती पकती है और हम दोनो समय का भोजन कर पाते है। इस तरह गाधीजी की आश्रम-भूमि मे साप अवध्य बना और सन् '१६ से लेकर सन् '३४ तक गाधीजी के सावरमती वाले आश्रम मे सापो की वस्ती पूरी तरह सुरक्षित रही। न किसी आश्रमवासी ने किसी साप को मारा और न किसी साप ने कभी किसी आश्रम-

[illegible] हुआ! दोनों तरफ से पड़ोसी-धर्म का और मित्र-धर्म का अपूर्व पालन हुआ! एक दिन तो एक साँप शाम की प्रार्थना के समय कहीं से रेंगता हुआ चला आया और प्रार्थना में बैठे गांधीजी की पीठ पर चढ़ गया! जिन्होंने अपनी आँखों यह दृश्य देखा, उनकी तो घिग्घी ही बँध गई, पर जब तक प्रार्थना चली गांधीजी समाधिस्थ की तरह बैठे रहे। जब प्रार्थना पूरी हुई, तो अपने बदन पर ओढ़ी हुई खादी की चादर को उलट कर वे थोड़े आगे खिसके और साँप को उसके रास्ते जाने दिया!

३ एक दिन सुबह गांधीजी को बताया गया कि उनके स्नान-घर में रखे गए तांबे-पीतल के बरतन चोरी चले गए हैं। किसी आश्रमवासी की गफलत से उस रात स्नान-घर खुला रह गया था। जैसे ही गांधीजी को इस चोरी की खबर मिली, उन्होंने निश्चय किया कि भविष्य में उनके स्नान-घर में टिन का कनस्तर ही रखा जाए, जिससे किसीको चोरी करने की प्रेरणा ही न हो!

४ एक रात आश्रम में गश्त लगाने वाले भाइयों ने एक ऐसे व्यक्ति को पकड़ा जो चोरी करने के इरादे से आश्रम में आया था। उन्होंने उसे आश्रम के मेहमान-घर के एक कमरे में बन्द कर दिया और वे फिर गश्त पर चले गए। दूसरे दिन सुबह की प्रार्थना के बाद गांधीजी को बताया गया कि रात गश्त लगाने वालों ने एक चोर को पकड़ा है और उसे मेहमान-घर के एक कमरे में बन्द किया है। गांधीजी ने चोर माने गए आदमी से मिलना चाहा। वे गांधीजी के सामने लाए गए। गांधीजी ने उनसे पहली बात यह पूछी कि रात को उन्होंने कुछ खाया था या नहीं? जब पकड़े गए भाई ने कहा कि रात वे भूखे ही रहे हैं, तो गांधीजी ने अपने साथियों से कहा कि पहले इन्हें कुछ खिला-पिला दो और फिर मेरे पास लाओ। जब वे खा-पीकर लौटे, तो गांधीजी ने उन्हें बड़े प्रेम से अपने पास बैठाया और पूछा कि वे चोरी क्यों करते हैं? अगर उन्हें कहीं काम न मिलता हो तो वे आश्रम में आ जाएं। यहां उन्हें काम दिया जाएगा और इस तरह वे अपने पसीने की रोटी खा सकेंगे। गांधीजी के इस वात्सल्यपूर्ण व्यवहार ने उस भाई को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने उनके सामने ही फिर कभी चोरी न करने की प्रतिज्ञा की!

गांधीजी के समता-पूर्ण जीवन, विचार, वाणी और व्यवहार को उजागर करने वाली ऐसी अनगिनत घटनाएं उनके जीवन-काल में घट चुकी हैं। यहां उन सबका [illegible] सम्भव ही नहीं है। आवश्यक भी नहीं लगता। गांधीजी ने अपने आचार और [illegible] द्वारा जिस अपनी समता-निष्ठा का और समत्वशीलता का जो सुन्दर, सजग और स्फूर्तिप्रद दर्शन कराया है, उसकी थोड़ी झांकी हम, ऐसे इन [illegible] के [illegible] से ऊपर की पंक्तियों में करा चुके हैं। आशा है, पाठकों को [illegible] प्रिय [illegible] और उनके [illegible] [illegible] के [illegible] में [illegible] हो सकेगी।

• • •

२३

समत्वमूलक जीवन-चर्या : वर्तमान संदर्भ में

☐ मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'कमल'

चेतना जीवन रक्षा की :

ससार का प्रत्येक प्राणी अपने लिये सुख की कामना करता है। अपने लिये सुख प्राप्त करने तथा दु.ख से बचाव की चेष्टा का भान छोटे-से-छोटे प्राणी मे भी होता है। एक चीटी भी उस पर पानी का छीटा डाले तो उससे बचने के लिये प्राण-प्रण से प्रयत्न करती है। जीवन रक्षा की चेतना यूं सभी प्राणियो मे होती है किन्तु जिस प्राणी मे इन्द्रिय विकास जितना अधिक होता है वह अपने लिये सुख प्राप्त करने की चेष्टा भी उतनी ही अधिक करता है। सभी प्राणियो मे मनुष्य का विवेक सर्वाधिक रूप से विकसित होता है अत. मनुष्य की सुख-दु:ख सम्बन्धी चेष्टाएँ अधिक होती है। उनका प्रभाव व्यापक होता है।

अपना सुख, सबका सुख :

सामान्य मनुष्य जिस मिथ्या दृष्टि के साथ चलता है, उसके प्रभाव से वह यही सोचता है कि उसे और उसके निकटस्थो को सुख मिले। पहली बात यह कि दूसरों को सुख मिलता है या नही इसकी वह चिंता नही करता। दूसरी यह कि स्वार्थ के हावी होने पर वह अपने सुख के लिये दूसरों के सुख को छीनने या नष्ट करने की कोशिश भी करता है। इस तरह अपने-अपनों के सुख के दायरो मे वन्द होकर वह स्वार्थी, हृदयहीन, बर्बर तथा क्रूर बन जाता है। यह मनुष्य का ममत्व होता है, जो सुख है, वह मेरा हो—इस भावना के प्रभाव से उसकी सम्यक् दृष्टि अथवा उसका सद् विवेक कु ठित बना रहता है तथा ममत्व मे मदान्ध होकर वह संसार मे अनीति, अन्याय, अत्याचार मे डूब जाता है।

इस दृष्टि से संसार में ममत्व का प्रभाव जितना बढ़ता है, गहरा होता है उतना ही अन्याय पूर्ण वातावरण विस्तृत होता है। वस्तुतः अन्याय का अर्थ ही यह है कि न्याय सबको नहीं मिलता, और न्याय नहीं मिलता है तो सबको सुख नहीं मिलता। यदि सबको सुख नहीं मिलता तो मूल रूप में एक को भी सच्चा सुख नहीं मिलेगा। समत्व में अपना सुख सबका सुख, यह मनोदशा आज नहीं है। मनुष्य को विचार करना होगा कि उसे अगर अपना सुख चाहिये तो वह दूसरों के सुख पर आक्रमण ही क्यों करे?

और यदि वह इस मोह चेष्टा के साथ छीन-झपट करता है तो अन्ततोगत्वा वह अपना सुख ही खो बैठता है। क्योंकि प्रतिशोध की इस ज्वाला से वह स्वयं को बचा नहीं सकता, संभव है अस्थायी तौर पर वह अपने लिये सुख-सुविधाओं के किसी नीड़ की रचना भी करले फिर भी किसी सुदीर्घ सुख की याचना वह कर नहीं पायेगा।

अतः समत्व का मूल सिद्धान्त यह है कि तुम अपने सुख की चिन्ता छोड़ दो—ममत्व त्याग दो, सबके सुख की चिन्ता करो क्योंकि सबके सुख में अपना सुख तो आपोआप सन्निविष्ट है।

अपने आचरण का मूल समत्व पर आधारित होना चाहिये। सम्यक् दृष्टि के साथ जब समत्व-मूल का विकास होगा तब मनुष्य जड़ सुखों के पीछे पागल सा नहीं भटकेगा तथा आत्मिक गुणों का विकास साधकर सच्चे सुख का रसास्वाद करता जायगा। समत्व-मूल के स्थापित हो जाने पर समस्त जीवनचर्या तदनुसार बन जायगी तथा सबके सुख में अपने सुख की अनुभूति होने लग जायगी।

समाज का आदिम स्वरूप :

मनुष्य के सामाजिक [illegible] बिन्दु पर विचार करने से पहले हम यह [illegible] आधुनिक [illegible] वैज्ञानिक [illegible] के इतिहास-क्रम में [illegible] वैज्ञानिक दृष्टि से [illegible]

उसने अपने अर्जन का साधन बनाया तो उसे एक स्थान पर स्थिर होना पड़ा। इस तरह जन्म हुआ सम्पदा का।

सम्पत्ति के जन्म के साथ मानव के स्वार्थ अभिव्यक्त होने लगे और फिर हुई पूँजीवाद की शुरूआत। माया-ममता यही से पनपी। सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न पैदा हुआ। फलस्वरूप सामन्तवादी खेमा बना। वर्ण-व्यवस्था शुरू हुई। जिन्होंने रक्षा का भार लिया वे क्षत्रिय कहलाये। समाज के लिये अर्जन का दायित्व वैश्यो ने लिया। ब्राह्मण-वर्ग धर्म और ज्ञान की ओर प्रसार का अभिशरण बना। सबकी सेवा करना शूद्रो पर थोपा गया। वर्ण-व्यवस्था भारतीय इतिहास की विशेषता थी। सामन्त भूमि का स्वामी बन गया तो वणिक ने अपने व्यापार-प्रसार के जरिये अपना वर्चस्व दूर-दूर तक स्थापित कर लिया। व्यापार के लिये आये अग्रेजो ने हुकूमत पर कब्जा कर लिया। सामन्तवाद भी पूजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप मे दुनिया के सभी भागो मे फैलता गया। इन व्यवस्थाओ से उत्पन्न असमानताओ के कारण असतोष बढा तथा विद्रोह हुए।

समत्व का मूल मनुष्य के मन मे फिर अकुरित हुआ। राजनीति, जनतत्र तथा अर्थ-क्षेत्र मे समाजवाद और साम्यवाद आये। यह विकास मनुष्य के मन मे बैठे समत्व के कारण ही सम्भव हो सका। आज जनतत्र को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप मे पनपाने और अपनाने की ओर आवाज है। उसके पीछे भी यही समत्व मूल बना है। इस रूप मे मानव-जाति का जो वैज्ञानिक इतिहास माना जाता है, वह भी समत्व उपलब्धि का प्रबल साक्ष्य ही है।

समत्व, मनोविज्ञान और आध्यात्म :

मनुष्य के अन्तर्मन की गहराइयो मे समत्व का ही अस्तित्व है, यह कोई भी महसूस कर सकता है। मुझे अन्य सबके समान समझा जाये, यह प्रत्येक मनुष्य के मन मे बैठी मूल भावना है। इसी कारण वह अपने साथ किये जाने वाले भेद-भाव को सहन नही कर सकता है। इसको एक दृष्टान्त से समझना चाहिये—मानिये एक साथ चार व्यक्तियो को एक पक्ति मे आपने भोजन करने के लिये बिठाया, किन्तु चारो की थाली मे अलग-अलग सामग्री परोसी गई। एक थाली मे मक्के की रोटी व एक सब्जी, दूसरे को गेहूँ की रोटी और चार सब्जी, तीसरे को एक मिठाई और नमकीन अधिक रखा तो चौथे को कई मिष्ठान और नमकीन परोसा तो चौथे की तुलना मे शेष तीन व्यक्ति भोजन करने मे बडा कष्ट अनुभव करेंगे जिसका एकमेव कारण होगा भेदभाव। यह भेदभाव न हो और चारों थालियो मे समान भोजन हो—चाहे वह मक्के की रोटी व एक सब्जी ही क्यो न हो, फिर भी किसी को कोई कष्ट नही होगा और

सबके साथ बैठकर प्रेम पूर्वक भोजन करेंगे। इस प्रकार के विचार में समत्व ही सक्रिय है।

समत्व सूत्र का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी बड़ा सशक्त है और पग-पग पर अपने साथ किये जाने वाले विषमतापूर्ण व्यवहारों से जूझता रहता है। किन्तु इस पहलू के साथ जब तक आध्यात्मिक पहलू नहीं जुड़ता, तब तक मनुष्य का दृष्टिकोण एकांगी ही बना रहता है। वह अपने सुख और अपने साथ समत्व-पूर्ण व्यवहार के लिये ही सोचता है। आध्यात्मिक पहलू के पुष्ट होने पर ही वह सार्वजनीन तथा व्यापक दृष्टिकोण बना पाता है।

समत्व सूत्र का आध्यात्मिक पक्ष इस दृष्टि से सर्वोच्च महत्त्व का माना जाना चाहिये। मोह को जीतने के विवेक तथा प्रयास को जो सक्रिय बनाता है वही समत्व के सूत्र को अपने जीवन में भावनात्मक दृष्टि से जगा पाता है। जब समत्व आत्मसात् हो जाता है तो वह सम्पूर्ण विचार में प्रभावशील हो जाता है।

वर्तमान विषमता के कारण और परिप्रेक्ष्य में समत्व-सूत्र :

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का चूंकि मूलाधार अर्थ है, अर्थ में भी पूंजीवादी पद्धति। अतः वर्तमान विषमताओं के कारण इसी पद्धति में सन्निहित हैं। पूंजीवादी पद्धति व्यक्तिवादी है और इसमें व्यक्तिवादी लाभ का ही मुख्य दृष्टिकोण है। इससे होड़, गर्दनतोड़ स्पर्धा चलती है और व्यक्ति द्वारा अधिकाधिक लाभ कमाने की बेहद दौड़ चलती है, जिससे व्यापक विषमता का वातावरण बनता है। शोषण का बोलबाला हो जाता है और श्रम उसकी अधीनता में आ जाता है। वर्तमान में सामाजिक विषमता बहुत गहरी है।

धराशायी हो जाती है क्योकि एक ओर सम्पन्न वर्ग अपनी मदान्धता में, तो दूसरी ओर अभावग्रस्त वर्ग अपनी आर्थिक लाचारियो मे नैतिकता से दूर हटता जाता है। जिस समाज से नैतिकता विदा हो जाती है, उस समाज मे धर्म और आध्यात्मिकता का रूप स्वस्थ कैसे रह सकता है ?

अधिक अर्थ सचय अधिक ममत्व को जन्म देता है, तथा अधिक ममत्व सदैव समत्व-मूल पर प्रहार करता है। यदि समत्व का प्रकाश नही रहेगा तो ममत्व का अधकार फैलेगा ही। आज सारा समाज इसी अधकार मे भटक रहा है। वह दिग्भ्रान्त है।

जीवन बदलने का प्रश्न :

अर्थ-मूल्यो पर आधारित जीवन-चर्या को जब तक हम श्रम एव नीति के मूल्यों पर आधारित नही बना लेते तब तक वह समत्व-मूल को पुष्ट करने मे सहायक नही हो सकती। जीवन-चर्या को निज की इच्छा एव भावनापूर्ण बनाने मे महावीर-दर्शन एक सशक्त प्रेरणा देता है। उनके अपरिग्रह दर्शन मे स्पष्ट कहा गया कि अर्थ के प्रति अपने ममत्व को घटाते जाओ। एक गृहस्थ के जीवन मे धन का अपना महत्त्व होता है। जिसके बिना एक कदम भी चलना दूभर होता है, किन्तु इस अर्थ का उपयोग जूते की तरह किया जाना चाहिये, पगडी की तरह नही। यही ममत्व-विसर्जन की स्थिति है।

हर आदमी रोटी की जगह रोटी खाता है। वह न तो सोना चबाता है न नोट। यह इसकी तृष्णा ही है कि वह अपने लिये अधिकाधिक अर्थ सचय करता है। मनुष्य की इस वृत्ति पर ललकारते हुए महावीर ने कहा कि—'मूच्छा परिग्गहो' जो परिग्रह के प्रति मूर्च्छा है, ममत्व है, वही पहिग्रह है, अर्थात् सोना, चाँदी, धन, सम्पत्ति, स्वयम् मे परिग्रह नही है, सबसे बडा परिग्रह उसके प्रति ममत्व, मूर्च्छा है। ममत्व छूट जाये तो हर समदर्शी के लिये सम्पत्ति मिट्टी के ढेले के समान हो जाती है। वर्तमान सदर्भ मे जब अर्थ के इस प्रभुत्व को ममत्व-त्याग के बल पर घटा दे या समाप्त करदे तो फिर नीति जीवन-चर्या की निर्देशिका बन जावेगी। यह नीति श्रम पर आधारित होगी और जब इन्सान अपने ही श्रम की रोटी खायेगा तो मन विशुद्ध बनेगा। मन विशुद्ध बनेगा तो वचन शुद्ध होगा और शुद्ध मन तथा वचन सम्पूर्ण आचरण को शुद्धता मे ढाल देगा। ऐसा समग्र शुद्ध वातावरण ही समत्व-मूल को सुदृढ बना सकेगा।

समत्वमूलक समाज :

भारतीय सस्कृति मे समत्वमूलक समाज की मात्र परिकल्पना ही नही की गई अपितु उसे साकार करने की दृष्टि भी दिखाई गई है। 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की हमारे यहाँ परिकल्पना है। यदि सारा ससार ही एक परिवार

२४

समता–दर्शन : आज के सन्दर्भ में

□ श्री प्रकाशचन्द्र सूर्या

विश्व आज असमानता, वमनस्य और अराजकता की लपटो मे झुलस रहा है। भौतिक सम्पन्नता, विलासी जीवन, मानव के उद्विग्न मन को आवश्यक सुख-शाति उपलब्ध नही करा पाया है, फिर भी सत्ता और सम्पन्नता की होड मे मानव अंधी दौड़ लगा रहा है।

सामाजिक असमानता को दूर करने के लिये समाजवादी विचारधारा का सूत्रपात दुनिया के कई देशो मे सत्ता के माध्यम से हुआ। समाजवादी विचारधारा मानव-मस्तिष्क मे क्राति लाने के बजाय, मानव के आचरणो को समतामय बनाने के बजाय और उसके जीवन-ससार को सुख एवम् स्वर्ग तुल्य बनाने के बजाय, उसकी आकाक्षाओ पर मात्र ऐसे मलहम के रूप मे प्रयुक्त हुई जो कुछ समय के लिये ठडक तो दे सकती है परन्तु उसके घाव को ठीक करने के बजाय अधिक गहरा करती है।

समाजवाद वस्तुतः राजनैतिक विचारधाराओं से सम्प्रेषित रहा। उसमे मानव और उसके जीवन-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे सदाचार और सुसस्कार के पोषण के सिद्धान्तों का अभाव है। समाजवाद अधिकारो को सघर्ष से प्राप्त करने की राह बताता है जबकि अधिकारों की प्राप्ति मूलतः योग्यता पर आधारित है।

सम्पत्ति व सत्ता, योग्यता एवम् सस्कारजन्य उपायों से प्राप्य होना चाहिये। न तो सम्पत्ति साध्य है न ही सत्ता। न इनके लिये साधना आवश्यक

आज के जीवन की सबसे गहन पीडा भी यही है—बढती हुई भोगलिप्सा एवम् अति भौतिकवादी जीवन-प्रक्रिया, जिसने आधारभूत आवश्यकताओ को भुला दिया है ।

समाजवाद वर्गहीन समाज की कल्पना करता है । नि सन्देह यह कल्पना मूल्यवान है, परन्तु समता-दर्शन मे गुण-कर्मो के आधार पर वर्गो की कल्पना की है । जन्म से, आर्थिक सम्पन्नता से कोई उच्च अथवा गरीवी से कोई हीन नही हो सकता । व्यक्ति के अर्जित गुणो एवम् कार्य की उच्च-नीचता की नीव पर जो वर्गीकरण खड़ा किया जायगा, वही वास्तव मे मानवीय समता को एक ओर पुष्ट करेगा तो दूसरी ओर सद्गुणो एवम् सत्कर्मो को प्रेरित भी करेगा ।

आज विषमताओ का फैलाव व्यक्ति से लेकर समाज तक, समाज से लेकर देश और देश से लेकर विश्व तक ही सीमित नही है । विज्ञान एवम् आध्यात्म भी इससे अछूते नही है । विषमता के इस वृहत नागपाश से समाज को मुक्त करने का समग्र समाधान 'समता' मे निहित है । विषमता विकृति है, समता पूर्णता है ।

द्वितीय खण्ड

समता-व्यवहार

२५
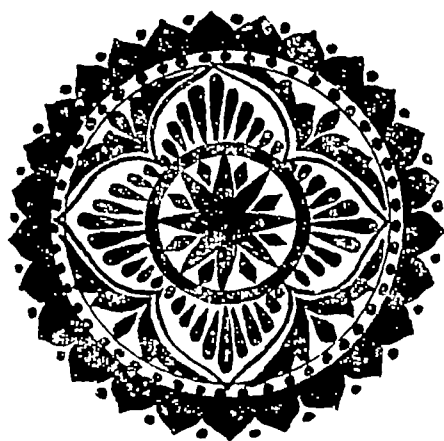
जीवन में समता लाने के उपाय

☐ आचार्य श्री हस्तीमलजी म०सा०

विषमता दुःख, क्लेश और अशान्ति की जननी है तो समता सुख, शान्ति, सन्तोष और स्थिरता को सरसाने वाली एवं अभीष्ट फल देने वाली कामधेनु है। घर, परिवार या राष्ट्र कहीं भी समता के बिना शान्ति सुलभ नहीं हो सकती। शास्त्र में कहा है—'समयाए विणा मुक्खो, नहु हुओ कहवि नहु होई' अर्थात् समता के बिना कभी आत्मा की मुक्ति नहीं हुई और न होगी।

अब प्रश्न उठता है कि भौतिकता के चकाचौंध भरे आज के आडम्बरी जीवन में जहाँ हर व्यक्ति अपने को दूसरे से सुखी, समृद्ध और बड़ा देखना चाहता है, अपनी सुविधा के सामने दूसरे की दुविधा का कुछ भी ध्यान नहीं रखता, स्वार्थ-सिद्धि के सामने परमार्थ पर पल भर भी विचार करना नहीं चाहता, ऐसी स्थिति में जीवन में समता का आसन कैसे जमाया जाय?

आत्मौपम्य बुद्धि

यह सच है कि समता एक उत्कृष्ट साधना है, अनुपम व्रत है, मगर व्यवहार में समता को लाना तभी संभव है जब मन में प्राणि-मात्र पर आत्म-बुद्धि हो। जगत् के जीवों को आत्म तुल्य समझे बिना, व्यवहार में समता आ नहीं सकती। भगवान् महावीर ने 'स्थानांग सूत्र' में कहा है—'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। संसार के अनन्त-अनन्त जीव चेतना या उपयोग गुण से एक हैं। स्वरूपतः इनमें भेद नहीं मानना। जब जीव मात्र को अपना रूप मानता है। दृष्टि में भेद नहीं होगा तो व्यवहार में भी भेदभाव का स्थान नहीं रहेगा। गीता में भी कहा है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति' अर्थात् जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है, वह पण्डित है। आत्मतुल्य सबको देखने वाला

किसी के साथ विपम व्यवहार क्यो करेगा ? कहा भी है—'ग्रात्मौपम्येन भूताना दयाकुर्वन्ति साधव ।' याने ससार के सभी साधु, महात्मा अपनी तरह अन्य प्राणियों के प्राण को भी रक्षणीय समझते है । 'ग्राचाराग' सूत्र मे स्पष्ट कहा है जिसको तुम मारते हो ग्रौर पीडा देते हो, वह स्वय तुम ही हो । इस प्रकार जीव मात्र मे ग्रात्म बुद्धि हो जाने पर वैर, विरोध ग्रौर किसी प्रकार का विषम-भाव का उदय ही नही हो पाएगा ।

जैसा कि कहा है—तुमसिणाम त चेव ज हतव्वति मण्णसि, तुमसिणाम त चेव ज ग्रज्जावेयव्वति मण्णसि, तुमसिणाम तं चेव ज परियावेयव्वति मण्णसि, एव ज परिघेत्तव्वति मण्णसि, ज उद्दवेयव्वति मण्णसि, ग्रजूचेय पडिबुद्धजीवी, तम्हा ण हता णवि घायए, ग्रणुसवेयणमप्पाणेण ज हतव्व णाभिपत्थए । —ग्राचा० १।५।५।१६४

सरल स्वभावी साधक इस प्रकार विवेकपूर्वक जीवन चलाता, इसलिए न किसी की घात करता है ग्रौर न करवाता है, क्योकि वह पर जीव से ग्रपनी ग्रात्मा की तुलना एव वेदन कर किसी को मारने की इच्छा ही नही करता ।

जागतिक जीवो के प्रति यह ग्रात्मीय भाव बना रहे तो कही भी विषम व्यवहार का कारण ही उपस्थित नही होगा ग्रौर समता की शीतल सरिता मे ग्रवगाहन कर सभी परम प्रसन्न ग्रौर सुखी हो सकेगे ।

गुणग्रहण की ग्रभिरुचि :

मानव जब किसी के दोषो का विचार करता है, तब सहज ही मन मे विषमता का उदय हो ग्राता है । ग्रत विषमता से बचने के लिए ग्रावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति मे दोष के बदले गुण देखा जाय तथा उसे ग्रहण किया जाय । गुण-दर्शन ग्रौर ग्रहण से सहज ही प्रेम ग्रौर सौहार्द का जागरण सभव होता है । इससे दूसरे के मन मे भी ग्रादर उत्पन्न होगा ग्रौर धर्म के प्रति श्रद्धा बढेगी ।

वस्तु मे गुण ग्रौर दोष दोनो प्रचुर मात्रा मे होते हैं । हमको हस जैसे नीर-क्षीर विवेक न्याय से दोषो के बीच से गुण को ग्रहण कर लेना है । गुण-ग्रहणता का लक्ष्य होने से, विषमता स्वत. दूर हो जायेगी ग्रौर समता मानस मे वास कर लेगी, ग्रत गुण-ग्रहण के लिए सतत ध्यान बनाये रहे ।

स्वदोष-दर्शन

वैर-विरोध या वैमनस्य का प्रमुख कारण पर दोष-दर्शन है । इसी के कारण ग्राज ससार मे जहां-तहा पारस्परिक विरोध ग्रौर कलह का बोलबाला है । प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के तिल जैसे दोष को ताड की तरह देखता ग्रौर ग्रपने ताडवत् दोष को तिल तुल्य मानता है । केवल दोष दर्शन ही नही किन्तु उस पर होने वाली कटु ग्रालोचना भी ग्रापसी मधुर सम्बन्ध को विषाक्त कर देती है ।

सबके मन मे एक ही बात घर किये रहती है कि मै ही ठीक हू और कोई नही। बस यही विषमता की बुनियाद है। जब तक हमारी दृष्टि गुण दर्शन के बदले, दोषो को देखती रहेगी, तब तक मन मे समता सम्भव नही है।

कल्याणकामी जनो का यह परम कर्त्तव्य है कि वे परदोष दर्शन के बदले स्वदोष पर ही दृष्टि डाले तथा सोचे कि—'मो सम कौन कुटिल खल कामी' अर्थात् मुझ से बढ़कर कोई भी खल, कुटिल और कामी नही है। इस तरह जब स्वदोष-दर्शन का स्वभाव पड़ जायेगा तो दूसरे का कभी तिरस्कार नही होगा। गुणो के प्रति प्रमोद जगने से कही त्रुटि देखने की आवश्यकता ही नही पड़ेगी। स्वदोष दर्शन से दूसरे के दोष देखने की आदत छूट जायेगी, जिससे पारस्परिक ईर्ष्या, रोष और द्वेष भावना ठडी पड़ जाएगी।

सर्वभूत-मैत्री :

ससार मे प्राय अधिकाश व्यक्ति अपने दु ख को ही दु ख समझते, दूसरे के दु ख को नही। वे मानते है कि 'मैं सुखी तो जग सुखी।' अपने घर और परिवार को ही अपना समझने वाले लोग कभी किसी को गिरते देखकर सहानुभूति के बदले हँसने के सग ताली पीटने लगते है। भला ! ऐसे लोगो के जीवन मे समता कैसे आ सकती है ?

समता के लिए पर के साथ भी पारिवारिक प्रिय दृष्टि का होना आवश्यक है। शरीर के अगो मे कभी कही बाधा आ जाय तो समान रूप से उसकी सभाल की जाती है। सिर हो या पैर शुश्रूषा मे भेद नही होता, ऊच-नीच की दृष्टि नही रहती, वैसे ही प्राणिमात्र म भी अगागी भाव से देखने पर, विषमता नही पनपती, उल्टे सुख, शान्ति और सतोष वहाँ उजागर हो उठता है।

समता और सादगी :

लोक जीवन मे रहन-सहन और ठाटबाट का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति विशाल कोठी मे रहता, बढ़िया वस्त्राभूषण पहनता और वातानुकूल कार या मकान मे घूमता है और दूसरा एक कच्चे मकान मे रहता, फटा वस्त्र पहनता तथा पाँ ही पैर रगड़ते चलता है। इस रहन सहन के भेद से एक मे अहकार उत्पन्न होता तो दूसरे मे दीनता के साथ ईर्ष्या का अनल धधक उठता है। यदि रहन सहन मे सादगी अपनाली जाय तो बहुत-सी विषमता अनायास ही समाप्त हो जाए।

रहन सहन सम्बन्धी अमीर गरीब की भेद-रेखा सादगी से मिटायी जा सकती है। प्राचीन काल मे श्रीमन्त भी ग्रामीणो के साथ वैसे ही कच्चे मकान मे रहते और उन्ही की तरह मोटे और सादे वस्त्र पहनते थे। फलत वे गरीबो

की आँखो मे नही अखरते थे। अमीर और गरीबों की वेष-भूषा में इतनी समानता होती थी कि सहज मे पहचानना कठिन हो जाता था। वस्तुतः समाज मे समता-विस्तार के लिए सादगी आवश्यक है।

अमीरी और विलास के लिए परिग्रह का सचय अत्यावश्यक होता है एवं उसके लिए हिसा, असत्य, चोरी, डकैती आदि दुष्कर्मों का खुलकर प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति मे समता जीवन मे कैसी आयेगी ? अतः आवश्यक है कि सादगी पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाय। 'सादा जीवन और उच्च विचार' रूप भारतीय सस्कृति के महत्त्व को हृदयगम किया जाय।

सादगी अपनाने पर आवश्यकताए सीमित हो जायेगी और हम व्यर्थ के हाय-हाय से बच जायेगे। भारतीय ऋषि-मुनियो ने सादगी को अपना कर ही समता का साक्षात्कार किया था। त्यागियो और अनगारो का वह पूर्ण सादा जीवन आज भी आँखो मे झलक रहा है।

भाषा और व्यवहार में मृदुता

समता और विषमता की पहचान मानव के वचन और व्यवहार से होती है। हमारा बोलचाल और लेनदेन का व्यवहार ही वृत्तियो मे समता या विषमता को उत्पन्न करता है। किसी का सत्कार और किसी का तिरस्कार मानसिक विषमता को प्रकट करते है। अत' समता के लिए आवश्यक है कि सबके साथ भाषा और व्यवहार मे मृदुता एव समादर हो। यह तभी संभव है जब सबके प्रति बन्धुत्व और आत्मीयता हो। पिता, पुत्र, भाई-भाई और स्वजन-परिजन से सम्बन्धित हजारो लोग भिन्न-भिन्न होकर भी एक-रस होकर रहते है। उनमे भेद होते हुए भी विषमता नही मानी जाती। सबके प्रति प्रेम एव आदरपूर्ण व्यवहार रखने वाला विषम दृष्टि से नही देखा जाता।

निर्मम जीवन और समता

समता-सिद्धि के लिए जीवन को निर्मम बनाना आवश्यक है। ममता ही दुःख और विषमता की जननी है। धन, जन एव परिवार की ममता मे उलझा हुआ मानव सदा चिन्तित और व्याकुल बना रहता है। ममता मे फसा प्राणी एक से राग और दूसरे से द्वेष करता है। देखा जाता है कि ममतालु को कही शान्ति नही मिलती। राजा या रक, अमीर या गरीब, बालक या वृद्ध, रागी अथवा विरागी कोई भी क्यो न हो, जब तक ममता मे बधा है, समता की उपलब्धि नही होगी। समता के लिए ममभाव को घटाकर, माध्यस्थ भाव का आलम्बन लेना आवश्यक है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को जानकर मध्यस्थ रहने वाला, हर स्थिति मे सन्तुष्ट रहता है।

'ज्ञाताधर्मकथा सूत्र' मे बताया गया है कि राजा जितशत्रु के मन्त्री सुबुद्धि ने बदलती हुई परिस्थितियो मे भी, कैसे समता को बनाये रक्खा। राजा के साथ विशिष्ट भोजन मे सब लोगो ने भोजन की सराहना की पर मन्त्री तटस्थ रहा। ऐसे ही खाई के बदबूदार पानी से भी सब लोग नाक भौ सिकोडकर निकले, पर मन्त्री उसमे बिना किसी भय और चिन्ता के तटस्थ ही नही रहे, किन्तु गन्दे पानी को स्वच्छ बनाकर राजा के समक्ष प्रमाणित कर दिया कि ससार के सब पदार्थ शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ होते है। इनमे हर्ष-शोक करने जैसा कोई कारण नही है। राजा, सुबुद्धि की इस गभीरता एव समझ से प्रभावित होकर व्रती-श्रावक बन गया। यह समता का ही प्रभाव है।

महाराजा भरत इसी निर्मम भाव के कारण छ खण्ड के अधिपति होकर भी हर्ष-शोक मे नही पडे। किसी ने भरत के लिए भगवान् ऋषभ द्वारा मोक्ष जाने के निर्णय का विरोध किया। कहने लगा कि इतना बडा आरम्भी यदि मोक्ष जायेगा तो नरक किसके लिए है? प्रसग का ज्ञान होने पर भरत ने उस पर रोष नही किया, पर तेल का कटोरा हाथ मे देकर, नगर भ्रमण करा के समझाया कि मनुष्य तन से विभिन्न प्रवृत्तिया करते हुए भी मन से निर्मम, अलिप्त रह सकता है।

माध्यस्थभाव से जीने की यह कला समता-प्राप्ति का प्रमुख उपाय है। जिसने ससार के द्वन्द्व मे इस तरह माध्यस्थ भाव से जीना सीख लिया, उसे ससार के सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, सयोग-वियोग और भवन या वन मे हर्ष-शोक नही होता। उसका मन तथा मस्तिष्क सदा, सर्वत्र शान्त, सतुलित और स्वस्थ रहता है। यही समता की आराधना का लाभ है।

विचार सहिष्णुता और समता

विश्व के रगमच पर नाना आकृति, प्रकृति और रुचि के प्राणी होते है। सबके शरीर स्वभाव, आचार, विचार एव व्यवहार एक से नही हो सकते। इन भिन्नताओ से यदि मानव टकराता रहा तो ससार अशान्ति का अड्डा बन जायेगा। अत हमे भिन्नता मे भी अभिन्न रूप खोजने का यत्न करना चाहिए।

महर्षियो ने कहा है—'एक माहि अनेक राजे, अनेक माहि एकक'। हम [illegible] की भाषा मे अनेक मे एक और एक मे अनेक भी है। हमे व्यक्तिगत ही नही देश जाति धर्म और सम्प्रदाय भेद से भी टकराहट को समाप्त करना है। हर देश जाति-धर्म एव सम्प्रदाय को परस्पर भाईचारे के व्यवहार से रहना है।

प्राचीन साहित्य मे पशु जगत् के अमुक जन्तुओ से भी शिक्षा ग्रहण करने की बात कही गयी है। फिर भला! मानव अपने साथ रहने वाले भाइयों से ही

जाति, प्रान्त, धर्म या सम्प्रदाय के नाम से घृणा या तिरस्कार करता रहा तो यह कितनी हास्यास्पद बात होगी ?

तप, जप, सत्सग आदि हमारी धार्मिक साधना, जो ममता की बेडी काटने के लिए की जाती है, राग भाव की तीव्रता से सफल नही हो पाती । उसमे ममता पनप रही है क्योकि हम देव, गुरु, धर्म को भी राग घटाने के स्थान पर राग वृद्धि का कारण बना रहे है । हम अपनी आम्नाय के देव, गुरु, धर्म से भिन्न अन्य को तिरस्कार भरी हीन दृष्टि से देखने लगे हैं । गुण पूजा का स्थान व्यक्ति पूजा और वेष पूजा ने ले लिया है । इतिहास बतलाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ के भक्त भगवान् महावीर को देव, गुरु मानने मे नही सकुचाये और न भगवान् महावीर के श्रमणोपासक पार्श्व-परम्परा के साधुओ की भक्ति मे ही कभी पीछे रहे । उन्होने महाव्रती साधु मे गुरु रूप के दर्शन किये थे ।

मगर आज हम छोटी-छोटी बात को लेकर भी आपस मे टकरा जाते है । फलस्वरूप साधना मे समता के दर्शन नही हो पाते । हमे राष्ट्र, जाति, धर्म और सम्प्रदाय मे मैत्रीपूर्ण व्यवहार को बढावा देकर यह प्रमाणित करना चाहिए कि धर्म राग-द्वेष को क्षीण करने वाला है । हमारा यह यत्न होना चाहिये कि एक दूसरे के विचारो का आदर करते हुए, परस्पर के उपादेय अश को ग्रहण करे । इससे आपसी प्रेम और मित्रता की वृद्धि होगी जो समाज मे समता उत्पन्न कर सकेगी ।

समता और आत्मालोचन

विश्व के चराचर प्राणियो के साथ मैत्री भाव से रहने का ध्यान रक्खा जाय तो जीवन मे समता की प्राप्ति हो सकती है और विषमता को उत्पन्न करने वाला वैर-विरोध रूप दावानल शान्त हो सकता है । पर यह समता तब तक स्थायी और पूर्ण नही हो पाती, जब तक राग-रोष का सर्वथा उन्मूलन नही कर लिया जाय ।

शान्ति और समता से जीवन चलाने वाले परिवार एव समाज के सदस्यो के मन मे भी मोह वश कदाचित् वैषम्यभाव का उदय होना और प्रमाद से समता वृत्ति मे चूक जाना सभव है । अत: समता की लहर को स्थिर करने के लिए, आत्म-निरीक्षण एव परिशोधन का ध्यान रखना होगा ।

आज घर मे किसी सेवक और गाव मे दलित वर्ग के साथ कभी अभद्र-व्यवहार होता या उसको दबाया जाता तो सरकार मे शिकायत की जाती तथा प्रतिपक्षी को दडित करने के लिए जोर दिया जाता है । यदि आत्न-निरीक्षण से अधिकारी व्यक्ति अपनी भूल को देखता रहे और उसके लिए स्वय क्षमा-

२६
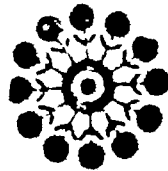
समता और उसका मुख्य बाधक तत्त्व—क्रोध

□ डॉ० हुकमचंद भारिल्ल

समताभाव आत्मा का सहज स्वभाव है। आत्मा का सुख और शाति भी समताभाव मे ही निहित है। यद्यपि यह समतास्वभावी आत्मा ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का कन्द है, स्वभाव से स्वय मे परिपूर्ण है तथापि कुछ विकृतिया, कमजोरिया तब से ही इसके साथ जुडी हुई है, जब से यह है। उन कमजोरियो को शास्त्रकारो ने विभाव कहा, कषाय कहा और न जाने क्या-क्या नाम दिये। उनके त्याग का उपदेश भी कम नही दिया। सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय भी उनके त्याग को ही बताया। यहाँ तक कहा—

> क्रोध, मोह, मद, लोभ की, जो लो मन मे खान।
> तों लो पडित—मूरखो, तुलसी एक समान॥

महात्माओं के अनेक उपदेशो के बावजूद भी आदमी इनसे बच नही पाया। अपने समता स्वभाव को प्राप्त कर नही पाया।

इन कमजोरियो के कारण प्राणियो ने अनेक कष्ट उठाये है, उठा रहे है और उठायेंगे। इनसे बचने के भी उसने कम उपाय नही किए, पर बात वही की वही रही। कई बार इसके महत्त्वपूर्ण कार्य बनते-बनते इन्ही विकृतियो के कारण बिगडे है।

जिन विकारो के कारण, जिन कमजोरियो के कारण, आदमी सफलता के द्वार पर पहुँच कर कई बार असफल हुआ, सुख और शाति के शिखर पर पहुच

पर कई बार असफल हुआ, गुरु और शांति के शिखर पर पहुँच कर उसे प्राप्त किए बिना ही फिसल गया, समता स्वभावी होकर भी समता को पर्याय में प्राप्त कर नहीं सका। उन विकारों में, उन कमजोरियों में सबसे बड़ा विकार, सबसे बड़ी कमजोरी है क्रोध।

क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, ऐसी कमजोरी है जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है, भले-बुरे की पहिचान नहीं रहती। जिस पर क्रोध आता है, क्रोधी उसे भला-बुरा कहने लगता है, गाली देने लगता है, मारने लगता है यहाँ तक कि स्वयं की जान जोखिम में डालकर भी उसका बुरा करना चाहता है। यदि कोई हितैषी पूज्य पुरुष भी बीच में आवे तो उसे भी भला, बुरा कहने लगता है, मारने को तैयार हो जाता है। यदि इतने पर भी उसका बुरा न हो तो, स्वयं बहुत दुःखी होता है, अपने ही अंगों का घात करने लगता है, माथा फूटने लगता है, यहाँ तक कि विषादि-भक्षण द्वारा मर तक जाता है।

लोक में जितनी भी हत्याएँ और आत्म-हत्याएँ होती हैं, उनमें अधिकांश क्रोधावेश में ही होती हैं। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। समता के समान कोई मित्र भी नहीं।

क्रोध करने वाले को जिस पर क्रोध आता है, वह उसकी ओर ही देखता है, अपनी ओर नहीं देखता। क्रोधी को जिस पर क्रोध आता है उसी की गलती दिखाई देती है, अपनी नहीं। चाहे निष्पक्ष विचार करने पर अपनी ही गलती निकले, पर क्रोधी विचार करता ही कब है ? यही तो उसका अन्धापन है कि उसकी दृष्टि पर की ओर ही रहती है और वह भी पर में विद्यमान-अविद्यमान दुर्गुणों की ओर ही। गुणों को वह देख ही नहीं पाता। यदि उसे पर के गुण दिखाई दे जावें तो फिर उस पर क्रोध ही क्यों आवे, फिर तो उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी।

यदि [illegible] पैर से ठोकर लगकर [illegible] गिलास टूट जावे तो [illegible]

यदि कोई कह दे कि गिलास को आप ही ने रखा था और ठोकर भी आपने मारी। अब नौकर को क्यो डाटते हो, तब भी यही बोलेगा कि इसे उठा लेना चाहिए था। उसने उठाया क्यो नही ? उसे अपनी भूल दिख ही नही सकती क्योकि क्रोधी, पर मे ही भूल देखता है। स्वय मे देखने लगे तो क्रोध आयेगा कैसे ? यही कारण है कि आचार्यो ने क्रोधी को क्रोधान्ध कहा है।

क्रोधान्ध व्यक्ति क्या-क्या नही कर डालता ? सारी दुनिया मे मनुष्यो द्वारा जितना भी विनाश होता देखा जाता है, उसके मूल मे क्रोधादि भाव ही देखे जाते है। द्वारिका जैसी पूर्ण विकसित और सम्पन्न नगरी का विनाश द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण ही हुआ था। क्रोध के कारण सैकडो घर-परिवार टूटते देखे जाते है। अधिक क्या कहे—जगत् मे जो कुछ भी बुरा नजर आता है, वह सब क्रोधादि विकारो का ही परिणाम है। कहा भी है—'क्रोधोदयात् भवति कस्य न कार्यहानिः' क्रोधादि के उदय मे किसकी कार्य हानि नही होती, अर्थात् सभी की हानि होती ही है।

क्रोध एक शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। वह क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भग कर ही देता है, साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। जिसके प्रति क्रोध प्रदर्शन होता है, वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है। और इस दु ख पर उसकी त्यौरी चढ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोडे निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, व उचित है या अनुचित ?

क्रोध का एक खतरनाक रूप बैर है। बैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुत' वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है। 'बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।' क्रोध के आवेश मे हम तत्काल बदला लेने की सोचते है। सोचते क्या है तत्काल बदला लेने लगते है। जिसे शत्रु समझते है, क्रोधावेश मे उसे भलाबुरा कहने लगते है, मारने लगते है पर जब हम तत्काल कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न कर मन मे ही उसके प्रति क्रोध को इस भाव से दबा लेते है कि अभी मौका ठीक नही है, प्रत्याक्रमण करने से मुझे हानि हो सकती है, शत्रु प्रबल है। मौका लगने पर बदला लू गा। तब वह क्रोध बैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रकट हो जाता है। ऊपर से देखने पर क्रोध की अपेक्षा यह विवेक का कम विरोधी नजर आता है पर यह है क्रोध से भी अधिक खतरनाक, क्योकि यह योजनाबद्ध विनाश करता है जबकि क्रोध विनाश की योजना नही बनाता। तत्काल जो जैसा सम्भव होता है कर गुजरता है। योजनाबद्ध विनाश सामान्य विनाश से अधिक खतरनाक और भयानक होता है।

यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आती है, उतनी वैर में नहीं तथापि क्रोध का काल बहुत कम है जबकि वैर पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

क्रोध और भी अनेक रूपों में पाया जाता है। झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप हैं। जब हमें किसी की कोई बात या काम पसन्द नहीं आता है और वह बात बार-बार हमारे सामने आती है तो हम झल्ला पड़ते हैं। बार-बार की झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट में बदल जाती है। झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट असफल क्रोध के परिणाम हैं। ये एक प्रकार से क्रोध के हल्के-हल्के रूप हैं। क्षोभ भी क्रोध का ही अव्यक्त रूप है।

ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे-बड़े रूप हैं। सभी मानसिक शान्ति को भंग करने वाले हैं, महानता की राह के रोड़े हैं। इनके रहते कोई भी व्यक्ति महान् नहीं बन सकता, पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि हमें महान् बनना है, पूर्णता को प्राप्त करना है तो इन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी। इन्हें जीतना ही होगा। पर कैसे?

महापंडित टोडरमल के शब्दों में —"अज्ञान के कारण जब तक हमें पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे तब तक क्रोधादि की उत्पत्ति होती ही रहेगी, किन्तु जब तत्त्वज्ञान के बल से पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावतः क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी।' आशय यह है कि क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण, हमारे सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना है। जब हम अपने सुख-दुःख का कारण अपने में खोजेंगे, उसका उत्तरदायित्व अपने में स्वीकारेंगे तो फिर हम क्रोध करेंगे किस पर?

अपने भले-बुरे और सुख-दुःख का कर्ता दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है।

इन विकारों से [illegible]

[illegible]

२७

क्रोधाग्नि : कैसे सुलगती है ? कैसे बुझती है ??

□ श्री रणजीतसिह कूमट

आग का सामान्य सिद्धान्त :

लाख का घर एक चिनगारी से नष्ट हो जाता है। समता को नष्ट करने में भी क्रोध की यही भूमिका है। क्रोध मैत्री का नाश करता है। सामान्य व्यवहार मे कटुता का मूल क्रोध है। प्रश्न उठता है कि हमारी समता मे आग कैसे लगती है ? इसके लिये यह समझे कि सामान्य वस्तु मे आग कैसे लगती है ? वस्तु मे आग लगने का सिद्धान्त यदि अध्ययन करें तो पता लगता है कि वस्तु मे थोडी बहुत आग निहित है और बाहरी तत्त्व की सहायता से निहित आग भडकती है। आग लगने का फार्मूला इस प्रकार है :—

वस्तु मे निहित ताप + ताप का सयोग + आक्सीजन

किसी वस्तु मे बहुत जल्दी आग लग जाती है तो अन्य वस्तु को काफी देर तक आग के पास रखने पर भी उसमे आग नही लगती। पेंट्रोल के पास जरा भी ताप बढे तो आग लग जाती है परन्तु अभ्रक को आग मे रख दो तो आग नही लगती। आग लगने के वक्त व बाद मे ऑक्सीजन मिल जावे तो आग और अधिक तेजी से जलती है और यदि ऑक्सीजन को रोक दिया जाय तो आग बुझ सकती है। अत. आग लगने मे बाहरी तत्त्व ताप का सयोग व ऑक्सीजन हैं परन्तु वस्तु का स्वय का निहित ताप इस बात को निर्धारित करेगा कि उस वस्तु मे आग लगेगी या नही लगेगी और यदि लगेगी तो कितनी देर से। आग

जलने के बाद बुझाना हो तो ऑक्सीजन की पूर्ति रोकने से आग बुझ जायेगी। पानी से सामान्य आग बुझ जाती है परन्तु जिसका निहित ताप पानी से भी कम नहीं किया जा सकता, उस आग को पानी भी नहीं बुझा सकता, जैसे पैट्रोल किरासीन या रसायन की आग।

क्रोधाग्नि का सिद्धान्त.

आग का यह सामान्य सिद्धान्त इसलिए विवेचित किया कि हम इसी आधार पर अपनी क्रोधाग्नि के बारे में समझ सकें। हममें क्रोधाग्नि कैसे लगती है? हम सब जानते हैं कि जो सिद्धान्त वस्तु में आग लगने पर लागू है वही हम पर भी लागू होता है। कोई व्यक्ति बहुत जल्दी आगबबूला हो जाता है तो कोई व्यक्ति बहुत कुछ कहने पर भी शान्त रहता है। कोई व्यक्ति समझाने पर भी शान्त नहीं होता और कोई थोड़ी देर के क्रोध के बाद एकदम शान्त हो जाता है।

क्रोध का विश्लेषण करें तो पता लगता है कि क्रोध का भी वही सिद्धान्त है जो आग का है। क्रोध का किसी भी व्यक्ति में जो निहित तत्व है वही यह निर्धारित करता है कि वह व्यक्ति कितना जल्दी क्रोध से प्रज्वलित होगा। परिभाषा इस प्रकार लिख सकते हैं —

क्रोध का निहित तत्व + बाहर का भड़काने वाला प्रसंग + क्रोध को जारी रखने के सहायक तत्व

क्रोध की जड़ हमारे में है :

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि क्रोध बाहरी तत्त्व के सयोग से अवश्य प्रकट होता है लेकिन जब तक हमारे मे क्रोध का तत्त्व निहित नही होगा तब तक बाहरी सयोग कुछ नही कर सकता। अत क्रोध की जड हमारे मे है न कि किसी अन्य मे। अधिकतर किसी भी झगडे या क्रोध की बात का दोष हम दूसरे पर डाल कर यह समझाने की कोशिश करते है कि यदि उसने कुछ न कहा होता तो मुझे क्रोध न आता, लेकिन यह भुलावा मात्र है। क्रोध की जड जब तक हममे है, हम क्रोध से मुक्त नही हो सकते। जब क्रोध का प्रसग आवे और क्रोध न भड़के तब ही हम कह सकते है कि हम क्रोध का शमन कर सके है। अभ्रक के समान यदि आग न लगने की क्षमता हो जाय तब ही समझना चाहिए कि क्रोध शान्त हुआ है।

आचार्य रजनीश ने एक मजेदार बात कही है, उन्होने कुछ व्यक्तियो से कहा कि आप एक कमरे मे बन्द होकर खाली तकिये को छडी से पीटिये। कुछ देर तो वे उसे कुतूहलवश पीटते रहे, लेकिन कुछ ही देर मे वे इतने आगबबूला हो गये कि तकिये को पीटते-पीटते स्वय बेहाल हो गए। यह इसी बात का द्योतक है कि हम मे निहित क्रोध ही क्रोध का जन्मदाता है। बाहर के प्रसग निमित्त मात्र है। यही बात अन्य कषाय यथा मान, माया, लोभ पर भी लागू होती है।

क्रोध का शमन :

क्रोध के शमन का लक्षण यह नही कि लम्बे समय तक क्रोध नही आया परन्तु सही लक्षण यह है कि काफी उत्तेजना दिलाने पर भी क्रोध प्रकट न हो। क्रोध का दमन हो सकता है, प्रसग न हो तब तक क्रोध प्रकट न हो यह भी सभव है, लेकिन क्रोध समूल नष्ट हो जाय, यह बहुत कठिन साधना है।

क्रोध का शमन बहुत बडा तप है। शुभचन्द्राचार्य ने तो यहा तक कह दिया कि यदि क्रोध का शमन नही किया तो सब तप व्यर्थ है :—

यदि क्रोधादयः क्षीरास्तदा किं खिद्यते वृथा।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्य पार्थकम् ॥

—ज्ञानार्णव, अध्याय १९, श्लोक ७६

हे मुनि ! यदि क्रोधादिक कषाय क्षीण हो गए है तो तप करके खेद करना व्यर्थ है, क्योकि क्रोधादिक को जीतना तप है और यदि क्रोधादिक तेरे तिष्ठते है तो तेरा तप करना व्यर्थ है क्योकि कषायी का तप करना व्यर्थ ही होता है।

बोल निकालने से पहले एक से दस तक गिनती कर ले। उस बीच ही शायद उनको ख्याल आ जावे कि क्रोध उस गाँठ का सही जवाब नहीं है। इसी प्रकार दूसरो की चुगली या गलतियों के बारे मे अधिक दिलचस्पी न लेने से जो कान भरने वाली शिकायत रहती है, वह नही रहेगी। किसी भी व्यक्ति को आरोपित करने से पहले उसे बोलने का मौका दिया जाय तो जिस बात पर हम क्रोध करने वाले है उसका समाधान शायद उसमे मिल जावे।

क्रोध का शमन कैसे करे, इसके उपाय स्वय हमे ही निकालने होगे। परन्तु इतना काफी है कि जिस समय भी क्रोध आवे, उसका हम पूरा विश्लेषण करे और उसके प्रति जागरूक हो, उसके कारणो की जाच करे। इनसे सही उपाय मिल सकेगे और दोष बाहर डालने की बजाय हमारे आन्तरिक कारणो की जाच कर उनको मिटाने का उपाय कर सके तो बाहरी प्रसग व्यर्थ हो जावेगे और हम अपने जीवन को समतामय एव मधुर बना सकेगे। हमारी समता दूसरो को भी समता एव शान्ति प्रदान करेगी।

सामायिक की शलाका से पृथक् कर देता है अर्थात् निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। समता भाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अधकार नष्ट कर देने पर साधक अपनी आत्मा मे परमात्मा का स्वरूप देखने लगता है।

यद्यपि साधक अपने आनन्द के लिए समता भाव का विकास करता है, फिर भी समता भाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे प्राणी भी परस्पर प्रीतिभाव धारण करते है।

समता भाव की प्राप्ति निर्ममत्व भाव से होती है, और निर्ममत्व भाव जागृत करने के लिए इन द्वादश भावनाओ का आश्रय लेना चाहिये—१-अनित्य भावना, २-अशरण भावना, ३-ससार भावना, ४-एकत्व भावना, ५-अन्यत्व भावना, ६-अशुचित्व भावना, ७-आश्रव भावना, ८-सवर भावना, ९-निर्जरा भावना, १०-धर्मस्वाख्यात भावना, ११-लोक भावना, व १२-बोधि दुर्लभ भावना। इन द्वादश भावनाओ से जिसका चित्त निरन्तर भावित रहता है, वह प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक परिस्थिति मे अनासक्त रहता हुआ, समता भाव का अवलम्बन करता रहता है।

जो शत्रु-मित्र और मान-अपमान मे सम है एव सर्दी-गर्मी और सुख-दु खादि द्वन्द्वो मे सम है, आसक्ति से रहित है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से शरीर का निर्वाह होने मे सदा सन्तुष्ट है और शरीर मे तथा रहने के स्थान मे ममता और आसक्ति से रहित है, मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों मे, समय मे अर्थात् किसी भी परिस्थिति मे राग-द्वेष के भावो की उत्पत्ति को समता भाव से सहन करता है, विषयो से विरक्त और समता भाव युक्त चित्त वाला है। ऐसे मनुष्य की कषाय रूपी अग्नि शात हो जाती है और सम्यक्त्व रूपी दीपक प्रदीप्त हो जाता है।

समता और सामायिक

जिसकी आत्मा सयम मे, नियम मे एव तप मे सुस्थिर है, उसी को सामायिक होती है। जो त्रस (कीट, पतगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सब जीवो के प्रति सम है, अर्थात् समत्व युक्त है, उसीकी सच्ची सामायिक होती है। समभाव सामायिक है अत कषाय युक्त व्यक्ति की सामायिक विशुद्ध नही होती। आत्मा ही सामायिक (समत्व भाव) है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है। समता भाव पूर्वक सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है। चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे, मुनिवेश धारण कर स्थूल क्रियाकाड रूप चारित्र पाले, परन्तु समताभाव रूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा। चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बुद्ध या कोई अन्य हो, समता भाव से भावित आत्मा ही मोक्ष प्राप्त करती। है

समता और सेवा :

समता और सेवा में घनिष्ट सम्बन्ध है। सेवा समता की सहचरी है। वास्तव में सम्यक् सेवा समता का ही एक रूप है। समतासाधक इस प्रकार का चिन्तन करता है कि माता-पिता ने मेरा पालन किया, बड़ा किया, शिक्षा दिलाई सब प्राणियों ने व मित्रों ने मेरे शारीरिक मानसिक विकास में सहयोग दिया आदि। अतः ऐसे प्राणियों के लिए मेरा कर्तव्य, उत्तरदायित्व है कि मैं उनके उपकारों का बदला दूं। अपने ऋण को चुकाऊं, भूखों को अन्न दूं, नंगों को वस्त्र दूं, निराश्रितों को आश्रय दूं, रोगी को औषध दूं, अशिक्षित को शिक्षा प्राप्ति में सहयोग दूं और प्राणी-मात्र की कर्तव्य-बुद्धि से आवश्यक व उपयोगी सेवा करके ऋण मुक्त बनूं। यह सेवा और समता का सम्बन्ध है। सत्य भाषण, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, परोपकार, दान, त्याग, क्षमा, विनय, सरलता, तप, पितृ-भक्ति, मातृ-भक्ति, विद्याप्रियता, मिलनसारी, हँसमुखपना, कार्यचातुरी, प्राणीसेवा, जाति-सेवा, समाजसेवा, सच्चरित्र-रक्षा, भाषणकला, लेखन-कला, चिकित्साज्ञान, आदि अनेक गुण हैं। इन गुणों की ओर देखा जाय और उस व्यक्ति की सराहना की जाय तो मानव मानव में ईर्ष्या-द्वेष घटकर प्रेम और सहयोग की भावना पैदा होगी। यही समता और सेवा का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

समता व्यवहार के बाधक तत्व

२६

व्यवहार में समता

□ श्री चंदनमल 'चाँद'

समता शब्द प्रिय लगता है। दूसरों को समता का उपदेश देना भी प्रिय होता है किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति मे स्वय को समता की साधना करनी पड़ती है तो कठिन होता है। हमारे दैनिक जीवन एव व्यवहार मे अनेक बार ऐसे प्रसग घटित होते हैं, जिन प्रसगो पर यदि थोड़ी समता रखी जाय तो कलह से बचा जा सकता है।

समता किसे कहते है ? समता का उपदेश सभी धर्म ग्रन्थो एव महापुरुषो ने दिया है। भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृताग' मे फरमाया है—'समय समासरे' अर्थात् सदा समता का आचरण करना चाहिए। 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे आया है 'न यावि पूय गरह च संजए' अर्थात् मुनि, पूजा और निन्दा दोनो की चाह न करे, समभाव रखे। आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—

'सयंबरोवा, आसंबरोवा, बुद्धोवा, तहेव अन्नोवा।
समभाव भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो ॥'

चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई भी हो, समता से भावित आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है।

जैन दर्शन में ही नही बल्कि 'महाभारत' के शान्तिपर्व मे भी आया है कि दो अक्षरों का 'मम' अर्थात् ममत्व मारने वाला है और तीन अक्षरो का 'नमम' यानी निर्ममत्व तारने वाला है। स्वामी विवेकानन्द कहते है कि समभाव ही समस्त कल्याण का मूल है। अरविन्द घोष समता की व्याख्या करते हुए लिखते

समता का यही आदर्श हमारे जीवन मे उतरे। पूर्ण ममत्व एव आसक्ति से छूटने का निरन्तर चितन तथा प्रयास रहे किन्तु प्रारम्भ तो छोटी-छोटी बातो से ही करके देखे। सकल्प करे कि हम आज दिन भर समता रखने का प्रयास करेंगे और रात्रि सोते समय लेखा-जोखा करे कि कितनी समता रही, क्या लाभ हुआ ? आप देखेंगे कि समता से न केवल आपको आत्मिक शान्ति मिलेगी वरन् आपके घर, परिवार एव परिपार्श्व के लोगों को भी लाभ होगा।

३०

दैनिक जीवन में समता का स्थान

[श्री केशरीचन्द सेठिया

सबको इसी तरह लुढकना है। अगर जीवन के अत मे समानता है तो फिर जीवन के प्रथम चरण मे यदि समता आ जाय तो जीवन सुखी वन जाय, मधुर बन जाय, स्वर्गमय वन जाय।

निजी स्वार्थ और विषमता .

मनुष्य मे जब-जब निजी स्वार्थ उभर आता है तो वह अपने को दूसरो से भिन्न और विशिष्ट देखना चाहता है धन से, वैभव से, गरिमा से, पद से। चाहे वह राजा हो, नेता हो, धर्मगुरु हो, उसकी आत्मा मे विषमता घर कर लेती है। उसका जीवन कष्टदायक बन जाता है। मृगतृष्णा की तरह वह उसकी ओर भटकता रहता है। नेता चाहता है, वह सबसे निराला बन जाय। उसकी कीर्ति देश-विदेश मे फैले। वह हमेशा फूलो के हारो से लदा रहे। वह मत्री बने, मुख्यमत्री बने, प्रधानमत्री बने और न जाने क्या-क्या ?

धर्मगुरु भी इच्छा रखता है—वह उपाध्याय बने, गणी बने, आचार्य बने, बडे-से-बडे सघ का नायक बने, अपनी शिष्य मडली का भगवान् कहलाए, विपक्षियो को तर्क से, कुतर्क से परास्त करके धर्म-विजेता बने। सिद्धि प्राप्त करे, जन्त्र-मन्त्र से योगीराज बन जाय। बडी-बडी पदवियो से अलकृत हो, विश्व-कोश का एक भी शब्द न बचे जो उसके नाम के आगे सम्बोधित न हो। लक्ष से भ्रष्ट होकर, समता को तिलाजली देकर वह केवल अपनी आत्मा को ही धोखा देता है। रुग्ण उपायो को वह केवल स्वस्थता की सज्ञा देना चाहता है।

समदृष्टि का विकास आवश्यक :

गृहस्थ जीवन मे घर के मुखिया के प्रति, परिवार के सदस्यो का इसलिए रोष, झगड़ा पैदा हो जाता है कि वह सबको समदृष्टि से नही देखता। एक के प्रति विशेष प्रेम, अधिक स्नेह दिखाता है, एकागी पक्ष लेता है। मनुष्य का मन बडा भावुक और कच्चे धागे की तरह नाजुक होता है। जहाँ भी जरासी असमानता देखता है, उसका मन दु'खी हो जाता है, टूट जाता है, विद्रोही हो जाता है। सास-बहू के झगडे जगत् प्रसिद्ध है। अगर बारीकी से देखे, परखे तो अक्सर छोटी-छोटी बाते, जिसमे असमानता का पुट होता है, भयकर विषमता ला देती है। सास अपनी पुत्री और बहू को कभी समान दृष्टि से नही देखती। यह समझते हुए भी कि जिसे वह अपनी समझ रही है, वह पराया धन है, जिसे वह पराये घर से आई हुई मानती है, वह उसकी अपनी है, सुख मे दुःख मे वही साथ देने वाली है।

सबकी आत्मा समान :

सब धर्मों मे समता को सर्वोपरी एव विशिष्ट स्थान दिया गया है। क्रातिकारी महावीर ने समता का एक नूतन सदेश दिया था। नर और नारी

सबको इसी तरह लुढकना है। अगर जीवन के अंत मे समानता है तो फिर जीवन के प्रथम चरण मे यदि समता आ जाय तो जीवन सुखी बन जाय, मधुर बन जाय, स्वर्गमय बन जाय।

निजी स्वार्थ और विषमता :

मनुष्य मे जब-जब निजी स्वार्थ उभर आता है तो वह अपने को दूसरों से भिन्न और विशिष्ट देखना चाहता है धन से, वैभव से, गरिमा से, पद से। चाहे वह राजा हो, नेता हो, धर्मगुरु हो, उसकी आत्मा मे विषमता घर कर लेती है। उसका जीवन कष्टदायक बन जाता है। मृगतृष्णा की तरह वह उसकी ओर भटकता रहता है। नेता चाहता है, वह सबसे निराला बन जाय। उसकी कीर्ति देश-विदेश मे फैले। वह हमेशा फूलो के हारो से लदा रहे। वह मत्री बने, मुख्यमत्री बने, प्रधानमत्री बने और न जाने क्या-क्या ?

धर्मगुरु भी इच्छा रखता है—वह उपाध्याय बने, गणी बने, आचार्य बने, बडे-से-बड़े सघ का नायक बने, अपनी शिष्य मंडली का भगवान् कहलाए, विपक्षियो को तर्क से, कुतर्क से परास्त करके धर्म-विजेता बने। सिद्धि प्राप्त करे, जन्त्र-मन्त्र से योगीराज बन जाय। बडी-बडी पदवियों से अलकृत हो, विश्व-कोश का एक भी शब्द न बचे जो उसके नाम के आगे सम्बोधित न हो। लक्ष से भ्रष्ट होकर, समता को तिलाजली देकर वह केवल अपनी आत्मा को ही धोखा देता है। रुग्ण उपायो को वह केवल स्वस्थता की सज्ञा देना चाहता है।

समदृष्टि का विकास आवश्यक :

गृहस्थ जीवन मे घर के मुखिया के प्रति, परिवार के सदस्यो का इसलिए रोष, झगडा पैदा हो जाता है कि वह सबको समदृष्टि से नही देखता। एक के प्रति विशेष प्रेम, अधिक स्नेह दिखाता है, एकागी पक्ष लेता है। मनुष्य का मन बडा भावुक और कच्चे धागे की तरह नाजुक होता है। जहाँ भी जरासी असमानता देखता है, उसका मन दु.खी हो जाता है, टूट जाता है, विद्रोही हो जाता है। सास-बहू के झगडे जगत् प्रसिद्ध है। अगर बारीकी से देखे, परखे तो अक्सर छोटी-छोटी बाते, जिसमे असमानता का पुट होता है, भयकर विषमता ला देती हैं। सास अपनी पुत्री और बहू को कभी समान दृष्टि से नही देखती। यह समझते हुए भी कि जिसे वह अपनी समझ रही है, वह पराया धन है, जिसे वह पराये घर से आई हुई मानती है, वह उसकी अपनी है, सुख मे दुःख मे वही साथ देने वाली है।

सबकी आत्मा समान :

सब धर्मो मे समता को सर्वोपरी एव विशिष्ट स्थान दिया गया है। क्रातिकारी महावीर ने समता का एक नूतन सदेश दिया था। नर और नारी

के प्रति असमानता को मिटाने हेतु भरसक प्रयत्न किया। अपने चतुर्विध सघ मे नारी को बराबरी का स्थान दिया। उसे सघ का एक सदृश्य अग माना। उसे दीक्षित होने का, शास्त्र-पठन-पाठन का समुचित अधिकार दिया। उनके समवसरण मे सबका प्रवेश था। उन्होंने अस्पृश्यता जैसे दुर्गुण को समाज के लिए अनुचित बताया, कलक बताया। उन्होने कहा—और की तो बात ही क्या, भगवान् भी जन्मजात नही होते। उन्हे भी अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पडता है। सबकी आत्मा समान है। अतः कौन छोटा, कौन बडा ? छोटा-बडा कुल से नही, परम्परा से नही, धन वैभव से नही, समदृष्टि बनने से होता है। इस छूआ-छूत की बीमारी को एक समदृष्टि अपने मे कैसे पनपा सकता है ? लेकिन यह बीमारी उनके अनुयायी लोगो मे ही अधिक है।

मनुष्य के जीवन मे समता का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसने इसके मर्म को समझ लिया, उसने सही अर्थो मे जीने की कला सीखली।

समता-व्यवहार के सूत्र :

(१) समता विवेचन की नही, आचरण की चीज है।

(२) जिसके जीवन मे समता आ गई, उसने जीने का गुर जान लिया।

(३) 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तब ही चरितार्थ हो सकता है, जब जीवन मे समता आ जाय।

(४) समता अगर आचरण मे नही आई तो विचारो मे आने से क्या लाभ ?

३१
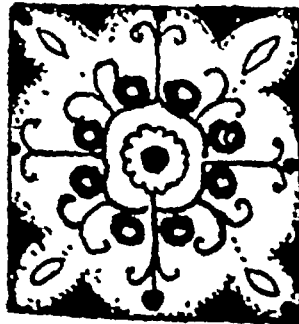
श्रावकाचार और समता

□ श्री प्रतापचन्द भूरा

बाह्य जगत् से प्रभावित नही होना और अन्तर्जगत् मे शाति और दया के सागर का लहराना समता है। मुनि गजसुकुमार की भाति जहा किसी प्रकार का प्रतिकार नही हो, वह श्रमण का आचार है, साधु की समता है, किन्तु शुद्ध लोक-कल्याण भाव से जहाँ आवश्यक हो वहाँ समताभाव से प्रतिकार करना, यथायोग्य व्यवहार करना, श्रावकाचार है। शुद्ध श्रावकाचार को समझने के लिये धर्म के मर्म को समझना जरूरी है।

यदि एक दुष्ट व्यक्ति आपके घर आकर बलात्कार करना चाहे तो आप क्या करेंगे ? ऐसे अवसर पर धर्म क्या काम करने का आदेश देता है ? नीति क्या कहती है ? क्या आप धर्म का नाम लेकर निष्क्रिय बैठे रहेंगे और इस अत्याचार को चुपचाप देखते रहेंगे ? क्या धर्म के नाम पर निष्क्रिय रहने से धर्म की आराधना हो सकेगी ? क्या श्रावक के लिये ऐसे आचार का और ऐसी समता का किसी धर्म शास्त्र मे विधान है ? इन्ही प्रश्नो के सही समाधान से श्रावकाचार और समता के सिद्धान्त का मर्म समझा जा सकता है।

श्रावक का प्रथम आचार है नीति का पालन। स्वर्गीय श्री जवाहराचार्य कहते है—"लोग नीति की नही, धर्म की ही बात सुनना चाहते है। लाचारी है मित्रो ! नीति की बात तुम्हे सुननी होगी। इसके बिना धर्म की साधना नही हो सकती[१]। नीति ही धर्म और समता का प्रथम सोपान है। ऐसे अवसर पर जबकि अधर्म का ताण्डव नृत्य हो रहा हो, श्रावक का चुपचाप निष्क्रिय बैठना

१—जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी की जीवनी, पृष्ठ ३६२

न तो धर्म है और न समता। यह तो धर्म का ढोग है। वर्णनाग नतुअे ने नीति पालनार्थ समता भाव से रागद्वेष रहित भावना से चेडा-कोणिक युद्ध मे भाग लिया था। चरम शरीरी प्रद्युम्नकुमार, अभयकुमार आदि ने युद्ध भी किये थे और वे उसी भव मे मोक्ष भी गये है। कहने का आशय यह नही है कि युद्ध अच्छी चीज है, किन्तु सच्चा श्रावक नीति की रक्षा हेतु आवश्यक होने पर बाहर से हिसक दीखने वाली क्रिया भी लोक-कल्याण की प्रशस्त भावना से, समता भावना से कर सकता है।

सच्चा श्रावक केवल आरम्भ या क्रिया को नही देखता। सबसे प्रथम वह नैतिकता की ओर ध्यान देता है। जुआ प्रासुक धधा होते हुए भी दुर्व्यसन और अनैतिक माना गया है, वह श्रावकाचार के विरुद्ध है, जबकि कृषि मे आरभ और जीव हिसा होते हुए भी, मानव की प्राण रक्षा की प्रशस्त भावना से यतना-पूर्वक की जाती हुई कृषि श्रावकाचार के अन्तर्गत आती है। भगवान् महावीर के समय मे ही उनके बडे-बडे श्रावक आनन्दजी और कामदेवजी द्वारा कृषि कार्य किया जाता था।

कभी-कभी लोग नीति को समझने मे भूल कर देते है। कई बार स्वार्थी लोगो द्वारा स्वार्थ-साधन को ही नीति कहा जाता है। झूठ बोलना, मिलावट करना आदि आजकल व्यापार मे नीति माना जाने लगा है। जैसे को तैसा और थप्पड के बदले मुक्का को भी नीति कहा जाता है। साम, दाम, दड भेद को राजनीति मे स्थान मिला हुआ ही है। दलबदी और सिर्फ बदनाम करने के लिये दूसरे दल की आलोचना करना, वर्तमान मे राजनीति समझा जाने लगा है, किन्तु श्रावकाचार मे सही नीति वही है जिससे लोकहित हो, अन्याय, अत्याचार, दुराचार रुक सके, देश मे शाति का वातावरण पैदा हो, लोग सुख-शाति से रह सके, अपने धर्म का पालन कर सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्व को समझे और उसे निभावे। दायित्व का निभाना ही नीति का पालन है, सत्य का पोषण है। यह श्रावकाचार है, यह समता है।

नीति किसी की सफलता या असफलता को नही देखती, वह किसी व्यक्ति-विशेष की लाभ-हानि की परवाह नही करती। उसके पालन करने मे कभी-कभी भयकर कष्ट भी उठाने पडते है। नीति के पालन करने मे महाराज हरिश्चन्द्र को तो चडाल के हाथ बिकना भी पडा था। नीति की शिक्षा महासती चन्दनबाला, सेठ सुदर्शन, महाराज हरिश्चन्द्र आदि के चरित्र से ली जा सकती है। उनके जीवन नैतिक जीवन के ज्वलत उदाहरण है। उन्होने अनेक भयंकर कष्ट सह कर भी अपने नैतिक धर्म को नही छोडा। श्री जवाहराचार्य के शब्दो

मे "नीति धर्म की नीव है। नीति विरुद्ध काम करने वाला धर्माचरण नही कर सकता।"[१]

श्रावकाचार के समझने मे भूल होने का एक कारण यह है कि लोगों ने श्रमणाचार और श्रावकाचार के भेद को भुला दिया है। श्रावक समझ रहा है कि उसके लिये भी श्रमण की सभी क्रियाएँ ठीक है। वह प्रत्येक बुद्ध और जिनकल्पी की क्रिया अपनाने मे अपना धर्म समझ रहा है। यह एक भयकर भूल है। जिनकल्पी तो स्वय की भी रक्षा नही करते, किन्तु हम तो एक छोटासा काटा चुभने पर विचलित हो जाते है। साधु के नियम, व्रत, मर्यादाएँ श्रावक की मर्यादाओ से भिन्न हैं। दोनो की नीति और क्रियाएं भी भिन्न-भिन्न है।

गृहस्थ को द्रव्य उपार्जन करना पडता है। उसे अपने आश्रितो का भरण-पोषण करना पडता है, भोजन बनाने का आरभ-समारभ भी करना पड़ता है, परिवार की रक्षा और आवश्यकता पडने पर शील रक्षणार्थ दुष्टो का सामना भी करना पडता है। राजा गर्दभिल्ल द्वारा बलात्कार हेतु साध्वी सरस्वती के अपहरण पर, उस साध्वी के शील की रक्षा हेतु तत्कालीन जैन कालकाचार्य ने सयम छोडकर उस राजा से लोहा लिया था और शील की रक्षा की थी। नीति और धर्म की रक्षा के लिये श्रावको द्वारा शस्त्र भी उठाये जाते है। जो श्रावक इन बातो मे आरभ-समारभ समझ कर अपना दायित्व नही निभाता, वह धर्म का पालन नही कर सकता। सच्चा श्रावक लोक-कल्याण की दृष्टि से नि स्वार्थ और समता भाव से यतनापूर्वक अपने नैतिक धर्म का पालन करता है।

श्रावकाचार के विषय मे एक भूल और भी होती है। कुछ व्यक्ति प्रत्येक कार्य मे हिंसा ही हिसा देखते हैं। उन्हे भोजन बनाने मे, गो-पालन मे, कृषि कार्य मे पाप ही पाप दीखता है। यदि भोजन बनाने मे, लोगो को सुख-साता पहुँचाने की प्रशस्त भावना हो, गो-पालन मे गायो पर अनुकम्पा भाव हो, कृषि कार्य मे धन कमाने के स्थान पर जनता के प्राणो की रक्षा की भावना हो तो "प्रशस्त भावना और यतना से पाप प्रकृति मे भी पुण्य प्रकृति बध जाती है।"[२]

एक डॉक्टर बीमारी के कीटाणुओ को मारने की हिसक भावना से किसी बीमार व्यक्ति के इजक्शन लगाता है तो वह हिसा की पुष्टि कर रहा है। किन्तु वही डाक्टर यदि यह कहता है और अपने मन मे यही मानता है कि मैं स्वस्थ कीटाणुओ की रक्षा कर रहा हूँ, उन्हे सशक्त बना रहा हूँ, इस बीमार व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ करा रहा हूँ तो वह डॉक्टर श्री जवाहराचार्य के शब्दो मे "अहिंसा

१—जवाहर किरणावली ७, पृष्ठ २४६

२—जवाहर किरणावली ५, सुबाहुकुमार, पृष्ठ ६०

की पुष्टि"[1] कर रहा है। श्रावक के अनेक कार्यों मे हिंसक भावना से हिंसा की और अहिंसक भावना से अहिंसा की पुष्टि होती है। प्रमुखता क्रिया की नही, किन्तु उसके साथ जुडी हुई भावना की है। प्रत्येक नैतिक क्रिया के साथ अहिंसक भावना को जोडना श्रावकाचार और समता है।

नीति और अहिंसक भावना के साथ यदि स्वावलवन और सेवा को नही अपनाया जाय तो श्रावक अपने आदर्श से गिर जाता है। महासती चन्दन वाला का जीवन स्वावलवन और सेवा का जीवन था। वह जहाँ भी रही, वहाँ प्रत्येक छोटा और वडा कार्य अपने हाथ से करती थी। वह कभी किसी सेवक को भी किसी कार्य को करने के लिये आदेश नही देती थी। उसने अपनी माता से यही शिक्षा पायी थी कि सच्चा श्रावक प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक अपने हाथ से ही किया करता है। अपने ही शुभ पुरुषार्थ से, सम्यक् स्वावलवन से गुणस्थानो की ऊँची श्रेणियाँ प्राप्त की जा सकती है, आलस्य से नही। स्वावलवन जीवन है, परावलवन मृत्यु। मानव स्वकृत शुभ व शुद्ध कर्मो से मोक्ष पाता है, दूसरो द्वारा किये गये कर्मो से नही। यदि ऐसा होता तो कोई भी राजा-महाराजा या धनाढ्य व्यक्ति नरक नही जाता। वह अपना धन दूसरो को देकर उनसे धर्म खरीद कर मोक्ष पहुँच जाता, किन्तु ऐसा नही हो सकता। स्वावलवी ही सेवा और धर्म का पालन कर सकता है। सेवा स्वय एक वडा भारी आभ्यन्तर तप है। वैयावृत्य करने से, सेवा करने से, तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। "सच्चा जैन वह है जो सेवा करने के लिये आर्त्तो की, दीनदुखियो की, पतितो एव दलितो की खोज मे रहता है,[2] किन्तु आज परिवार मे, घर मे, कार्यालय मे, स्वय कार्य न करके छोटो से या सेवको से उनकी शक्ति से अधिक कार्य कराने मे ही वडप्पन या स्वामित्व माना जाने लगा है। जैन सिद्धान्तानुसार अपनी शक्ति रहते दूसरो से अपनी अनावश्यक सेवा कराना हिंसा और पाप माना गया है। "शास्त्र का आदेश है कि मासखमण का पारणा होने पर भी अपने आप गोचरी लानी चाहिये।"[3] स्वावलवन और सेवा श्रावकाचार और समता है।

वर्तमान काल मे कुछ श्रावको ने धर्म को धर्म स्थानक तक ही सीमित कर दिया है। धर्म स्थानक मे जाकर सतदर्शन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि करना तो धर्म है ही, किन्तु धर्म स्थानक के बाहर भी, घर और दूकान मे, राजनीति और व्यापार मे, जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे नैतिक धर्म का पालन करना श्रावक का धर्म है। नीति, धर्म, स्वावलम्बन और सेवा जीवनव्यापी तत्त्व हैं। वे सदा सर्वदा आत्मा के साथ रहे यह श्रावकाचार और समता का पालन है।

१—सम्यक्त्व पराक्रम भाग तीन, पृष्ठ २०५

२—[illegible] ३—सुबाहु कुमार पृष्ठ १६३

कभी-कभी प्रत्यक्ष मे अहिंसक दीखने वाली वस्तुओं और कार्यों मे अप्रत्यक्ष रूप मे महान् आरभ और हिसा छिपी रहती है। सच्चा श्रावक ऐसी वस्तुओं और कार्यों से हमेशा बचता है। हिसा को प्रेरणा देने वाले बढ़िया सूती व रेशमी वस्त्र, बढिया चमडे के सूटकेस व नरम-नरम बढिया चमड़े के जूते जिनके लिये जीवित पशुओ की हत्या की जाती है, मछली आदि के तेल से बनी औषधियाँ और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ श्रावक के लिये त्याज्य है।

सच्चा श्रावक सादे वस्त्र, सादा भोजन, सादा जीवन व उच्च विचारों को अपनाता है। वह आडबर, दिखावा, हिसा आदि से बचता है, वह ऐसी बातो के अनुमोदन करने के पाप से भी बचता है। दूसरो के लिये स्वास्थ्य और सुख की कामना करना, उन्हे सुखकारी व हितकारी वचन कहना, उनके हित मे सहयोग देना, उनकी सेवा करना, दूसरो के शुभ कार्यों का अनुमोदन करना, अपने मन को शुभ व शुद्ध विचारो से पवित्र बनाना और ससार-सागर को पार करने मे नाव की भांति सहायक पुण्य का, दान, शील, तप, भावना द्वारा उपार्जन करके, जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर होना, शुद्ध श्रावकाचार और समता है।

३२
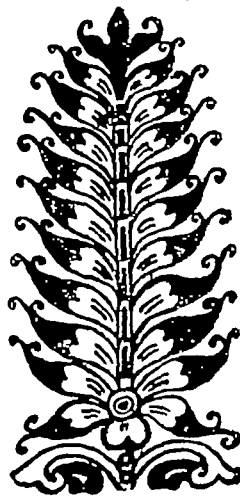
समत्वयोग बनाम सामायिक

☐ महासती श्री उज्ज्वलकुमारी जी

आत्मा की खुराक

शरीर के पोषण के लिये जैसे भोजन की आवश्यकता होती है, वैसे ही आत्म-पोषण के लिये भी भाव-भोजन, आध्यात्मिक-साधना की आवश्यकता रहती है। शरीर-रक्षण के लिये योग्य खुराक न मिले तो शरीर दुर्बल और तेजोहीन हो जाता है। ऐसे ही आत्मा भी भाव खुराक के अभाव मे तेजोहीन और निर्बल हो जाती है। आज मनुष्यो मे जो आत्म-बल का अभाव प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि उसे भाव-पोषण नही मिलता है। शरीर की खुराक अन्न है और आत्मा की खुराक आध्यात्मिक-साधना, समत्व योग अथवा समभाव की साधना 'सामायिक' है। इसे ही हम भाव खुराक के नाम से भी कहते हैं। श्रमण भगवान् महावीर ने सामायिक को गृहस्थ-धर्म मे नवां स्थान प्रदान किया है।

चित्त की स्थिरता और सामायिक :

सामायिक करो या आत्म-स्वरूप की प्रार्थना, दोनो ही समभाव और सत्य की उपासना है। आत्मा को बलवान बनाने के लिये सामायिक की उपासना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे अन्धकारमय जीवन को प्रकाशित करने के लिए और पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रहा हुआ ममत्व दूर कर आत्म गुणो मे रमण करने के लिये सामायिक की आराधना है।

सामायिक चित्त को स्थिर बनाने के लिए एक विशेष साधन है। कुछ लोग कहा करते हैं कि हमारा चित्त ही स्थिर नही रहता है, तब फिर सामायिक

करके क्या करेंगे ? यह बात सच है कि मनुष्य का चित्त स्थिर नही रहता है, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि चित्त को स्थिर बनाने के लिए ही सामायिक व्रत का आयोजन किया गया है। प्रतिदिन सामायिक द्वारा चित्त स्थिर करने का अभ्यास किया जाय तो धीरे-धीरे स्थिरता आ जायेगी। चित्त को स्थिर करने की दुनिया मे अगर कोई मशीन है, कोई साधन है अथवा कोई उपाय है, तो वह सामायिक ही है।

सामायिक : समता की आय.

सामायिक का अर्थ समभाव होता है। सम अर्थात् समता और आय अर्थात् लाभ, *जिससे समता की या समभाव की प्राप्ति हो, समभाव का लाभ* मिले, उसे सामायिक कहते है। शास्त्रकारो ने कहा है—

लाभालाभे-सुहे दुक्खे, जीविए-मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

अर्थात् लाभ मे या हानि मे, सुख मे, या दु ख में, जीवन मे या मरण मे, निन्दा मे या प्रशसा में, मानापमान मे समभाव रखना ही सामायिक की साधना है। शत्रु और मित्र, सम्पत्ति और विपत्ति, सबको एक ही तरह से देखना समभाव है। जब ऐसी दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तब सामायिक की साधना सिद्ध हुई कही जा सकती है।

समभाव का अर्थ सामायिक की क्रिया तक ही सीमित नही होना चाहिये बल्कि उसे सभी प्रवृत्तियो में घुलमिल जाना चाहिये। सूर्य मे रहा हुआ प्रकाश किसी से छिपा नही रह सकता है। फूल मे रही हुई सुवास भी तुरन्त प्रकट हो जाती है। चन्द्रमा की शीतलता और अग्नि की उष्णता प्रकट हुए बिना रहती नही है, और जैसे हीरे की चमक शीघ्र प्रतीत हो जाती है, वैसे ही सामायिक से साधको का समभाव उनकी प्रत्येक क्रियाओ मे प्रकट हुए बिना रहता नही है। सामायिक का साधक घर मे हो या दुकान मे, जेल मे हो या कचेहरी मे, श्मशान मे हो या आलीशान बगले मे, सब जगह वह समभावमय ही रहता है। समभाव की साधना को जीवन-व्यापी बनाना ही सामायिक का ध्येय है।

व्रतो का आधारभूत व्रत : सामायिक

सामायिक व्रत अन्य सभी व्रतो का आधारभूत व्रत है। आपने मधु-मक्खियों के छत्ते को देखा होगा। उसमे अनेक मक्खिया काम करती है, उन मक्खियों मे एक रानी मक्खी होती है, जिसके आश्रित ही अन्य सभी मक्खिया रहती है। वह रानी मक्खी जब तक छत्ते मे रहती है, तब तक अन्य सभी मक्खिया भी इसमे रहती है परन्तु जब वह उड जाती है तो अन्य सभी मक्खियां

भी उसके साथ उड जाती है। यही हाल सामायिक व्रत का है। जहा तक सम-भाव रूप सामायिक का अस्तित्व होता है, वहा तक ही अन्य सभी व्रत बने रहते है। इसके अभाव मे वे कायम नही रह सकते है।

सामायिक की साधना मे जैन-धर्म का सार आ जाता है। सामायिक यानी समभाव को प्राप्त करने की एक विशिष्ट तालीम। सामायिक यानी समता के सागर मे डुबकी लगाने की एक आध्यात्मिक कला। आप सब बम्बई मे रहते हैं। अत यहा के 'स्वीमिंग बाथ' से आप अपरिचित न होगे। वह समुद्र मे लाखो रुपयो के खर्च से बनाया गया है। इसमे किसी को तैरने जाना हो तो १०) रु० प्रवेश फी देनी पडती है। प्रविष्ट होने से पहले शरीर की जाच भी की जाती है। प्रविष्ट होने वाले को डॉक्टर का सर्टिफिकेट भी पेश करना पडता है कि उसके शरीर मे कोई छूत की बीमारी तो नही है। इन्सपेक्टर इसकी जाच करता है और फिर उसे प्रवेश मिलता है।

'स्वीमिग बाथ' मे तैरने आने वाला सीधा वहा नही जा सकता। पहले उसे शरीर के मैल को दूर करने के लिये दूसरे स्थान पर नहाना पडता है। इसके बाद वह स्वीमिग बाथ मे तैरने का अधिकारी बनता है। समुद्र के खारे पानी मे नहाने के लिये भी जब इतनी विधि करनी पडती है, तब सामायिक रूप समता के शान्त समुद्र मे स्नान के लिए इससे भी अधिक विधि करनी पडे, यह स्वाभाविक ही है। अनर्थ दण्ड के छूत की बीमारी से जो मुक्त होता है, उसे ही समता रस के समुद्र मे स्नान करने का शास्त्रकारो ने अधिकार दिया है।

सामायिक की साधना

कुछ लोग सामायिक का अर्थ निवृत्ति लेना ही करते हैं, जो सामायिक का अधूरा अर्थ है। क्योकि निवृत्ति भी बिना प्रवृत्ति के टिक नही सकती है। अत सामायिक मे सावद्य योग का त्याग तो करना पडता है परन्तु साथ ही साथ निरवद्य योग मे प्रवृत्ति भी करनी पडती है। बिना शुभ प्रवृत्ति किए अशुभ प्रवृत्तियो से निवृत्ति नही हो सकती है। इसलिये सामायिक की व्याख्या करते हुए एक जगह कहा गया है—

"सामाइय नाम सावज्ज-जोग परिवज्जण, निरवज्ज-जोग पडिसेवण च"।

सावद्ययोग का त्याग कर निरवद्ययोग मे प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। मन वचन और कर्म मे सवद्यता न रहे, यही सामायिक का उद्देश्य है। सामायिक करने वाले मन, वचन और कर्म मे क्रमशः निर्विकार और पवित्र होते जाते हैं। 'अनुयोग द्वार' सूत्र मे सामायिक की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइकेवलिभासियं॥

जिससे त्रस और स्थावर सभी जीवो के प्रति समभाव रहे उसे सामायिक व्रत कहते है। यो तो सामायिक शारीरिक क्रिया है, पर मन पर उसका मुख्य आधार है। क्योकि शरीर स्थिर हो पर मन अस्थिर हो तो सामायिक की साधना नही की जा सकती है। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर ध्यानस्थ था, पर मन उसका अस्थिर था, शुभ ध्यान से रहित था, तब वे सातवी नरक का आयुष्य बाध रहे थे। परन्तु दूसरे ही क्षरण उन्होने अपने मन को नियत्रित कर आत्म भाव मे लीन हुए तो कैवल्य की प्राप्ति हो गयी थी। इस प्रकार सामायिक का मुख्य आधार मन की स्थिरता पर रहा हुआ है। यह स्थिरता केवल एक मुहूर्त्त की ही नही, पर जीवन-व्यापो बनाने का प्रयत्न होना चाहिये। अपनी दिनचर्या मे विषमभाव के बदले समभाव को स्थायी बनाने का प्रयास करना चाहिये।

स्वरक्षरण की वृत्ति सर्वरक्षरण में बदले :

प्राणी मात्र मे स्वसुख और स्व-रक्षरण की भावना रही हुई है। लट को अगुली का स्पर्श होते ही वह सिकुड जाती है। स्वरक्षरण की वृत्ति से वह अपना शरीर सकुचित कर लेती है, ताकि उसे कोई मारे नही। मनुष्य पशु के सामने लकडी लेकर खडा हो जाय, तो वह इधर-उधर दौडने लग जाता है, और मनुष्य भी जब कभी अपने सामने पशुओ को लडते देखता है, तो उनसे बचने के लिए वह एक ओर खिसक जाता है। इस प्रकार चीटी से लेकर मनुष्य तक सबमे स्वरक्षरण की वृत्ति रही हुई है। इस स्वरक्षरण की वृत्ति को सर्वरक्षरण की वृत्ति मे बदल देना ही सामायिक का ध्येय है। सामान्यत: मानव की दृष्टि अपनी देह, इन्द्रिय और भोगो तक सीमित रहती है। कुछ आगे बढती है तो परिवार तक पहुँच कर स्थिर हो जाती है। इस सीमित दृष्टि को समभावी बनाकर विश्व-व्यापक बनाना ही सामायिक का ध्येय है। जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे दूसरो को भी वह प्रिय है। ऐसा समझकर दूसरो को कष्ट न देना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रशस्त करना ही सामायिक का ध्येय होना चाहिये। समभाव की प्राप्ति के लिये, राग-द्वेष को जीतने मे ही सामायिक की सिद्धि रही हुई है।

जहा सामायिक होती हो, वहा द्वेष, क्लेश, लडाई-झगडे या युद्ध कभी नही हो सकते है। न ऊच-नीच के भेद-भाव ही कायम रह सकते है। स्पर्शास्पर्श की कृत्रिम दीवाले भी नही होती है, परन्तु आज तो ऊच-नीच के भेदभाव बढते जा रहे हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मे और कुटुम्ब-कुटुम्ब के बीच मे झगडे चल रहे है। एक समाज का दूसरे समाज से विरोध चल रहा है। एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र युद्ध की बाते कर रहा है। तब इन सघर्षणों को दूर करने की एक मात्र औषधि 'समता भाव' ही है, जो कि सामायिक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक

सामायिक के दो प्रकार हैं—द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में समता रखना भाव-सामायिक है। भाव-सामायिक की सिद्धि के लिये साधन रूप जो क्रिया की जाती है, उसे 'द्रव्य-सामायिक' कहते हैं। साधक का ध्येय द्रव्य-सामायिक को भाव-सामायिक बनाने का होना चाहिये और उसके लिए उसे प्रयत्नशील भी रहना चाहिये।

साधारणतया रिस्टवाच (हाथ-घड़ी) में एक बार चाबी भर दी जाती है, तो वह चौबीस घण्टे तक बराबर चलती रहती है। दीवाल घड़ी में एक बार चाबी दे देने पर आठ रोज तक बराबर चलती रहती है, परन्तु कोई घड़ी ऐसी हो कि जब तक आप उसमें चाबी भरते रहें तब ही चलती रहे और चाबी भरना बन्द किया कि वह बन्द हो जाय, तो क्या उसे आप घड़ी कहेंगे या खिलौना? वह समय बताने वाली घड़ी नहीं कही जा सकेगी, परन्तु उसकी गणना खिलौने में ही होगी। इसी प्रकार जो मनुष्य सामायिक करे, वहां तक ही उसका समभाव कायम रहे और फिर उसके आचरण में विषमता आ जाए, उसकी प्रवृत्तियों में समता का अंश भी न रहे, समझ लेना चाहिये कि उसकी सामायिक सच्ची सामायिक नहीं है। वह द्रव्य-सामायिक भी आभास मात्र ही है। ऐसी स्थिति में भाव-सामायिक की कल्पना करना, तो आकाश से फूल चुनने जैसा है।

वर्षों तक सामायिक करने पर भी समभाव की सिद्धि न हुई हो, तो शान्त चित्त से आत्म-निरीक्षण करना चाहिये और समभाव के मार्ग में जो-जो बाधक तत्त्व अन्तराय रूप होते हों, उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। बाल-पोथी पढ़ने वाला छोटा बालक एक वर्ष में जिस किताब को पूरी करता है, उसे ही आठवीं कक्षा का विद्यार्थी एक घण्टे में पढ़ डालता है। बालपोथी पढ़ने वाले में और आठवीं कक्षा के लड़के में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर, पवित्रता और समतारस को लेकर सामायिक शुरू करने वाले में और वर्षों से सामायिक करने वाले में होना चाहिये। वर्षों तक अभ्यास करते रहने पर भी जो विद्यार्थी बालपोथी में ही रहे, आगे नहीं बढ़े तो उसके लिए आप क्या विचार करेंगे? इसी तरह वर्षों से सामायिक करने वाले में भी समभाव वृत्ति प्रकट न हुई हो तो उसके लिए आप किस को निमित्तभूत मानेंगे?

विवेक : सामायिक का पाया :

एक बार हमारे पूज्य गुरुदेव ने फरमाया था कि कोई मनुष्य मकान बनाने का विचार कर रहा है [illegible] है, परन्तु दिल में बसी हुई मौत मान में [illegible] हो सकेगा? वर्षों तक उसका [illegible] नहीं हो सकेगा।

यही हाल सामायिक का भी है। सामायिक मे समभाव की दीवाल खडी की जाती है, परन्तु सामायिक पूरी हो, न हो, तब यदि समभाव की दीवाल गिर जाती है तब ऐसी स्थिति मे समभाव मे कैसे वृद्धि हो सकेगी ? पाया मजबूत न हो तो दीवाल गिर जाती है। इसी तरह सामायिक का पाया भी मजबूत न हो तो समता रूपी मकान ढह जाता है। सामायिक का पाया विवेक है। अत समभाव रूपी मकान को दृढ रखने के लिए विवेक का पाया भी दृढ बनाना चाहिये।

अमूल्य सामायिक-रत्न

पहले के जमाने के श्रावको मे और आज के श्रावकों मे जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। पहले के श्रावको मे सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म-क्रियाओ के प्रति पूर्ण श्रद्धा होती थी, परन्तु आज सामायिक के प्रति उस तरह की श्रद्धा-निष्ठा कम दृष्टिगोचर हो रही है। सूरत के एक प्रतिष्ठित जवेरी को झूठा आरोप लगाकर कैद में डाल दिया गया था। सामायिक और प्रतिकमरण करने का उसका रोज का नियम था। परन्तु जेल मे धार्मिक क्रिया करने की सुविधा नही थी अत. उसने जेल के व्यवस्थापक से कहा—जैसे आपको नमाज पढनी होती है, वैसे हमको भी धार्मिक क्रिया करनी पडती है। अत इसकी सुविधा कर देगे, तो मैं आपका आभारी होऊगा। व्यवस्थापक भला आदमी था। अत उसने सेठ के लिए धार्मिक क्रिया करने की सुविधा करदी। सेठ इससे इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने पुत्र को प्रतिदिन पाच सौ रुपया व्यवस्थापक को इनाम मे देने के लिये कह दिया।

कुछ दिनो बाद ही सेठ पर लगाया गया आरोप झूठा सिद्ध हुआ और उसे निर्दोष छोड दिया गया। जेल के व्यवस्थापक ने सोचा—इस इनाम की खबर बादशाह को लग जायेगी, तो वह मुझे दण्ड दिये बिना नही रहेगा। अत वह सेठ को सब रुपया वापस देने लगा। सेठ ने कहा—भाई, ये रुपये तो मैंने तुम्हे प्रेम से भेट किये है। इससे तुम्हे घबराने की कोई बात नही है। मैंने तो तुम्हे रोज पाच सौ रुपये दिये है। परन्तु तुमने तो मुझे अमूल्य सामायिक-रत्न प्रदान किया है। प्रतिदिन सामायिक-रत्न कमाने का मौका प्रदान कर तुमने मेरे पर विशेष उपकार किया है।

कहने का आशय यह है कि सेठ ने जेल मे भी अपना सामायिक का नियम नही छोडा था। ऐसे थे—पहले के श्रावक, परन्तु आज तो शिथिलता नजर आती है। ऐसा दृढ नियम-पालन आज वहुत कम देखा जाता है। मुसलमानो को देखिये, वे प्रतिदिन समय पर नमाज पढेगे ही। वे प्रवास मे हो या जगल मे, पर नमाज के समय नमाज पढने लग जायेगे। किसी भी स्थिति मे वे नमाज

पढ़ना भूलेंगे नहीं, परन्तु आपकी क्या स्थिति है? आपके पास समय हो, पर आप उसे विकथा में गवा दें, तो यह आपके लिए अनुचित बात ही कही जायेगी। श्रावक को सामायिक-प्रतिक्रमण का प्रतिदिन नियम लेना और उसका पालन करना चाहिये।

आजीविका की शुद्धता

कुछ लोग जैसे कि पहले मैंने कहा—यह कहते हैं कि सामायिक तो हम करते हैं, परन्तु हमारा मन स्थिर नहीं रहता है। मन को स्थिर बनाने के कई उपाय हैं, पर उसका मुख्य आधार आजीविका की शुद्धि पर है। सत्य और प्रामाणिकता से जीवन-निर्वाह करने पर चित्त शुद्ध और स्थिर रह सकता है। इसके अभाव में मन की स्थिरता नहीं रह सकती है।

पूणिया श्रावक की सामायिक हमारे यहाँ प्रसिद्ध है। उसने अपने पास बारह आना की ही पूंजी रखी थी। इससे वह रुई खरीदकर पूणिया बनाता था और उसी को बेचकर अपनी आजीविका चलाता था। एक बार जब वह सामायिक में बैठा हुआ था, तब रोज की तरह उसका मन स्थिर नहीं था। इससे वह विचार में पड़ गया। उसने सोचा, हो न हो, आज बिना हक की वस्तु का उपयोग हो गया है अन्यथा चित्त की स्थिरता विचलित क्यों होती? उसने अपनी सारी दिनचर्या पर नजर दौड़ाई पर कहीं भी उसे भूल प्रतीत न हुई और न किसी बिना हक की वस्तु का उपयोग किया ही प्रतीत हुआ। सामायिक पूर्ण होने पर उसने अपनी धर्मपत्नी से पूछा—आज भोजन में किसी दूसरे घर की वस्तु तो नहीं आई? उसकी पत्नी ने कहा—'भोजन में तो दूसरे घर की वस्तु नहीं आई, पर चूल्हा जलाने के लिये पड़ोसी के घर का जला हुआ छाणे (कण्डे) का टुकड़ा मैं बिना पूछे जरूर उठा लाई थी।" पत्नी के इस स्पष्टीकरण से पूणिया श्रावक को सामायिक में चित्त स्थिर नहीं रह सकने का कारण समझ में आ गया। उसने अपनी पत्नी को कभी भविष्य में ऐसा न करे, समझा दिया।

जब मात्र दूसरे के घर की एक तुच्छ-सी वस्तु कण्डे (छाणे) का बिना पूछे उपयोग करने वाले का चित्त भी सामायिक में स्थिर नहीं रह सकता है, तो दूसरों के हक के रुपये तथा धन पर मजा करने वालों का मन सामायिक में कैसे स्थिर रह सकता है? अतः सामायिक व्रत की शुद्ध आराधना करने के लिए उसकी प्राथमिक भूमिका रूप आजीविका की शुद्धि करना आवश्यक होता है और उसको फिर उसे बढ़ाना आवश्यक होता है।

सामायिक व्रत के अतिचार

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं—

'योग दुष्प्रणिधानाऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि' ।

१. हाथ, पैर आदि अगो का अयोग्य सचालन करना अथवा छह काय के जीवो की हिंसा करना या उन्हे दु·ख पहुँचे ऐसी प्रवृत्ति करना, काय-दुष्प्रणिधान नामक पहला अतिचार है ।

२. सस्कार रहित और अर्थहीन भाषा बोलना, छह काय के जीवो की हिसा हो या उन्हे दुःख पहुँचे ऐसा वचन बोलना, वचन-दुष्प्रणिधान है ।

३. क्रोध, द्रोह आदि के वशीभूत होकर मनोव्यापार करना, मन-दुष्प्रणिधान नामक तीसरा अतिचार कहा गया है ।

४. सामायिक में उत्साह न रखना, सामायिक के समय मे उसमे प्रवृत्त न होना, जैसे-तैसे अव्यवस्थित रूप से सामायिक करना, अनादर नामक चौथा अतिचार है ।

५ एकाग्रता के अभाव से या चित्त की अव्यवस्था से अधूरी सामायिक पार लेना, स्मृति अनुपस्थान नामक पाचवा अतिचार है ।

इन पाच अतिचारो से दूर रहकर, शुद्ध सामायिक करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है ।

नियमपूर्वक सामायिक करें :

शास्त्रकारो ने सामायिक को भी षडावश्यको मे स्थान दिया है । अत यह प्रतिदिन करनी ही चाहिये । आपको अपने अन्य कार्यो के लिए जैसे समय निकालना पडता है, वैसे ही सामायिक के लिए भी कम से एक क्लाक (एक घण्टा) का समय आपको अवश्य प्रतिदिन निकाल लेना चाहिये । । यह आत्मा की खुराक है, जो उसे रोज मिलनी ही चाहिये, अन्यथा इसके अभाव मे वह पुष्ट नही हो सकेगी ।

३२

समता और तप

□ श्री अभयकुमार जैन

सम्यक् तप का महत्त्व :

अन्तरंग समता तथा वीतरागता की रक्षा और वृद्धि मे तप महान् लाभदायक है। तप से कर्मों की निर्जरा तो होती ही है यह संवर का भी प्रधान कारण है। इससे नवीन कर्मों का आना रुकता है तथा पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है। यद्यपि तप का गौणफल सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति भी है पर इसका प्रधानफल तो आत्मा मे समता और वीतरागता की वृद्धि करते हुए कर्मों का क्षय करना ही है। तप के द्वारा अनादि के बंधे कर्म और संस्कार क्षणभर मे विनष्ट हो जाते है। इसलिए सम्यक् तप का मोक्षमार्ग मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मोक्ष धाम पहुँच जाता है ।[1] निर्दोष तप उभयलोक सुखकारी है। यह इस लोक मे क्षमा, शान्ति एव विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणो को प्राप्त कराता है तथा परलोक मे मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि भी कराता है। अत उभय लोक के सन्ताप को दूर करने के इच्छुक विवेकी जन इस तप मे अवश्य प्रवृत्त होते है[2] । वस्तुत निर्दोष तप से जो प्राप्त न हो—ऐसा कोई पदार्थ इस जगत मे नही है—इससे सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है।

जैसे सूर्य की प्रचण्ड किरणो से सतप्त मनुष्य का शरीर-दाह धारागृह से नष्ट हो जाता है वैसे ही ससार के महादाह से दग्ध होने वाले भव्यो के लिए तप जलगृह के समान शान्ति देने वाला है—तप मे सासारिक दु खों के निर्मूल करने का अपूर्व गुण है।

समता और तप का पारस्परिक सम्बन्ध :

समता और तप, एक दूसरे की वृद्धि में सहायक है। अन्तरङ्ग मे राग द्वेष के अभाव (वीतरागता की वृद्धि) से तप मे उत्तरोत्तर प्रकर्षता, प्रगाढता एव निश्चलता बढती है और तप की सुदृढता से आत्मा का शुद्ध चैतन्यरूप उत्तरोत्तर निखरता है, विकारो का शमन होता है और आत्मा मे विशुद्धता तथा निर्मलता बढती ही जाती है। अत आत्मशुद्धि, आत्मपरिष्कार तपोबल से ही होता है। जैसे सुवर्ण की शुद्धि बिना अग्नि के नही हो सकती है वैसे ही आत्मा की शुद्धि भी तप के बिना असम्भव है।[3]

तप की प्रखरता से ही अन्तरङ्ग भावों मे निर्मलता व विशुद्धता बढती है, विरोधियो मे विरोध का अभाव होता है, मन और इन्द्रिया वशगत होती है। अतएव चित्तवृत्ति विषयो की ओर आकृष्ट न होकर आत्मकेन्द्रित होती जाती है जो अन्तरङ्ग मे साम्यभाव और वीतरागता की वृद्धि करती है। जैसे सुवर्ण को पिघलाने वाली अग्नि जितनी तेज और प्रखर होती है स्वर्ण का रग उतना ही उज्ज्वल होता है और उसमे उतनी ही अधिक शुद्धता निखरती है। ठीक वैसे ही तपस्वी जितने ही अधिक और बडे कष्टो को समभाव पूर्वक सहन करता है उसके आत्मिक भाव—अन्तरङ्ग परिणाम उतने ही अधिक विशुद्ध व निर्मल होते है।[4] अत तपोवल अन्तस् की साम्यवृद्धि- मे सहायक है।

---

१ पद्मनदि पर्चविंशतिका—१।६६

२ आत्मानुशा०—११४

३ आत्मशुद्धिरिय प्रोक्ता तपसैवविचक्षणै ।
किमग्निना विना शुद्धिरस्ति काचनशोधने ॥—प्रभाचन्दाचार्य—मो० पा० पृ० ५५४

४. यथा भवति तीक्ष्णाग्निस्तथैवोज्वल काञ्चनम् ।
तपस्येव यथाकष्ट मन शुद्धिस्तथैव हि ॥—कुरलकाव्य—२७।७

निष्कर्ष यही है कि अन्तरङ्ग मे समता भाव की प्रकर्षता ही तपो की सुदृढता और सुस्थिरता का कारण है और तप की प्रखरता तथा स्थिरता समता भाव की वृद्धि मे सहायक है। अत. इन दोनो मे परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। जैसे बाह्य तप, आभ्यन्तर तपो की वृद्धि मे सहायक है वैसे ही अन्तरङ्ग एव बाह्य तप समता की प्रकर्षता मे परम सहायक है। अत तप साधन है और समता है साध्य। तपो से समता (वीतरागता) की ही सिद्धि की जाती है जो आत्मा का प्रमुख लक्ष्य है। अत आत्मा के शुद्ध चैतन्यभाव की प्राप्ति मे तप परम सहायक है। हमारा साध्य जो स्व-स्वरूप की आराधना और वीतरागता की सिद्धि है, वह हमे तप द्वारा ही प्राप्त होती है। अत. समता-वीतरागता ही हमारा ध्येय है। तपस्वी तपो द्वारा इसी की उपलब्धि हेतु सचेष्ट रहते है। आध्यात्मजगत् मे समता और तप का इसीलिए महत्त्वपूर्ण स्थान है।

है। जिसके जीवन मे तृष्णा कम व पुण्य अधिक होते है, वे अधिक सुखी व सुलभबोधि होते है। इसके विपरीत जिनके जीवन मे तृष्णा अधिक व पुण्य कम होते है, वे अधिक दु:खी एव दुर्लभबोधि होते है। तृष्णा का स्वरूप बताते हुए आध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी ने कहा है—'तृष्णावान के लिए सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र की चारपाई, आकाश का तकिया व धरती की चादर बना दी जाय, तब भी वह कहेगा कि मेरे पैर तो बाहर (उघाडे) ही है,' जबकि समभावी आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप रूप चार पाए वाली चारपाई का शरण लेकर, सुख-शान्ति से जीवनयापन करता है।

इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण उल्लेखनीय है। पाइसर का बादशाह जब इटली जीतने को जाने लगा तो एक सीनियास नामक तत्त्ववेत्ता ने पूछा—'आप कहाँ जा रहे है ?' उत्तर मिला—'इटली जीतने।' उसने फिर पूछा—'इटली जीत कर फिर क्या करेगे ?' उत्तर मिला—'अफ्रीका जीतू गा।' तत्त्ववेत्ता ने पुन: पूछा—'फिर क्या करेगे ?' उत्तर मिला—'बाद मे आराम करूँगा।' इस पर तत्त्ववेत्ता ने कहा—'अच्छा, वह आराम अभी ही क्यो नही कर लेते ?' बादशाह निरुत्तर हो गया।

इस प्रकार तृष्णावान पुण्य के उदय होते हुए व अनुकूल साधन होते हुए भी कभी आराम से नही रह सकता।

समतावान सरल दृष्टि होता है :

समता से आत्मा आर्जव (सरलता) गुण का धारक तथा ग्रथिरहित होता है। माया, कपट का त्याग कर वह सरल दृष्टि हो जाता है। ऐसी सरल आत्माएँ ही मुक्ति की अधिकारी होती है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

"बाह्य तेम आभ्यान्तरे, ग्रथ ग्रथि नही होय।
परम पुरुष तेने कहो, सरल दृष्टि थी जोय।।
आत्म ज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।।"

उत्कृष्ट समता मुनियो मे मिलती है। मुनियो के लिए कहा गया है—

"अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासी चदन कप्पोआ असणे अनसणे तहा।"[1]

मुनि इस लोक व परलोक मे अनासक्त भाव से रहे। यदि एक उन्हे

१—उत्तरा १९-९३

मर्यादा हो), (८) निरवशेक (चारों आहार-त्याग), (९) सकेत (गाठ मुट्ठी आदि से) एव (१०) अद्धा प्रत्याख्यान (पोरसी आदि) ।[१]

व्रत-प्रत्याख्यान बंधन नहीं है :

कुछ बधु कहते हैं, मुक्ति मार्ग मे बधन कैसा ? जो मार्ग कर्म-बधन से मुक्ति करावे, उसमे व्रत-प्रत्याख्यान का बधन क्यों ? इसका समाधान यह है कि जैसे सर्दी मे अधिक वस्त्र बधन हेतु नही, शरीर रक्षार्थ होते है। चोर-डाकुओ से व धूप-वर्षा से बचने हेतु बद मकान मे निवास भी बधन रूप नही होता और पैर मे जूता भी बधन रूप न होकर काटे, कोकरे आदि से बचाने वाला होता है, वैसे ही व्रत-प्रत्याख्यान भी आत्मा को मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद व अशुभ योग रूप आस्रव से त्राण करने वाले होते है। व्रत-प्रत्याख्यान की महिमा महान् है। ज्ञान की कमी होते हुए भी साधना चल सकती है। 'भगवती सूत्र' मे उल्लेख है कि आठ प्रवचन माता का ज्ञान वाला भी व्रत (चारित्र) की आराधना कर कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्रकट कर सकता है। इससे सुस्पष्ट है कि ज्ञान से भी व्रत-प्रत्याख्यान का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। इसी कारण जैन-धर्म मे, व्रताराधना पर विशेष जोर दिया गया है। 'औपपातिक सूत्र' में जिन धर्म की साधना को इसी कारण वयप्पहाणा (व्रत प्रधान), गुणप्पहाणा (गुण प्रधान), करणप्पहाणा (करण प्रधान), चरणप्पहाणा (चरण प्रधान), निग्रहप्पहाणा (निग्रह प्रधान) बताया गया है।

बिना विरति के समभाव का भुलावा :

एकान्त निश्चयवादी व्रत-प्रत्याख्यान, त्याग, तप, दया, दान आदि की उपेक्षा कर, मात्र आत्म प्रतीति कर, समभावी होने पर जोर देते है, किन्तु उनका यह कथन एकान्त व भ्रामक है। ऐसे व्यक्ति कहते है—"खाओ पीओ मौज उडाओ, रगरेलियाँ करो, कोई हर्ज नही, बस आत्म प्रतीति कर समभाव बनाए रखो, फिर त्याग तप की भी आवश्यकता नही", किन्तु ऐसे कथन के मूल मे धर्म के प्रति अरुचि व स्वच्छन्द वृत्ति झलकती है। आत्म प्रतीति पूर्वक समभाव का अभ्यास करे, इसका विरोध नही, किन्तु वह सवर-निर्जरा के मुख्य हेतु व्रत-प्रत्याख्यान, त्याग-तप को ग्रहण किए बिना ही मुक्ति प्राप्ति की बात करे तो वह सिद्धान्त-विपरीत है, भ्रामक है।

सुव्रती की समता का उदाहरण :

श्रावक के जीवन मे व्रत-नियम एव समता दोनो का होना परमावश्यक है। व्रतीश्रावक भी कैसे समभावी होते हैं, इस पर एक उदाहरण है। एक

१—स्था० १० सूत्र ५३

जोशीला ने बात नही मानी। उसने विचारा नाव मे पानी भरेगा तो उसे हाथो से निकाल देंगे। वह उस नाव से जैसे ही पानी मे उतरा, कुछ आगे जाने पर नाव में पानी भरने लगा। पानी निकालने मे वह दोनो हाथो से जुट गया किन्तु जितना पानी निकालता उससे ज्यादा पानी नाव मे भरता गया। परिणामत. वह बीच नदी के डूब गया।

यह एक दृष्टान्त है। हमारे पास धर्म रूपी पुरानी नाव है जिसमे आस्रव रूपी छिद्र हो रहे हैं, हितैषी मित्र गुरु है, जो भी गुरु-आज्ञा मान आस्रव रूप छिद्रो को व्रत-प्रत्याख्यान रूप कीले-पत्ते से बदकर देगा, वह तो सानन्द ससार रूप महा नदी को होशीला की तरह पार कर लेगा और जो जोशीला की तरह व्रत-प्रत्याख्यान रूप कीले-पत्ते से नाव के छिद्र बद नही करेगा, वह ससार समुद्र को बहुत पुरुषार्थ एवं क्रिया करके भी पार नही कर सकेगा और विषम भाव एवं असमाधि को प्राप्त होगा।

३५
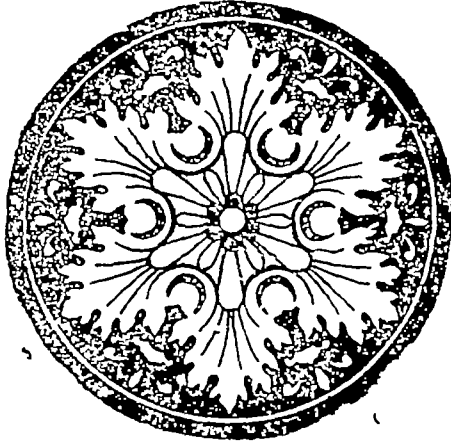
समता-व्यवहार के विकास में स्वाध्याय एवं साधना शिविरों की भूमिका

□ श्री चांदमल कर्णावट

विविध समता सिद्धान्त की प्रयोगशालाएँ :

का प्रयास किया जाता है। इसके अतिरिक्त अध्ययन के साथ सामायिक की साधना करते हुए प्रत्येक स्वाध्यायी विषमता से दूर रहकर समता की साधना करता है। शिविर-काल मे कषाय-विजय पर आयोजित व्याख्यानो के द्वारा एव उनके क्रियात्मक अभ्यास के द्वारा भी समता-व्यवहार के विकास मे सतत प्रयास किया जाता है। स्वाध्यायी भाई-बहिन इस सिद्धान्त की अनेक रूपो मे प्रकारान्तर से व्याख्या समझते है, और अपने जीवन मे समता धारण करने का सकल्प करते है। इन शिविरों का आध्यात्मिक वातावरण तो कोई प्रत्यक्षदर्शी ही अनुभव कर सकता है। फिर भी जिस प्रकार का शात एव समतापूर्ण वातावरण इनमे रहता है, उसमे रहकर समता व्यवहार की छाप गहरी अकित हो जाती है। शिविरो की समाप्ति पर अनेक स्वाध्यायी कषाय–विजय का सकल्प लेकर प्रस्थान करते है और अपने दैनन्दिन जीवन मे उनका अभ्यास करते है। यद्यपि समता-दर्शन का अध्ययन पृथक् रूप से स्वाध्याय पाठ्यक्रम मे निर्धारित नही है तथापि सिद्धान्त और व्यवहार दोनो दृष्टियो से समता-पूर्ण व्यवहार के विकास मे इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है।

साधना-शिविर :

इन शिविरो के आयोजन का लक्ष्य ही समता-पूर्ण जीवन का विकास करना है। साधना-शिविरो मे साधक ध्यान, जप, चिन्तन, मनन आदि से निज स्वरूप मे रमण करने का अभ्यास करते है, एक नियमित दिनचर्या के द्वारा अधिकाधिक समत्व को प्राप्त करने का प्रयास करते है। क्रियात्मक अभ्यास के साथ साधना की विविध भूमिकाओं पर चर्चाएँ होती है और समता-साधना का व्यावहारिक प्रयोग भी। यद्यपि इन शिविरों का आरम्भ नया-नया ही है तथापि यह कहा जा सकता है कि साधको के जीवन मे इन शिविरो के फलस्वरूप बहुत परिवर्तन आया है। वे साधना से आराधना की ओर अग्रसर हुए है। शिविर समापन के अवसर पर साधक विविध प्रकार की साधना के सकल्प लेते है। और समता रस के आनन्द को जीवन मे प्राप्त करने का निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं। स्वाध्यायी शिविरों की तुलना मे साधना-शिविर समता-व्यवहार के विकास मे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है।

भूमिका निर्माण के भावी चरण :

समता को मुक्ति का पर्याय कहा जा सकता है। जहाँ सामायिक साधना साधन है, वहाँ साध्य भी है। विषमताओ के घने जंगल मे जब तक आत्मा भटकता रहता है, उसे चैन कहाँ? शान्ति कहाँ? और निर्भयता कहाँ? अन्ततोगत्वा तो शान्ति सभी विषमताओ से मुक्त होने मे ही है। अत: आवश्यक

३६

समभाव के मर्मस्पर्शी प्रेरक प्रसंग

□ श्री मोतीलाल सुराना

[खदक मुनि की खाल उतारी, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अ गारे रखे, धर्म-रुचि अरणगार को जहरीले तु बे का आहार बहराया पर सबने समभाव रखा और प्राणो की बाजी लगाकर चौरासी के चक्कर से छुटकारा पाया। लीजिये, आज के परिप्रेक्ष्य मे कुछ प्रेरक प्रसग—समता समाज की रचना के लिये—सच्ची घटनाओ के आधार पर प्रस्तुत कर रहे है श्री मोतीलाल सुराना—सम्पादक]

(१) मर्यादा व्यापार की

महाराष्ट्र का मालेगाव। एक प्रामाणिक व्यापारी की दुकान कपडे की। प्रामाणिक है तो धार्मिक तो है ही। साल भर मे लगभग ७० हजार का कपडा बेच लेते थे। सोचा–भाव बढ रहे है पर एक लाख से तो ज्यादा का कपडा न बेच सकू गा। मर्यादा कर ली तीन लाख की—क्रियापात्र सत से। तीन लाख की जब भी बिक्री हो जावेगी, उस साल के लिए उसी दिन से व्यापार बन्द कर दू गा। त्याग का प्रभाव। समता ने रग दिखाया। आठ माह मे ही ३ लाख की बिक्री हो गई। निकल पडे घर से निर्ग्रथो की सेवा मे। चातुर्मास मे मलमल से निर्मल मन पर रग चढ गया पक्का। बिना किसी आडम्बर तथा निश्चित तिथि के राजस्थान मे जाकर सेठ रामचन्द्रजी बन गये हम सब के वदनीय।

(२) एक दिन और तपस्या बढ़ा ली

आचार्य–महोत्सव के दूसरे साल इन्दौर मे चातुर्मास किया पूज्य श्री नानालाल जी महाराज साहब ने। और दीक्षा लेली इन्दौर की सरल स्वभावी

जी से ज्ञानचर्चा कर लाभ लिया जा सके। समता-दर्शन के उपासक का यह आदर्श उदाहरण है।

(६) समता की संजीवनी

समता के धनी राजमलजी कडावत ने हिंसा-प्रेमी बालको से एक साप को छुडाया। साप ने उन्हे डस लिया तो भी उसे छोड़ आये तथा सामायिक लेकर बैठ गये। समता की सजीवनी ने श्री कडावतजी के पास जहर को फटकने ही नहीं दिया। स्वर्गीय कड़ावतजी ने पचास वर्ष पूर्व पचास हजार रुपए एक मुश्त दान मे निकाले थे। उस समय के पचास हजार रुपये आज के तो पाच लाख रुपयो के बराबर है।

(७) समभाव की शक्ति

भूतपूर्व होलकर रियासत के निसरपुर के एक जैनेतर भाई को सरकारी नौकरी मे केवल २२) मासिक मिलता था पर जब भी रियासत की राजमाता निसरपुर आती थी तो उनके पैर पडती थी। लोगो को बडा आश्चर्य होता था। जब उनसे कोई जिद्द कर पूछता तो वे इस रहस्य को इस प्रकार उजागर करते—

"मैं मर्यादा पूर्वक रहता हू। कम खाना और गम खाना मेरा नियम है। धन, मकान की भी मैंने मर्यादा की हुई है। 'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर' वाले सिद्धान्त का ध्यान रखता हूं। सम-भाव मे यदि कोई शक्ति है तो उसका यह कारण हो सकता है।"

(८) पगड़ी से क्या दोस्ती

घोड़े पर सवार दूल्हा और पीछे बरातियो का प्रोसेशन। बात नेमजी की नही। तोरण के वहाँ महिलाए आरती लिए खड़ी है। दूल्हे का घोडा आगे बढ़ा, और यह क्या, दूल्हे की पगडी सिर से नीचे जमीन पर जा गिरी—घोडा जो बिचक गया था। लोगो ने पगडी उठाकर सिर पर रखनी चाही पर दूल्हा 'नही', 'नही' कहकर घोडे से नीचे उतर गया। अब तो जिन्दगी भर खुले सिर ही रहूंगा—दूल्हे ने कहा। अब पगडी से क्या दोस्ती ? अब तो शादी दीक्षा कुमारी से करू गा। और दूल्हे ने दीक्षा ग्रहण की। ये थे पूज्य उदयसागरजी म० जिन्होने सयम लेकर भगवान महावीर की समता को अपने जीवन मे आत्मसात किया।

(९) केशरिया भात है यह तो

पीरदानजी की पत्नी ने बाजरे का खीचडा बनाया तथा पानी भरने कुए पर चली गई। पीरदानजी को थाली परोसी उनकी माताजी ने—भोजन के लिये। माताजी को आख से कम दिखाई देता था। भैस के लिए जो बाटा

के त्याग करवाये तथा मंगलिक सुनाकर विदा किया, उसकी बीमारी दर्शन करते ही अच्छी जो हो गई थी।

(१२) सामायिक में हूँ

श्रावकजी सामायिक लेकर वैठे थे। एक छोटी लडकी ने आकर कहा— "दा साहव, घर में आग लग गई है। वहुत सारे लोग इकट्ठे हो गये है।" श्रावकजी मौन। कुछ न वोले। मन को समझाया—सामायिक मे हू। सभी जीवों पर समभाव रखना मेरा कर्तव्य है। किसका घर? मैं क्या करूँ? और एक सामायिक और बढाली—करेमिभते की पाटी वोल कर। थोड़ी देर वाद घर से खबर आई स्थानक मे कि आग वुझ गई है। घटना धार की है तथा श्रावकजी का नाम मोतीलालजी था। गाव तथा श्रावकजी के नाम मे फर्क हो सकता है पर घटना सच्ची है—मालवे की।

तृतीय खण्ड

समता-समाज

के त्याग करवाये तथा मंगलिक सुनाकर विदा किया, उसकी बीमारी दर्शन करते ही अच्छी जो हो गई थी।

(१२) सामायिक में हूं

श्रावकजी सामायिक लेकर बैठे थे। एक छोटी लडकी ने आकर कहा— "दा साहव, घर मे आग लग गई है। बहुत सारे लोग इकट्ठे हो गये है।" श्रावकजी मौन। कुछ न बोले। मन को समझाया—सामायिक में हू। सभी जीवों पर समभाव रखना मेरा कर्तव्य है। किसका घर ? मैं क्या करूँ ? और एक सामायिक और बढाली—करेमिभते की पाटी बोल कर। थोड़ी देर बाद घर से खबर आई स्थानक मे कि आग बुझ गई है। घटना धार की है तथा श्रावकजी का नाम मोतीलालजी था। गांव तथा श्रावकजी के नाम मे फर्क हो सकता है पर घटना सच्ची है—मालवे की।

तृतीय खण्ड

समता-समाज

२७
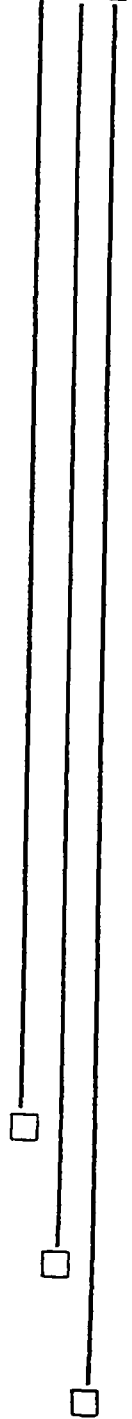
समता-समाज

☐ डॉ० महावीर सरन जैन

समाज का सुदृढ निर्माण तभी सम्भव है जब सामाजिक-सरचना, राजनैतिक व्यवस्था एव दार्शनिक चिन्तन मे मूलभूत एकता हो। इसके लिए सामाजिक धरातल पर हमे समस्त व्यक्तियो के लिए बिना किसी भेदभाव के योग्यता अनुसार जीवनयापन करने की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करनी होगी तथा सामाजिक स्थिति की दृष्टि से समता की स्थापना करनी होगी। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति को समाज मे समान महत्त्व प्राप्त होना चाहिए। जन्म के बाद प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अवसर समान रूप मे प्राप्त होने चाहिये। समान अवसर मिलने पर भी एक व्यक्ति दूसरे से कितना अधिक गुणात्मक विकास कर पाता है, उस दृष्टि से उसका सामाजिक मूल्याकन होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज मे इस बात को महत्त्व नही मिलना चाहिए कि किसका जन्म किस परिवार, वश, जाति, वर्ण, अथवा प्रान्त मे हुआ है। इस दृष्टि से हमे समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए विकास के समान अवसर एव अधिकार जुटाने होगे।

राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से हमे प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्रदान करने होंगे जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को मत देने का समान अधिकार भी समाहित होगा। मौलिक अधिकारो मे सम्पत्ति के अधिकार की सीमा होगी। सम्पत्ति का अधिकार वही तक होगा जिससे आर्थिक विषमताये उत्पन्न न हो। प्रत्येक व्यक्ति को एक ओर नौकरी पाने का अधिकार होगा अथवा अपनी प्रतिभा के अनुसार जीवनयापन करने का अधिकार होगा तथा दूसरी ओर उसे विधिसम्मत तरीके से कार्य करना होगा। घर बैठकर बिना कार्य किये खाने-पीने का अधिकार न होगा अपितु प्रतिभानुसार अपने कार्यक्षेत्र मे समुचित श्रम करते हुए, जीवनयापन करने का दायित्व पालन करना होगा।

दार्शनिक धरातल पर समस्त व्यक्तियो के अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्रता तथा स्वरूप की दृष्टि से समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना होगा। 'प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। उसके गुण एवं पर्याय भी स्वतन्त्र है। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुण एव पर्यायो का अन्य द्रव्य या उसके गुणो और पर्यायो के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है।' इस दृष्टि से व्यक्ति मात्र अपने पुरुषार्थ से उच्चतम विकास कर सकता है। दूसरी ओर स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माये समान है। प्राणी मात्र आत्मतुल्य है।

समता-समाज-रचना में प्रमुख बाधाएँ :

इन आधारो पर समता-समाज का निर्माण किया जा सकता है। आधुनिक युग मे समता-समाज के निर्माण एव विकास मे निम्नलिखित प्रमुख बाधाये दृष्टिगत होती है :—

(१) लिग के आधार पर पुरुष एव स्त्री मे भेदभाव
(२) जातिगत आधार पर भेदभाव एव आभिजात्य-अधिकारवाद
(३) समाज मे परम्परागत उपेक्षित वर्गों की स्थिति
(४) आर्थिक विषमता

समता-समाज के निर्माण हेतु हमे इन बाधाओ को दूर करना आवश्यक है।

(१) पुरुष एवं स्त्री में भेदभाव .

पुरुष एव स्त्री दोनो समाज के समान प्रकार से घटक है। इतना होने पर भी सामाजिक व्यवस्था पर पुरुष वर्ग का आधिपत्य रहा है। इस कारण पुरुष वर्ग मे श्रेष्ठता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और उसने स्त्री वर्ग को अपने से हीन मान लिया। मध्ययुग में धार्मिक सतो तक ने स्त्री जाति को नीचा दर्जा दिया।

समता समाज मे पुरुष एवं स्त्री दोनो वर्गों को समान अधिकार एव महत्त्व प्रदान करना होगा।

आज के युग में स्त्री जाति मे जो चेतना आयी है उसके कारण वह 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन' चला रही है। इस आन्दोलन मे समता की भावना कम है, पुरुष के अहकार एव उसकी दमन प्रवृत्ति के प्रति 'आक्रोश' अधिक है।

दोनों को एक दूसरे का पूरक बनकर जीवन के सधिपत्र पर हस्ताक्षर करने होगे। स्त्री वर्ग ही नमन करे—यह पुरुष का 'अहकार' है। पुरुष वर्ग के प्रति स्त्री युद्ध की स्थिति पैदा करे—यह स्त्री का 'आक्रोश' है। जीवन के चलाने

मे दोनो ही एक दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टि से जब तक सामाजिक चेतना का निर्माण नही होगा तब तक समता-समाज की कल्पना अधूरी ही रहेगी।

(२) जातिगत आधार पर भेदभाव एवं आभिजात्य-अधिकारवाद :

यह मनुष्य के चिन्तन की सबसे बडी विडम्बना है कि एक ओर दार्शनिको ने यह कहा कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही परम सत्ता की चेतना से अनुस्यूत है अथवा एक ही ईश्वर की सब सन्ताने है किन्तु दूसरी ओर समाज मे व्यक्तियो को ऊची-नीची इकाइयो मे बाट दिया गया। समाज को जाति, उपजाति, वर्णों आदि मे बाटकर समाज मे मनुष्य-मनुष्य के बीच मे भेदक दीवारें खडी करने वाली व्यवस्था के आधार पर समता-समाज की रचना सम्भव नही है। इस प्रकार के समाज के निर्माण के लिये आभिजात्यवर्गवाद की दुष्प्रवृत्तियो को समाप्त करना होगा। समाज के समस्त सघटको के बीच समानता की चेतना का विकास करना होगा। व्यक्ति की योग्यता के मापदण्ड उसके गुण, प्रतिभा, ज्ञान एव श्रम आदि होगे, जाति, कुल, गोत्र, वर्ण, प्रान्त आदि नही।

(३) परम्परागत उपेक्षित वर्गो की स्थिति :

समाज के कुछ वर्गो की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। ऊच एव नीच की भावना के कारण समाज के तथाकथित उच्च कुलीन वर्गो ने इन वर्गो को सम्पूर्ण मानवीय अधिकारो से वचित कर दासवत जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया था तथा आज भी इन वर्गो की स्थिति पूर्ण रूप से सतोषजनक नही है।

विकास के समान अवसर प्राप्त होने पर भी इन उपेक्षित वर्गो के व्यक्ति अपनी आर्थिक एव सामाजिक स्थितियो के कारण समाज के दूसरे वर्गो के व्यक्तियो की तुलना मे आगे नही बढ पावेंगे। इसलिये इनके उद्धार एव विकास के हेतु विशेष रचनात्मक कार्यक्रम बनाने होगे एवं इनके लिए विशेष सुविधायें जुटानी होगी।

इस सम्बन्ध मे एक बात यह महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार के कार्यक्रम मानवीय करुणा एव अन्याय-प्रतिकार की भावना पर आधारित होने चाहिये, इनके प्रति उच्च वर्गो की तथाकथित दया भाव के दम्भ पर आधारित नही।

(४) आर्थिक विषमता .

आर्थिक विषमता को समाप्त किये बिना समता-समाज की कल्पना नही की जा सकती। यदि आर्थिक दृष्टि से एक व्यक्ति बहुत अधिक सम्पन्न होगा तथा दूसरा उसकी तुलना मे बहुत विपन्न होगा तो ऐसे दो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का

विकास समान स्थितियो मे किस प्रकार कर सकते है ? सम्पन्न व्यक्ति अर्थ-बल के कारण आगे बढता जावेगा तथा विपन्न पिछडता जावेगा ।

प्रश्न यह है कि आर्थिक विषमता का अन्त किस प्रकार सम्भव है ?

कार्ल मार्क्स ने इस सम्बन्ध मे जिस मार्ग का प्रवर्तन किया है वह साधन सम्पन्न एव साधनहीन व्यक्तियो के "शाश्वत द्वन्द्व" भाव पर आधारित है। वे साधनहीन व्यक्तियो को सघर्ष करने का आह्वान करते है। रक्तिम क्रान्ति द्वारा अन्याय का प्रतिकार कराना चाहते हैं। मार्क्स का रास्ता हिसा का है। किन्तु जिन देशों मे रक्तिम क्रान्तिया हुई है वहा साधनहीन व्यक्तियो के माध्यम से समाज का एक वर्ग नेतृत्व सम्भालता है तथा पू जीपति वर्ग को समाप्त करने का दावा कर स्वय सत्ता पर अधिकार कर लेता है अथवा साधन सम्पन्न व्यक्तियो के प्रति हिसात्मक प्रतिकार जातिगत सघर्ष मे परिणत हो जाता है। कार्ल मार्क्स की वर्गविहीन एव राज्यविहीन समाज की स्थापना सम्भव नही हो पाती। सत्ता पर अधिकार करने के पश्चात् राजनैतिक प्रभुसत्ता बनाये रखने के लिए दमन चक्र चलता है। आर्थिक विषमताये तो कम हो जाती है किन्तु सत्ता, समता तथा व्यक्तियो को स्वतन्त्रता नही मिल पाती।

बिना रक्त क्रान्ति के आर्थिक विषमताये किस प्रकार समाप्त हो सकती है ?

इस दृष्टि से समाज मे आर्थिक विषमताये तीन धरातलों पर दूर हो सकती है :—

१. सम्पन्न व्यक्तियो की 'स्व प्रेरणा'
२ पू जी पर एकाधिकार कर गलत साधनों का उपयोग करने वाले पूंजीपतियो के प्रति समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा सामाजिक चेतना का निर्माण एव शेष समाज का असहयोग आन्दोलन।
३ शासन द्वारा व्यवस्था-निर्माण।

वस्तु के प्रति ममत्व भाव अत्यन्त प्राकृतिक है। इस भाव के कारण व्यक्ति मे सग्रह वृत्ति पनपती है। इस कारण वह पू जी का सग्रह करना आरम्भ करता है। वह भोग की सामग्रियो का सग्रह करना आरम्भ करता है। वह भोग की सामग्रियो का सग्रह ही करके सतुष्ट नही हो जाता, पू जी के साधनों पर अपना एकाधिकार करना चाहता है।

इच्छाये आकाश के समान अनन्त हैं। उनका कोई अन्त नही है। मोह एव लोभ ये दो ऐसी वृत्तिया है जिनके कारण व्यक्ति सग्रह एव परिग्रह का

अधिकाधिक विस्तार करता जाता है। एकाधिकार की भावना तीव्रतर होती जाती है। उसके प्रयास अधिकाधिक आक्रामक एव साधन अधिकाधिक अमानवीय होते जाते है।

इस दृष्टि से धर्म एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति की असीम कामनाओ को सयमित करने की प्रेरणा देता है। धर्म व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक वनाता है तथा उसमे करुणा, अपनत्व एव सयम की भावना का विकास करता है। आत्म-तुल्यता की चेतना का विकास होने पर व्यक्ति सही मायने मे धार्मिक एव सामाजिक वन जाता है। सभी मे अपनी चेतना है। सभी प्राणियो को दुख अप्रिय है। अत किसी को दुख न पहुँचाने की भावना का विकास ही व्यक्ति को समता-समाज का सदस्य वनने की प्रेरणा देता है। यह अहिंसक दृष्टि है।

हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एव सामाजिकता का। दूसरो का अनिष्ट करने की नही, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरो का भी कल्याण करने की भावना ने व्यक्ति को सामाजिक एव मानवीय वनाया है। 'पर कल्याण' की चेतना व्यक्ति की इच्छाओ को लगाम लगाती है तथा उसमे त्याग करने की प्रवृत्ति एव अपरिग्रही भावना का विकास करती है।

समाज मे इच्छाओ को सयमित करने की भावना का विकास आवश्यक है। विना इसके मनुष्य को शान्ति प्राप्त नही हो सकती। सयम पारलौकिक आनन्द के ही लिये नही, इस लोक के जीवन को सुखी वनाने के लिए भी आवश्यक है। आधुनिक युग मे पाश्चात्य जगत् मे इस प्रकार की विचारधारा का विकास हुआ है कि स्वच्छद यौनाचार एव निर्वाध इच्छा तृप्ति का जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे व्यक्ति अधिक सुखी एव तृप्ति का अनुभव करेगा। इस विचारधारा के कारण व्यक्ति की परम स्वतन्त्रता के नाम पर सयमहीन आचरण करने का परिणाम क्या हुआ ? जीवन की लक्ष्यहीन समाप्ति से ग्रसित समाज की स्थिति क्या है ? जीवन मे सत्रास, अविश्वास, अतृप्ति, वितृष्णा एव कुठाओ के अलावा क्या मिला ? हिप्पी सम्प्रदाय क्या इसी प्रकार की सामाजिक स्थितियो का परिणाम नही है ? इन्द्रिय भोगो की तृप्ति असख्य भोग सामग्रियो के निर्वाध सेवन एव सयमहीन कामाचार से सम्भव नही है—यदि यह तथ्य व्यक्ति समझ सके, अनुभूत कर सके तो व्यक्ति निश्चित रूप से उदार एव सयमी वन सकेगा।

इसके लिए महात्मा गाधी की ट्रस्टीशिप की भावना के अनुरूप आचरण मे समाज की आर्थिक विषमताओ के समाधान के वीज निहित है।

यदि सारी धार्मिक चेतना के प्रचार-प्रसार के वावजूद पूंजीपति वर्ग लोभ एव मोह आदि प्रकृत प्रवृत्तियो से ग्रसित होने के कारण पूंजीविहीन वर्ग के

प्रति उदार नहीं बनता तो क्या किया जावे ? जीवन की आवश्यक वस्तुओ का संग्रह् करके वह् समाज मे कालाबाजारी को प्रोत्साहन दे तो क्या किया जावे ?

इसके लिए नैतिक चेतना से सम्पन्न व्यक्तियों को आगे आना चाहिए। आगे आने पर उन्हे समाज के बहुत बड़े वर्ग का सहयोग एव समर्थन प्राप्त होगा। इस वर्ग को साथ लेने के लिए प्रबुद्ध व्यक्ति को नेतृत्व करना होगा। पूंजीपतियो के विरुद्ध सामाजिक चेतना का निर्माण कर उनका सामाजिक बहिष्कार एव असहयोग कराना चाहिये। इस असहयोग आन्दोलन मे आरम्भ मे बहुत कष्ट उठाने पड सकते है। इसके लिए प्रबुद्ध वर्ग को अपने को तैयार करना बहुत जरूरी होगा। इस तैयारी के साथ यदि समाज का एक छोटा-सा प्रबुद्ध वर्ग भी कर्म क्षेत्र मे कूद पड़ेगा तो उसको समाज के धरातल पर शोषित वर्ग का समर्थन प्राप्त होगा। गाधीजी के स्वदेशी आन्दोलन जैसी प्रक्रियाओ के द्वारा उस स्थिति मे सीमित साधनो के द्वारा अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है तथा पूजीपति व्यक्ति के प्रति असहयोग करके उसे झुकने के लिए विवश किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त शासन के धरातल पर समाज मे निम्नलिखित व्यवस्थाये बिना किसी भेदभाव के स्थापित की जानी चाहिए .

(१) समाज मे सभी सदस्यो को बिना किसी भेदभाव के जीवनयापन करने के अधिकार हों।

(२) विकास के अवसरो मे समानता हो। इस दृष्टि से समाज के उपेक्षित एव साधनहीन वर्गों के लिए विशेष सुविधाये हो।

(३) समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार श्रम-कार्य करना अनिवार्य हो जिससे वह् सामाजिक विकास मे भागीदार बन सके।

(४) जीवन के लिए मूलभूत आवश्यक वस्तुओ का समाज के सभी सदस्यो को न्यूनतम मात्रा मे वितरण हो अथवा प्रत्येक व्यक्ति के पास आय के उतने साधन हो जिससे वह जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके।

(५) आय के प्रतिशत मे अधिक विषमताये न हों।

शासन के द्वारा व्यवस्था एव उनका क्रियान्वयन, प्रबुद्ध वर्ग द्वारा नैतिक चेतना का निर्माण तथा असामाजिक एव अनैतिक पूजीपतियो के प्रति सामाजिक असहयोग तथा पूजीपति वर्ग की लोक कल्याण भावना के द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे भी समता-समाज के निर्माण की परिकल्पना सम्भव है।

इस प्रकार आधुनिक समाज से पुरुष एव स्त्री वर्ग की समता, आभिजात्य अधिकारावाद की समाप्ति, समाज के उपेक्षित एव विपन्न वर्गो के लिए विशेष रचनात्मक उद्धारपरक कार्यक्रम एव आर्थिक क्षेत्र मे पूजी के साधनो का विकेन्द्रीकरण, श्रम की प्रतिष्ठा एव आर्थिक विषमता के अन्त द्वारा समता-समाज का निर्माण किया जा सकता है।

इस निर्माण का आधार क्या हो ? इसका मूल आधार लोकधर्म ही हो सकता है और लोक धर्म की चेतना से ही व्यक्ति, समूह एव शासन के धरातलो पर परिवर्तन एव कार्यक्रमो का क्रियान्वयन किया जा सकता है। जीवन के लिए धार्य-तत्त्व ही धर्म है। हिंसा, क्रूरता, कठोरता, अपवित्रता, असत्य, असयम, व्यभिचार, एव परिग्रह से समाज रचना सम्भव नही है। इस दृष्टि से धर्म 'आत्म दर्शन' एव 'आत्म शुद्धिकरण' के साथ-साथ 'समाज निर्माण' एव सामाजिक विकास का भी मार्ग है। 'धर्म' अध्यात्म पथ का पाथेय, अन्तर्यात्रा की दिशा, आत्ममार्ग की ज्योति, आत्मविशुद्धि का साधन, आत्मलोक की महायात्रा का महायान तो है ही, शान्ति, सद्भाव, विश्वास, प्रेम के आधार पर विकसित सामाजिक जीवन के निर्माण का मूल मन्त्र भी है।

यूरोप की महायुद्धो से सत्रस्त भूमि पर पाश्चात्य दार्शनिको ने जीवन के उद्वेग, अव्यवस्था एव सघर्ष को मिटाने के स्थान पर "सघर्ष" को ही जीवन का मूल्य मान लिया है। साम्यवादी विचारधारा समाज पर इतना बल दे देती है कि मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता के बारे मे अत्यन्त कठोर हो जाती है। इसके अतिरिक्त वर्ग-सघर्ष एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के कारण भौतिकवादी व्यवस्था के मूल मे 'गतिशील पदार्थो' मे विरोधी शक्तियो का द्वन्द्व मानने के कारण सतत सघर्षत्व की भूमिका प्रदान करती है। इसके विपरीत व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर बल देने वाली विचारधारायें समाज को व्यक्तियो का समूह मात्र मानती है तथा व्यक्तित्व विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्ति को समाज से जोडती नही अपितु समाज मे वैषम्य की स्थितियो को जन्म देकर सघर्ष के बीजो का वपन करती है जिससे सामाजिक विघटन आरम्भ हो जाता है।

'धर्म' व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाता है। आत्म-तुल्यता एव समता की भावना से व्यक्ति के राग द्वेष की सीमायें टूटनी आरम्भ होती हैं। सब कुछ अपने ही पास रखने की नही अपितु अपने पास से दूसरो को देने की, दूसरो का दुख अपना दुख मानने की भावना का विकास होता है। 'धर्म' द्वारा अहिंसा, सयम, त्याग, अपरिग्रह आदि वृत्तियो के विकास के द्वारा समाज के सभी सदस्यो के मध्य परस्पर सद्भाव एवं प्रेम उत्पन्न हो सकता है। शासन भी लोक-कल्याण

की भावना से प्रेरित होकर व्यवस्था का क्रियान्वयन करेगा। जो व्यक्ति नियमो का पालन नही करेगे उनको नियमो के हिसाब से दण्ड दिया जावेगा, राज्याधिकारी के रागद्वेष से प्रेरित कोई व्यक्ति दडित नही होगा। दण्ड देने के मूल मे व्यक्ति के सुधार की भावना होगी, उसको नष्ट कर देने की वृत्ति नही होगी। दमनचक्र पर आधारित समाज मे स्थायी शान्ति सम्भव नही है; सह अस्तित्व एव आत्मतुल्यता की भावना पर आधारित 'सर्वोदय' के द्वारा सारा समाज सुखी एव परस्पर सद्भाव के साथ समतामय बन सकता है—'सव्वे जीवा-मित्ती मे भूएसू'।

२८
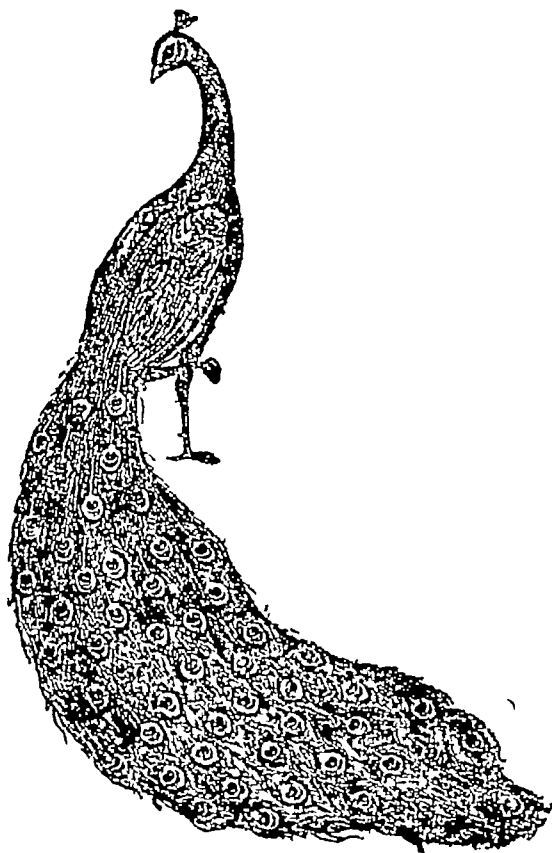
समता–समाज का स्वरूप

☐ श्री ओंकार पारीक

युग-पूज्य आचार्यश्री जवाहरलालजी महाराज स्वप्नजीवी महात्मा नही थे। उन्होने जीवन और जगत् मे समतावादी समाज की स्थापना हेतु आज से शताब्दि-पूर्व भारतीय जनता के सम्मुख अत करण की समूची आस्था और निष्ठा से, आपसी भेदभावो मे बटे हुए त्रस्त प्राणियो के उद्धार हेतु मानवीय एकता और बन्धुता पर आधारित समत्व योग का क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया था।

आज का समाज उद्विग्न है। साम्यवाद की चर्चा राज और समाज मे है। भारत मे अभी-अभी जो लोकसत्तायी परिवर्तन आया है, उस जनताराज का मूल दर्शन और ध्येय एक समतावादी समाज की स्थापना का है। यह बात साफ है कि समाज मे अमीर और गरीब के बीच की खाई बेहद चौडी हो गई है। इस खाई को पाटना बहुत जरूरी है।

युग-प्रधान आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के विचार, भारत की जनता को समताधारित समाज-सरचना हेतु प्रेरित करने के लिए बहुत कारगर सिद्ध होंगे। आचार्य श्री ने महावीर भवन, देहली मे दि० २-१०-३१ के एक प्रवचन मे कहा है—

"जगत् मे शाति स्थापित करने के लिए साम्य की आवश्यकता तो है, मगर बन्धुता के बिना शाति स्थापना का उद्देश्य पूरा नही हो सकता। साम्य की स्थापना करते समय यदि बन्धुता की प्रतिष्ठा नही की गई तो मार-काट और अशाति हुए बिना नही रहेगी।"

समाज में समता जरूरी है :

समता को भी पूरी तरह समझ लेना जरूरी है। हमारे देश मे समता की स्थापना शाति-पूर्ण, अहिसक और सत्याधारित होगी। असहमतियो का भी स्थान है। शक्ति अज्ञान की, नकारणीय नही है। अस्तित्व अधेरे का भी है। हिसा भी है और एक प्रबल विध्वसक शक्ति के साथ विश्व मे सदा उपस्थित रही है और रहेगी। विपर्यय जीवन से कटेगा नही। रास्ता इन विरोधो, विपर्ययो और विमतियों के बीच हमे बनाना है। सत्य निर्विवाद है। श्रद्धा निर्विवाद है। अहिसा निर्विवाद है। सच्चा श्रावक श्रद्धावान होगा। श्रद्धान ही मनुष्य है। भाषा समिति मुनियो के लिए ही नही, हमारे लिए भी जरूरी है—साधारण जीवो के लिए। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र हमारे लिए मुक्ति-त्रिवेणीवत् है। यदि सत हम नही हो सकते। तो गृहस्थ मे रहकर हम सदासद् का अन्तर सामने रखते हुए चले, यह क्या कम है ?

समता-समाज के स्वरूप का विकास सघर्ष मे नही समन्वय मे है, उद्विग्नता मे नही सहिष्णुता मे है, दम्भ मे नही दया मे है; क्षमा मे है, क्षोभ मे नही; करुणा मे है, क्रोध मे नही। हम द्रष्टा है, सृष्टा है, दाता है, ग्रहीता है, पाठक है, वक्ता है और अततः श्रावक ! श्रावक का 'श्रा' श्रद्धाभिनिवेशी है। जिनो याने विजेताओ (आत्मजयी) का धर्म है जैन-धर्म ! जैन-धर्म की विश्व को यदि कोई महान् देन है तो श्रावक व्यक्तित्व के सकार की। "श्रावक वह है जो ध्यान की स्थिति मे बैठकर सुन सके। उस स्थिति मे जहाँ उसके मन मे कोई विचार नही है, शब्द नही है, कुछ भी नही है, मौन मे बैठकर जो सुन सके वह श्रावक है !" श्री रजनीश की यह व्याख्या मुझे क्रान्तधर्मी लगती है। निरन्तर प्रायश्चित, निरन्तर तप, निरन्तर स्वाध्याय और अध्यवसाय—जैन-धर्मावलम्बियो का यही लोक तप है। यही लोक तप समाज को संतुलित, समन्वित और समुचित स्वरूप प्रदान करेगा।

समता-समाजः समग्र क्रान्ति का मूलाधार !

विस्तृत अर्थ मे, हम समाज और राष्ट्र को एकाकार अगीकृत कर उसके समताविधायी स्वरूप पर चर्चा कर रहे है। समता का सिद्धान्त हमारे सविधान ने स्वीकारा है, हमारी विदेश नीति मे हमने पचशील और सह अस्तित्व की वात विश्व भर मे प्रतिष्ठित की है। हम गुट निरपेक्ष है, हम धर्म निरपेक्ष है, नास्तिक नही। समतावादी नागरिक धर्म को जीवनाचरण की शुद्धता के लिए अपरिहार्य मानेगा, कोई शक्ति उसे अधर्मी नही वना सकती। सर्वधर्म समन्वय, सभी समाज वन्धुओ का सत्कार, सभी प्रकार के वर्ग, वर्ण, भाषा, भूषा और आचारगत वैयक्तिक स्वतत्रताओ के प्रति अघृणा भाव—एक विवेकी नागरिक के लिए जरूरी कर्त्तव्य है। समता-समाज के इसी पहलू पर हमे ईमानदार सिद्ध

होना है। विरोध को विद्रोह न समझे हम कभी। समाज को सुखी रहना है तो वह इस बात का आदर करेगा। आपका अनुरोध प्रबल और निश्चल रहेगा तो आपमे से बुद्ध, महावीर, गाँधी की शक्ति का चमत्कार प्रकट होकर रहेगा। समता का व्यवहार व्यक्ति-से-व्यक्ति तक का होकर समग्र-क्रान्ति का मूलाधार बनेगा। विषमता पर इतना अधिक मार्क्स ने लिखा है और हमारे राजनेतागणो ने गत ३० वर्षों मे भाषणाचार किया है कि विषमता के अर्थ ही धु धला गये है। रूस की विषमता और भारत की वि-समता मे मूल अतर है। अतर कि जितना सत्याग्रह और हत्याग्रह मे है। हम सदियो प्रतीक्षा करते रहे हैं और करेंगे पर हमला करके समता कायम नही करेगे समाज मे। समाज मे आज वैदेशिक प्रचार तत्र का हमला जहाँ जारी है, वहाँ यह क्या कम महत्त्व की बात है कि इस देश के कलाकार और कलमकार समता-समाज के स्वरूप की ओर अपने पूर्वज आचार्यो की ज्ञानगगा के अवतरण हेतु भगीरथ चिन्तन-मनन मे लगे है।

समता नहीं हारेगी :

'राम का नाम चोर भी जपता है और राजा भी। राजा चोर पकडने के लिए और चोर बचने के लिए' पूज्य जवाहराचार्यजी महाराज की इस वाणी को समझें। भाषा समिति इसे कहते है। 'राम' सबका है। राम–सत्य है। राम पाप-पुण्य से परे है। राम निर्विकार है। वह राज का है—समाज का है। राज मे राम रहे तो गाँधी राम राज्य की बात करता है। समाज मे राम रहे तो—विनोबा उसे 'समाज नारायण' कहकर पुकारता है। यह सारा खेल क्या है? राम न कोई रावणहता पुरुष है न कोई देवता। आज राम का अर्थ है सापेक्ष सत्य का समत्व–योग। आइस्टीन महोदय ने इलेक्ट्रोन मे कण और तरग दोनो को गतिशील माना पर 'क्वांट्म थ्योरी' की गहराई मे जाने से पूर्व नेति-नेति पुकार उठा। सत्य जो था प्रयोग पर आया कि घोषित हुआ। प्रयोगच्युत् सत्य फिर कभी सापेक्ष मान्यता का प्रत्यान्तर वरेगा। यह चलता आया है। यह समाज सापेक्षतावादी है।

विश्वास रखिए. !

समता रहेगी क्योंकि आदमी जिन्दा रहना चाहता है। समता-समाज का स्वरूप सीधा-सीधा यह है कि पारस्परिक विश्वास की बेल सूखने न पाए। मालिक–मजदूर, शासक–शासित, गुरु–शिष्य, विद्वान्-मूर्ख, धनी–निर्धन सबके बीच का विश्वास सरक्षणीय है। फोडे पर नश्तर जरूरी है। आततायी का सामना वीरत्व करेगा। मालिक, मजदूर, शासक, शासित, सबके बीच 'ट्रस्टीशिप' कायम हो। गांधी की बात मे सार है। जे० पी० और आचार्य जवाहराचार्य यही चाहते हैं। क्या आप नही चाहते? विश्वास रखिए. विश्वास के साथ समता कायम होगी नही तो पतन. . .। • • •

३६

समता बिना कैसा समाज ?

□ डॉ० के० एल० कमल

[१]

समता बिना सभ्य समाज की कल्पना भी दूभर है। सुप्रसिद्ध विचारक जीन जेम्वस रूसो कहता है कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है लेकिन तत्पश्चात् जंजीरो मे आबद्ध हो जाता है। कहा जाता है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है। प्रकृति ने सबको समान बनाया है, लेकिन आज मनुष्य की क्या स्थिति हो गई है। समाज मे कितनी विषमता, कितना शोषण, उत्पीडन, भेदभाव व्याप्त है। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच मे कितनी दूरी आ गई है, मनुष्य का स्वरूप कितना विकृत हो गया है। आज अमीर–गरीब, अधिकारी–नौकर, शासक–शासित, देशी–परदेशी, काले–गोरे, शिक्षित–अशिक्षित, शोषक–शोषित के रूप मे सम्बन्ध बन गये है और इसी रूप मे इनकी बात होती है और समस्याये खडी की जाती है तथा उनका समाधान ढूँढने का प्रयास किया जाता है। आज का सबसे बडा सकट यह है कि आज एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से बात नही करता, अपना दु:ख–दर्द एक दूसरे को नही सुनाता। आज एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य से जोडने वाली कोई कडी नही है। मानव समाज की सरचना का कोई मानवीय आधार नही है। फिर ऐसे समाज मे कैसा न्याय हो सकता है ? समता बिना कैसा समाज ? बिना समता कैसा न्याय और न्याय बिना कैसा समाज ? इन्ही कतिपय मूल प्रश्नो पर विश्व के चार महान् विचारक प्लेटो, अरस्तू, कार्ल मार्क्स एव महात्मा गाधी का सक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत करने का एक प्रयास है।

[२]

यूनान के प्रथम राजनीतिक दार्शनिक प्लेटो को इस बात से बडी वेदना हुई कि उसके गुरु सुकरात को जहर का प्याला पीकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करनी पडी। क्या दोष था सुकरात का ? उसका यही दोष था कि वह सच बोलता था और शरीर को जीवित रखने के लिए आत्मा की आवाज दबाता नही था। प्लेटो को पता लगा कि समकालीन राज मे न्याय नही है और इसीलिए विश्व के सबसे बुद्धिमान व्यक्ति सुकरात को अपने जीवन से हाथ धोना पडा। उसने एक ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना का सकल्प लिया जिसमे न्याय हो सके। उसने पत्नियो और सम्पत्ति के साम्यवाद की जो बात कही उसका आधार ही समता है। कचन और कामिनी के मोह से मुक्त कर, प्लेटो, दार्शनिक शासक को समाज के कल्याण मे प्रवृत्त होने को कहता है। उसका कहना है कि शासको को सोने, चाँदी के बर्तनो मे भोजन नही करना चाहिये क्योकि दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत तो उनको ईश्वर से नित्य ही अपनी आत्मा के भीतर प्राप्त है, अत उनको मर्त्यलोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता नही है तथा उनको पवित्रता की अपनी दैवी सम्पदा के साथ मर्त्यलोक की धातु का मिश्रण कर उसको अवैध बनाना सहन नही होना चाहिये। प्लेटो ने शासको के लिए सोने-चाँदी को हाथ मे लेना अथवा स्पर्श करना या उनके साथ एकत्र एक छत के नीचे रहना या आभूषणो के रूप मे उनको अपने अगो मे धारण करना अथवा सोने-चाँदी के पात्रो का पीने के लिए उपयोग करना अवैध होगा।

प्रथम राजनीतिशास्त्री अरस्तू ने राज्यो मे होने वाली क्रातियो का मूल कारण विषमता बताया। क्राति का मूल उद्देश्य समानता स्थापित करना होता है। अरस्तू क्राति का कारण उस मनोदशा को मानता है जो कि असमानता से उत्पन्न होती है। वह कहता है कि कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत होते हैं। वे यह मानते हुए विद्रोह खडा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगो के समान हैं जो उनसे कही अधिक धन सम्पत्ति पाये हुए हैं तथापि उनको स्वय अन्य लोगो से कम सुविधायें प्राप्त हैं। दूसरे कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है। क्योकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यो से बढकर हैं तथापि उनको अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक कुछ नही मिलता प्रत्युत् या तो दूसरो के बराबर या उनसे भी कम मिलता है। इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिये विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बडे बनने के लिए। यही वह मनोदशा है जिससे क्रातियो की उत्पत्ति होती है।

सुप्रसिद्ध भौतिकवादी विचारक कार्लमार्क्स के समूचे चिन्तन का आधार ही विषमता के स्थान पर समानता की स्थापना करना है। मार्क्स अपने अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विषमता और शोषण पूँजीवादी व्यवस्था की देन हैं, जिसके रहते हुए श्रमिक को कभी न्याय नही मिल सकता। उसने पूँजीवाद को एक सस्था के रूप मे प्रस्तुत किया, एक ऐसी सस्था के रूप मे जो मजदूरी के आधार पर जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो की सख्या मे निरतर वृद्धि करती जाती है और इन व्यक्तियों का अपने सेवानियोजकों से केवल मजदूरी पाने का सम्बन्ध होता है। उनके पास केवल एक ही सामग्री है जिसे वे प्रतियोगिता पूर्ण बाजार मे बेच सकते हैं और वह सामग्री है काम करने की शक्ति। इस सामग्री को खरीदने वालो का एक मात्र दायित्व यह है कि वह चालू कीमत अदा करे। इस प्रकार उद्योग-धधो मे मालिक और मजदूर के बीच जो सम्बन्ध होता है उसमे न तो कोई मानवी अंश रहता है और न नैतिक दायित्व। यह सम्बन्ध विशुद्ध रूप से शक्ति का सम्बन्ध बन जाता है। मार्क्स को यह स्थिति आधुनिक इतिहास का सबसे क्रातिकारी तत्त्व प्रतीत हुई। इसमे एक ओर तो ऐसा वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों पर पूरा स्वामित्व है और जो मुनाफा कमाने मे जुटा हुआ है तथा दूसरी ओर एक शोषित वर्ग है जिसकी क्षमता निरन्तर घटती जाती है और वह काल-चक्र मे पिसता जाता है। मार्क्स के चिन्तन का मूलाधार यही वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त है। उसने उदयोन्मुख सर्वहारा वर्ग के लिए एक ऐसे सामाजिक दर्शन की व्यवस्था की जो एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना की अगुवाई करे। मार्क्स समता का इतना प्रबल पक्षपाती है कि उसने शोषण के औजार राज्य को ही समूल नष्ट करने की बात कही।

व्यावहारिक आदर्शवादी महात्मा गाँधी का सारा चिन्तन समता पर ही आधारित है। आज के इस आर्थिक विपमता के युग मे गाँधीजी का अपरिग्रह का सिद्धान्त बडा ही महत्त्वपूर्ण है। सक्षेप मे, साधारण दैनिक आवश्यकताओ से अधिक भौतिक पदार्थो का सग्रह न करना ही अपरिग्रह अथवा असग्रह है। फिर उस साधारण सग्रह पर भी अपना स्वामित्व न मानकर समाज अथवा ईश्वर का स्वामित्व मानना भी इसके अन्तर्गत शामिल है। गाँधी सभी प्रकार के सग्रह के विरुद्ध है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मे उनकी कोई आस्था नही है। जल, वायु, अग्नि की भाँति सम्पत्ति भी किसी की नही अथवा समान रूप से सबकी है। द्रव्य सचय एक आसुरी विचार है एव इसके सग्रह मे हिंसा का निवास है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता उसके आध्यात्मिक दिवा-लियापन की द्योतक है। आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे धन का न्यूनतम महत्त्व है। शैतान (धन) और देवता दोनो की एक साथ पूजा नही की जा सकती। गाँधीजी समान-वितरण मे विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार भगियो, डॉक्टरो,

वकीलो, अध्यापको, व्यापारियो एव अन्य सभी को समान वेतन मिलना चाहिये ।

[३]

यद्यपि विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का प्रचण्ड प्रसार हुआ है लेकिन उस अनुपात मे नैतिक और आध्यात्मिक गुणो का ह्रास भी हुआ है। विज्ञान ने समूचे विश्व मे घोर विषमता पैदा कर दी है। यह विषमता व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच तथा एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच उत्पन्न हो गई है। विषमता सामाजिक न्याय की शत्रु है। विषम समाज मे अधिक उत्पादन से भी लाभ नही जब तक कि वितरण प्रणाली न्यायोचित नही हो। विषम समाज मे चन्द व्यक्तियो का वर्चस्व सारे समाज पर आच्छादित हो जाता है जिसकी झलक आज के विश्व मे हमे मिलती है। अत. हमारी मूल समस्या का समाधान समता के आधार पर ही हो सकता है और जो सामाजिक दर्शन उस पर ध्यान नही देता, वह न केवल अपूर्ण ही है बल्कि भयानक भी है क्योकि यह न्याय पर आधारित भावी समाज की सरचना की प्रक्रिया मे गतिरोध उत्पन्न करता है।

४०

समता के सामाजिक आयाम

□ मुनि श्री रूपचन्द्र

'पूनिया श्रावक की एक क्षण की सामायिक तुम्हे प्राप्त हो जाय तो नरक के कर्मबंध शिथिल कर उनके दारुण भोग से बच सकते हो ।'

यह अंतिम उपाय था । प्रथम दो उपाय थे रानी चेलना की दासी के हाथो दान दिलवाना, कालशूकरिक कसाई को पाच सौ भैंसो की प्रतिदिन हिंसा के नियत क्रम से एक दिन के लिए विरत करना । दोनो ही नही हो पाये । दान किसी वस्तु के देने मे नही, देने के पीछे खडी करुणा और उदारता की भावना मे है जो रानी चेलना की दासी मे नही थी, अत उससे कराया गया बलात् दान फलप्रद नही था । हिंसा मारने की भावना मे है और वह भावना, अंधकूप मे उसे बंद करके भी, श्रेणिक उससे छुटा नही सका । सकल्प के स्तर पर पाच सौ भैंसो की हिंसा उसने पूरी करली । हर बार गौरवान्वित होकर सम्राट बिम्बिसार भगवान महावीर के समवसरण मे आया लेकिन प्रच्छन्न सत्य को जान कर निरुपाय हो गया ।

भगवान के शब्द उसके कानो तक पहुँच कर कुछ और ही अर्थवत्ता से भर गये जो उसके अपने अर्थसत्ता और राजसत्ता मे सरचित मानस की उपज थी । वह राजसत्ता के प्रयोग मे पूनिया की सामायिक ले सकता था । वह धन देकर उसे खरीद सकता था । पूनिया श्रावक तो सामायिक को जीता था । उसके लिए कही भय और प्रलोभन की सत्ता ही नही थी । न अपनेपन की संकीर्णता अहंता ही । वह सरल था । स्पष्ट था । कोई बलात् ले तो लेने वाला जाने । ले सकता हो तो लेले । धन देना चाहे, कीमत ही चुकाना चाहे तो जो

हो, दे दे। चुका दे। कितनी कीमत हो सकती है, उसे क्या पता ? अर्थ व सत्ता के साथ सामायिक का विनिमय कैसे हो सकता है, उसे कुछ मालूम नही। बात तो अतत महावीर के पास जानी थी और वहा जाने पर श्रेणिक के लिए अतिम रास्ता भी बद हो गया। उस सामायिक के एक क्षण की कीमत श्रेणिक का अपना राज्य तो क्या, ससार का सारा राज्य तथा धन-वैभव भी नही था। सामायिक तो अमूल्य है। उसका मूल्य क्या हो सकता है ? किसी भी प्रकार नही। महावीर तो अत क्राति की बात कह रहे थे। अगर वह सामायिक श्रेणिक के चित्त मे क्षण भर के लिए भी उतर जाती तो नारकीय कर्मो का जाल तत्क्षण जल कर भस्म हो जाता। लेकिन वह उसके लिए न समझना सभव था, न हो पाना ही।

आज हजारो वर्ष बीत जाने के बाद भी यह बात ज्यो की त्यो खडी है। पूर्ण समता का एक क्षण युगो की विषमता के अम्बार को दग्ध कर सकता है। परमाणु शक्ति से भी अनत गुणा तीव्र चेतना की शक्ति का स्फोट है। समाज और जीवन की सारी बुराइयो, बधनो, व्यथाओ और नारकीय वेदनाओ का मूल विषमता ही है और उनसे मुक्ति का स्रोत समता है। भगवान महावीर इस युगान्तरकारी सत्य के महानतम प्रचेता थे। भगवान ने समता को धर्म का पर्याय माना। उनका समता का सिद्धान्त जीवन के सारे क्षेत्रो मे व्यापक है। व्यक्तिगत जीवन मे जहा उन्होने हीनता और उच्चता की ग्रथियो के विमोचन पर बल दिया वहा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र मे भी उन्होंने विषमता को स्पष्टत अस्वीकार किया। उसके विकल्प मे समता की जीवन-व्यवस्था के रूप मे प्ररूपणा की। उसके व्यावहारिक सूत्र दिये जो आज भी उतने ही जीवन्त है जितने महावीर के युग मे थे।

जाति :

सामाजिक विषमता का एक बडा कारण जातिवाद है। हजारो वर्षो से इसने लोकजीवन को शोषित और पीडित किया है। आज भी इसके अवशेष कायम है। कभी-कभी अखबारो मे हरिजनो पर अत्याचारो की घटनाए पढने को मिल ही जाती है जो यह सूचित करती है कि सविधान के धरातल पर समता का अधिकार उन्हे मिलने पर भी सामाजिक जीवन मे वे अभी तक उसी प्रकार विषमता, शोषण एव अन्याय से पीडित रहे है। उच्चवर्गीय समाज धनसत्ता और जनसत्ता का दुरुपयोग कर उनके विद्रोह को सर्वत्र कुचल देता है तथा उन्हे मानवीय अधिकारो से बलात् वचित रखे हुए है।

महावीर ने तो मानव जाति को एक ही माना है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है 'एगा मणुस्स जाई'—सारी मानव जाति एक है। समाज के भेद सारे

विभाजन कर्मों के अनुसार है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब कुछ होता है। यह जोव अनत काल से कभी उच्च और कभी निम्न कुलो मे जन्मता रहा है लेकिन उससे यह न हीन है, न उच्च है। यह तो अपनी सहज स्थिति मे रहता है। यह बात महावीर ने मात्र दार्शनिक स्तर पर नही कही है। उनके जीवन काल मे अनेक तथाकथित अकुलीन जनो ने साधना का पथ अगीकार कर श्रेष्ठतम ऋद्धियो को उपलब्ध किया जिनकी भगवान ने स्वय प्रशसा की जैसे श्वपाक कुल ,मे उत्पन्न मुनि हरिकेशबल, मेतार्य, चित्त-सभूति आदि। उच्चवर्ग को उन्होने श्रेष्ठता ग्रंथि से तथा निम्न वर्ग को हीनता ग्रथि से मुक्त होने की प्रेरणा दी जो उनके जीवन-वृत्तातो तथा वचनो मे सर्वत्र परिलक्षित है।

धन :

विषमता का दूसरा स्रोत धन है। महावीर ने धर्म के क्षेत्र मे धन की अग्रणी सत्ता स्वीकार नही की। उन्होने कहा—'धणेण कि धम्म धुराहिगारे'—धन को धर्म का धुराधिकार कैसे ? प्रमत्त व्यक्ति के लिए धन कभी त्राण नही बन सकता, न इस लोक मे, न परलोक मे—'वित्तेण ताणे न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था'। महावीर के एक गणधर सुधर्मा के जीवन काल मे उस लकडहारे का प्रसग आता है जिसके दीक्षित होने का अवसर आने पर सम्पन्न वर्ग के लोगों ने उसकी निर्धनता का उपहास करते हुए कहा था—वह तो पहले से ही कंगाल है, उसने त्याग क्या किया है ? उसके पास त्याग करने को है ही क्या ? उसके उत्तर मे अभयकुमार ने विपुल धनराशि का अम्बार लगा कर कहा—इसे वही ले सकता है जो मुनिचर्या का पालन करने को तैयार हो। कोई तैयार नही हुआ। त्याग की महिमा प्रतिष्ठित करते हुए इस घटना ने धन को धर्म एव समाज के क्षेत्र मे अतिरिक्त महत्ता देने वालो की आखे खोलने का काम किया।

आज भी समाज मे धन प्रतिष्ठा का आधार बना हुआ है। इसी कारण आर्थिक क्षेत्र मे अनैतिकताए बढती जा रही है। इनका उपचार यही है कि हम धन को नही, चरित्र को सामाजिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठा का आधार-बिन्दु माने।

शोषण ·

धन को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार मानने के कारण ही येनकेन-प्रकारेण उसके उपार्जन का प्रयास किया जाता है जो आर्थिक क्षेत्र मे सम्पन्न वर्ग द्वारा विपन्नो के शोषण का कारण बनता है। महावीर ने इसीलिए सन्निधि-धन या जीवन-साधनो के आवश्यकता से अधिक सचयन को शस्त्र-हिसा माना है। गृहस्थ के लिए उपभोग-परिमाण व्रत तथा इच्छा-परिमाण-व्रत का विधान किया

है ताकि जीवन मे वैभव-विलास तथा आडम्बर के स्थान पर सादगी और मितव्ययता आए। इसी प्रकार अनेक प्रकार के ऐसे व्यवसायो का वर्जन किया है जिनमे मानव तो क्या, पशु-पक्षियो तक का शोषण होता हो। उदाहरणार्थ अतिभारवाहन, भक्त-पान-विच्छेद, वृत्तिच्छेद आदि अतिचार। देश-परिमाण व्रत तथा दिशा-परिमाण व्रत द्वारा दूरस्थ प्रदेशो मे जाकर वहा की अर्थ व्यवस्था को अपने हित के लिए विच्छिन्न करने का वर्जन किया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे यह बात गाधीजी के आर्थिक चितन के साथ मिला कर देखने पर बहुत महत्त्व-पूर्ण लगती है। इसी प्रकार महान् आरम्भ-समारम्भ का वर्जन कर उन्होने जीवन की नीव शोषणरहित, सादगीपूर्ण एव सर्वहितकारी समाज-व्यवस्था पर रखी है। सर्वोदय शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने किया है। उन्होंने महावीर के तीर्थ को सर्वोदय की अभिधा दी है।

राज्य :

राज्य के स्तर पर वही व्यवस्था समतापरक हो सकती है जो सबकी अनुमति तथा इच्छा पर आधारित हो। तानाशाही या कुलीनशाही वह तन्त्र नही बन सकती। उसमे राजसत्ता एक या कुछ लोगो के हाथो मे रहती है। उसे जनसमुदाय अपनी इच्छा से बदल नही सकता। प्रजातन्त्र ही वह राज्य-व्यवस्था है जिसमे राजनीतिक स्तर पर समता को सर्वाधिक अवकाश है। महावीर स्वय गणराज्य व्यवस्था मे जन्मे थे तथा उसके अन्तर्बाह्य से अवगत थे। अत. उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप मे अहमेन्द्र स्वर्ग के परिवेश मे प्रजातन्त्र की रूपरेखा समताप्रधान राजनीतिक व्यवस्था के लिए प्रस्तुत की।

नारी :

नारी-जीवन हजारो वर्षो से बधन और विषमता की क्रूरता का शिकार रहा है। भारत मे ही नही पाश्चात्य देशो मे भी हजारो वर्षो से यही स्थिति चली आ रही है। वैदिक धर्मशास्त्रो ने तो नारी के लिए सन्यास के द्वार बद कर दिये थे। लेकिन महावीर ने नारी को 'सहधर्मचारिणी' का स्थान दिया तथा स्वतत्र रूप से सन्यास तथा साधना का द्वार भी उसके लिए खोला। बुद्ध ने भी सन्यास के लिए नारी वर्ग को अनुमति दी, लेकिन भय और हिचकिचाहट के साथ और यह भय पाच सौ वर्षो के बाद उनकी भविष्यवाणी को साकार करता हुआ-सा, सत्य भी प्रमाणित हुआ। लेकिन महावीर ने चार तीर्थो की स्थापना प्रारम्भ से ही की और उन्हे समान महत्त्व दिया तथा हर महत्त्वपूर्ण कार्य चारो तीर्थो की उपस्थिति तथा साक्षी मे करने की परम्परा डाली जो आज तक कायम है। तथा महावीर की परम्परा मे नारी वर्ग ने साधना के श्रेष्ठतम आदर्श प्रस्तुत किये है। विनोबा ने इस बात के लिए महावीर की अनेक बार सार्वजनिक शब्दो मे प्रशसा की है।

धर्म :

धर्म के क्षेत्र मे भी महावीर ने समता का आदर्श केन्द्र रूप मे रखा। 'समयाधम्म मुदाहरे मुणी'—मुनियों ने समता को ही धर्म कहा है। साधना को महाव्रतों तथा अणुव्रतो के स्तर पर वर्गीकृत करने के बाद भी उन्होने यही कहा कि धर्म न गाव (गार्हस्थ्य) में है, न वन (संन्यास) मे, वह तो आत्मा मे है, उसके साक्षात्कार मे है, उसकी साधना मे है, साधना के प्रति अनन्य समर्पण मे है। यह मतव्य उन्होने बार-बार व्यक्त किया। वेष को उन्होने कभी प्रतिष्ठा नही दी, चारित्र को ही दी। श्रमणो के सदर्भ मे चर्चा करते हुए उन्होने पाप-श्रमण के लक्षण बताए तथा उसे धर्म के क्षेत्र से एकदम बाहर माना। महावीर ने मुक्ति का द्वार अपने आम्नाय तक सीमित नही रखा। दूसरे आम्नाय के व्यक्तियों तथा आम्नायरहित व्यक्तियो के लिए भी उसे खुला रखा। मुक्ति की सभावना उन्होने पुरुषो तक ही सीमित नही रखी, स्त्रियो, यहा तक कि नपुसकों को भी मुक्ति का अधिकार दिया। उन्होने यहां तक कहा कि साधु ही नही, अपितु गृहस्थ भी कैवल्य तथा मुक्ति प्राप्त कर सकते है। कोई-कोई गृहस्थ किसी साधु से भी सयम मे श्रेष्ठ हो सकते हैं, होते रहे है और है भी। जैन परम्परा मे भरत राजर्षि, माता मरुदेवी इस सत्य के साक्षी रहे है।

अपने युग की प्रचलित सामाजिक बुराइयो पर महावीर ने जो प्रहार किया, उसके मूल मे भी समता की ही भावना थी। आज हिसा, विषमता और प्रतिस्पर्धा से आक्रात विश्व के लिए महावीर का समता-सदेश लोकजीवन का आधार तत्त्व है। वह मानव धर्म की स्पष्ट एवं व्यावहारिक रूपरेखा को साकार करता है।

४१
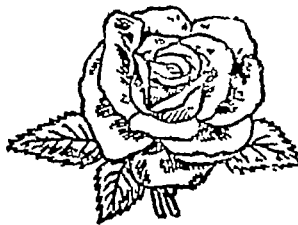
समता एवं सामाजिक सम्बन्ध

☐ डॉ० मदनगोपाल शर्मा

'समता' शब्द अपने आप मे अतीव आकर्षक है। एक ओर हम कहते है कि आज का युग अर्थ, विज्ञान एव राजनीति के विविध क्षेत्रो मे प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, पर आधृत है, स्पर्द्धा अथवा होडा-होडी ही प्रगति का मूल मत्र है, तो दूसरी ओर समता अथवा साम्य की अवधारणा को भी अपना प्रेरक मत्र मानते है और राजनीतिक मतवाद भी साम्य के वाद अर्थात् सिद्धान्त पर स्थापित करते है। समता और स्पर्द्धा की परस्पर विषम एव विसगतिपूर्ण विचारणाओ का एकत्र साहचर्य स्वय मे कम विषम और असगत नही है। शोषित एव प्रवचित के लिए समता काम्य है, इष्ट है, मधुर स्वप्न है, तो शोषक एव प्रवचक के लिए यह सुरक्षात्मक कवच है, सदाशयता का विज्ञापन पट्ट है, रूठे हुए को रिझाने की चीज है। बहरहाल, उद्देश्य, उपयोग, परिकल्पनाएँ और परिभाषाएँ अपनी अलग-अलग है, किन्तु 'समता' शब्द के आकर्षण मात्र मे समता अर्थात् एकरूपता असदिग्ध है।

तो आइए समता के इस सम्मोहन को भेद कर इसकी तात्त्विक वस्तुता और इसके स्वरूप के सुनिश्चित निस्पृह विश्लेषण का प्रयास करें। समता, अर्थात् समानता, अर्थात् एक-स्वरता, एक-रूपता, एक-रसता, एक-प्रतिमानता। इसे ही बढ़ाकर समस्वरता, समरूपता आदि सम-उपसर्गपूर्वक निर्मित शब्दों से अभिहित कर सकते हैं। किन्तु प्रश्न तो वस्तुतः यह है कि समरूपता अथवा समस्थिति किसकी? रूप की अथवा दृष्टि की? बाह्य रूप की अथवा आन्तरिक सौन्दर्य की? व्यवहार की अथवा वृत्ति की? परिस्थिति की अथवा मनःस्थिति की? व्यवस्था की अथवा अवस्था की? स्थूल की अथवा सूक्ष्म की? यह नहीं है कि इन उभय शब्दों में निहित [illegible] निरे द्वन्द्वात्मक हों।

हैं, उनमें सहचारिता और परिपूरकता की प्रवृत्ति भी विद्यमान है, अन्योन्याश्रित तो वे है ही। फिर भी, व्यवहार मे तो द्वन्द्वात्मकता भी है ही और बनी ही रहेगी।

परिस्थिति और मन.स्थिति, अन्तस् और बाह्य, जड और चेतन, एक दूसरे के साधक और पूरक है तथापि, व्यवहार मे प्रमुखता की दृष्टि से इनमें द्वन्द्व भी सनातन है। हम अपनी भेद-दृष्टि से, आग्रह-बुद्धि से, इनमे से किसी एक को प्रमुख और दूसरे को गौण अथवा किसी एक को साधन और दूसरे को साध्य मान लेते हैं। इससे भी आगे बढकर, अपनी अत्याग्रही बुद्धि से, इनमे से किसी एक को साधन एव साध्य दोनो ही के रूप मे स्थापित कर दूसरे की अवमानना कर, उसे सर्वथा निष्कासित ही कर देते है। इसी अत्याग्रही दृष्टि का एक अतिवादी परिणाम था कि प्राच्य जीवन-साधना मे चेतन अर्थात् सूक्ष्म को सर्वस्व मानकर स्थूल अर्थात् जड की पूर्णत· उपेक्षा की गयी तो आधुनिक औद्योगिक सभ्यता मे, चाहे वह पूँजीवादी प्रणाली पर स्थापित हो, चाहे साम्य-वादी प्रणाली पर, स्थूल अर्थात् जड का ही जयनाद हुआ और सूक्ष्म अर्थात् चेतन अवमानित हुआ। इस दृष्टि से इन दोनो ही व्यवस्थाओ मे कोई मौलिक अन्तर नही है।

पूँजीवादी प्रक्रिया मे चेतन क्रीत हुआ, विकृत हुआ, दूषित हुआ, तो साम्यवादी व्यवस्था मे वह दमित हुआ, कुंठित हुआ, दासता को बाध्य हुआ। यह सब इसीलिए हुआ कि स्थूल-सूक्ष्म एव जड-चेतन के इस द्वन्द्व को, जितना वह है, उससे भी अधिक, उभारा गया। जड-चेतन का यह द्वन्द्व चिरन्तन है, नैसर्गिक है। इसी प्रकार विविधता, विषमता, अनेकरूपता भी सहज और सनातन है। कठिनाई तब होती है, जब इनमे समन्वय और सामरस्य स्थापित करने के स्थान पर हम इन्हे शिविर बद्ध कर इनके मल्लयुद्ध को उकसाते है। मानव की भेद-बुद्धि के लिए द्वन्द्व मे उत्तेजन है, आकर्षण है। जो समरसता इतनी काम्य है, वही सचमुच सिद्ध होते ही नीरसता मे परिणत हो जाती है; एकरूपता, अतिशीघ्र ही अरूपता अर्थात् रूपहीनता बनकर रह जाती है। जीवन मे द्वन्द्वात्मक समाहार अथवा समाहारात्मक द्वन्द्व ही वह सूत्र है, जिस पर चलकर अतिवादिताओ और जड़ताओ से बचा जा सकता है।

यही वह कुंजी है, जो हमारे समस्त सामाजिक सम्बन्धो मे वास्तविक समता का सचार कर सकती है। सामाजिक-सम्बन्धो मे विविधता और अनेक-रूपता बनी ही रहेगी। कैसी भी आदर्श समाज-रचना हो, सख्य, स्नेह-वात्सल्य और समादर की त्रिस्तरीयता हमारे सामाजिक सम्बन्धो मे अनिवार्य है। घर मे, भाई-बहिन, भाई-भाई, पति-पत्नी, समधी-समधिन आदि सम्बन्धो मे सख्य की प्रमुखता है तो माता-पिता का सन्तानो के प्रति सम्बन्ध वात्सल्य प्रधान सम्बन्ध

है। सन्तानों के अपने-माता-पिता के प्रति सम्बन्ध में प्रमुख वृत्ति समादर भाव की ही रहेगी। इसी प्रकार राजनीति, सेना, उद्योग-व्यवसाय दफ्तर-कार्यालय इत्यादि कार्य क्षेत्रों मे उगते-फूलते सम्बन्धों मे भी इसी त्रिस्तरीयता को, मात्रा और गुणात्मक अन्तर सहित, परिलक्षित किया जा सकता है। यह त्रिस्तरीयता बाधक नही, साधक है। आयु, अनुभव, सामर्थ्य की दृष्टि से कुछ व्यक्ति मुख्यत प्रदाता की स्थिति मे, कुछ मुख्यत आदाता की स्थिति मे और शेष मुख्यत दाता-आदाता की न्यूनाधिक अद्वय अथवा समस्थिति मे रहेंगे। ये स्थितियाँ अटल और जड नही है, सक्रमणशील और सापेक्ष हैं। आज का आदरकर्त्ता ही कल का आदरास्पद बनता है। आज जो स्नेह का भागी है, कल उसी को स्नेह लुटाना भी होता है। अत सभी को मात्रा और रूप-भेद से इस त्रिस्तरीयता के विविध आयामो मे से सक्रमित होना पडता है। यही जीवन की परिपूर्णता है।

अत आवश्यक यह है हम इस नानास्तरीयता और अनेकरूपता को तोडने और मिटाने के प्रलोभन के चक्कर मे कही भीतर की एकात्मता को नष्ट न कर दे। नानास्तरीयता और अनेकरूपता एक ओर से ज्यो ही नष्ट होती है, त्यो ही दूसरी ओर से दूसरा चेहरा ओढकर फिर प्रकट हो जाती है। यह अनेकरूपता और बहुस्तरीयता रक्त बीज की तरह मिट-मिट कर फिर जीवित हो जाती है और समता इसके लिए लड-मर-कट कर भीतर से और अधिक प्रवचित, हतकाम और हतप्रभ हो जाती है। अत श्रेयस्कर यही है कि हम स्थूल और सूक्ष्म के द्वन्द्व को तूल न दे। इनमे से किसी को भी अपने कधे पर अधिक न लाद फिरे कि कधे ही टूट जाएँ। हम अपनी दृढता, सदाशयता एव प्रज्ञ बुद्धि से इन द्वन्द्वात्मक शक्तियो को पालतू बनाये रखे और इनमे परस्पर ताल-मेल बनाये रखे। यही नीति सच्ची पुरुषार्थ नीति है जो मालिक-मजदूर, अध्यापक-अध्येता, नेता-कार्यकर्त्ता, अधिकारी-कर्मचारी के सम्बन्धो मे ऊपरी वैषम्य को तोडने से भी नही झिझके और साथ ही, आन्तरिक सामञ्जस्य की स्थापना की चुनौती को भी स्वीकार करे। मनुष्य को अपने सम्बन्धो मे बाहर और भीतर, व्यवस्था और अवस्था (या वृत्ति) दोनो ही स्तरो पर समता की स्थापना की चुनौतियाँ झेलनी ही होगी। समता ईर्ष्या की आग नही है, वह स्नेह की फुहार है। वह छीन-झपटने के लिए कुण्ठा ही नही है कर्त्तव्य के लिए आन्तरिक उत्प्रेरणा भी है वह द्वन्द्वात्मकता ही नही है समाहार और समरसता भी है। वह इकहरा नही, सघन मानव सवेदना ही है। मानव-जीवन एक विशाल उद्यान की भाँति है, जिसमे नाना प्रकार के फल-फूलो के पेड-पौधे और लता-गुल्म है। समता का अर्थ इन सबको काट-छाँट कर या घटा-बढाकर समान रूप मे समान कर देना नही है। वह बागवान है। इसके पर्यवेक्षण मे [illegible] विकास की सम्भावना [illegible]। इन सब फल-फूलो और वृक्ष-[illegible] को आवश्यक [illegible] देकर इन्हे [illegible] होने देना तथा इनके विकास मे [illegible]

निराकरण कर सुरक्षा प्रदान करना ही वास्तविक समता है, जिससे उपवन को अपने फल-फूलों की रस-गध से गु जित कर सके । इसी दृष्टि के विकसित और चरितार्थ होने पर वस्तुत· चिर-काम्य समता की सुखद सिद्धि हो सकेगी । इस अद्वय, अविचल बुद्धि से ही हम मत्र द्रष्टा वैदिक ऋषि के स्तर पर समता की भावना से अनुप्राणित हो, उसके स्वरो मे मानव मात्र के लिए यह मगल-कामना कर सकेंगे—

"अज्येष्ठा सो अकनिष्ठा स एते सभ्रान्तरो वा वृधु· सोभगाय ।"
अर्थात् न कोई बडा है, न छोटा है, सभी भाई-भाई है । शुभ भविष्य के लिए सब मिलकर आगे बढे ।
"समानी व आकूति· समाना हृदयानि वः ।
समानस्तु को मनो यथा व सुसहासति ।"
अर्थात् तुम्हारे लक्ष्य तथा तुम्हारी भावनाएँ समान हो । तुम्हारे मन समान हों, ताकि तुम्हारी सगठन-शक्ति विकसित हो ।

तथा—

"समानो मत्रः समिति. समानी समान मन. सह चित्तमेषाम् ।"
अर्थात् तुम्हारी मत्रणा मे, तुम्हारी सभा-समितियो मे तथा तुम्हारे चितन-मनन मे समता और साहचर्य हो ।

४२

समता के आर्थिक आयाम

□ डॉ० सी० एस० बरला

प्रकृति ने मानव मात्र की शरीर-रचना में समभाव का परिचय दिया है। इसके उपरान्त भी विश्व की दो तिहाई जनता गरीबी, अभाव एवं बेरोजगारी से त्रस्त है। भारत में साठ करोड़ लोगों में से चालीस प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें पर्याप्त भोजन, वस्त्र एवं आवास की उपलब्धि नहीं हो पाती। कुल मिलाकर देश में दस करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त ही शोचनीय है।

वितरण इतना विषम है कि समय की गति के साथ-साथ सामान्य तौर पर निर्धन व्यक्ति निर्धन होते जाते है तथा आय एव सम्पत्ति का केन्द्रीकरण धनी व्यक्तियों के पास होता जाता है। अन्य शब्दो मे, सम्पत्ति का स्वामित्व एव आय-प्राप्ति के अवसरो मे इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक मेधावी परन्तु निर्धन युवक जीवन पर्यन्त सुख-सुविधाओ को प्राप्त करने की कल्पना भी नही कर सकता। यह कैसी विडम्बना है कि धन व सम्पत्ति को विश्व के सभी धर्मो मे जड माना गया है, तथापि आवश्यकता, बुद्धि की प्रखरता एव पारस्परिक सौहार्द का हमारे व्यवहार मे कोई महत्त्व नही है।

आय व सम्पत्ति की विषमता क्यों ?

अर्थशास्त्री आय व सम्पत्ति की विषमता के अनेक कारणो का उल्लेख करते हैं। यहाँ हम अत्यत सक्षेप मे इनकी व्याख्या करेगे।

(१) सम्पत्ति के स्वामित्व में विषमता :

विश्व मे साम्यवादी देशो को छोड़कर सर्वत्र सम्पत्ति के स्वामित्व को वैध माना गया है। सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदड सम्पत्ति को ही माना जाता है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति यथासभव सम्पत्ति का सग्रह व सचय करने का यत्न करता है। यह परिग्रह धनी व्यक्ति मे अधिक होने पर वह स्वाभाविक रूप मे और अधिक सम्पत्ति का सचय करने मे सफल हो जाता है जबकि निर्धन व्यक्ति को इसका अवसर नही मिल पाता।

(२) उत्तराधिकार नियम :

सम्पत्ति के सचय की प्रबल आकाक्षा से अभिभूत व्यक्ति येनकेन प्रकारेण अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहेगा। इसमे हमारे उत्तराधिकार के कानून भी पूर्ण सहायता प्रदान करते है। अमरीका मे रॉकफेलर, फोर्ड, मैलन व भारत मे टाटा, बिड़ला आदि परिवार आज इसलिए धनी नही है कि इन्होने स्वय श्रम करके धनोपार्जन किया है। विश्व मे हजारो ऐसे परिवार विद्यमान है जहाँ व्यक्ति को सम्पत्ति व धन विरासत मे मिलता है। वैयक्तिक योग्यताओ एव मेधा-शक्ति का अभाव होने पर भी धनी व्यक्ति की सन्तान धनी ही बनी रहती है।

(३) शिक्षा, प्रशिक्षण एव अवसरों की असमानता :

उत्तराधिकार तो आर्थिक विषमता का प्रमुख कारण है ही, शिक्षा, प्रशिक्षण एव अवसरो की असमानताएँ इसे और भी अधिक गहरा बना देती

है। विश्व भर में अच्छे व महंगे विद्यालयों में प्रशिक्षण एवं शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ एवं अधिकार, केवल धनी माता-पिता की सन्तानों को ही प्राप्त हो पाते हैं। भारत में उच्च प्रशासन हेतु आयोजित परीक्षाओं (आई० ए० एस०, आई० एफ० एस०, पी० सी० एस०, आर० ए० एस०) में अधिकांशतः पब्लिक स्कूलों व अच्छी शिक्षण संस्थाओं के स्नातक ही उत्तीर्ण हो पाते हैं। डॉक्टरी व इन्जीनियरिंग की शिक्षा भी इतनी महंगी है कि एक गरीब मां-बाप की सन्तान के लिए साधारणतया वे अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते। व्यावसायिक जीवन में भी अवसरों की सुलभता केवल धनी व्यक्तियों व उनकी सन्तानों के लिए ही है।

(८) जातिगत विषमता :

यहूदी, मारवाड़ी वैश्य एवं अन्य कुछ ऐसी जातियाँ है जो स्वभावत व्यवसायी वृत्ति अपनाते हैं। परन्तु आज भी विश्व के अनेक देशों में कुछ जातियां खास-तौर पर निर्धन एवं तिरस्कृत रही हैं। कुछ देशों में रंग के आधार पर भेदभाव बरता जाता है, जबकि अन्य समाजों में धर्म के आधार पर समाज के एक वर्ग की उपेक्षा की जाती है।

लेकिन इन सभी कारणों में वंशानुगत आर्थिक विषमता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एक बात और भी है। सामान्य काल में आर्थिक विषमता में अधिक वृद्धि नहीं होती तथा वंशानुगत कारणों से गरीब व अमीर का अन्तर बने रहने की प्रवृत्ति होती है परन्तु जब जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में राष्ट्रीय उत्पादन नहीं बढ़ पाता तथा वस्तुओं के अभाव के कारण मूल्य-स्फीति प्रारम्भ हो जाती है तो कुछ और भी कारण ऐसे बन जाते है जिनसे आर्थिक विषमता त्वरित गति से बढ़ती है तथा गरीब जितनी तेजी से गरीब होते हैं उतनी ही तेजी से धन-सम्पत्ति व आय का केन्द्रीकरण धनी लोगों के पास होता जाता है। ये कारण इस प्रकार हो सकते हैं —

(१) जमाखोरी तथा चोरबाजारी।

(२) करवंचना।

(३) [illegible] अधिक दाम व किराए की वसूली।

(४) मिलावट एवं भ्रष्टाचार आदि।

गुजरा है। देश की जन-संख्या १९५१ व १९७५ के बीच लगभग सत्तर प्रतिशत बढी है जबकि अनिवार्य वस्तुओ का उत्पादन इतना नही बढ पाया । इसके साथ ही सरकार की घाटे की वित्त-व्यवस्था एवं भारी सार्वजनिक व्यय के कारण जन-साधारण के पास मुद्रा की मात्रा बढी । फलत: एक ओर तो वस्तुओ का अभाव बना रहा, दूसरी ओर इनकी माग में वृद्धि होती चली गई ।

यदि ऐसी परिस्थिति में व्यवसायी वर्ग में स्वार्थपूर्ति की भावना न रहकर अपरिग्रह एव जन-साधारण के प्रति सौहार्द का दृष्टिकोण रहता तो सभवत· आर्थिक विषमता मे वृद्धि नही हुई होती; परन्तु जमाखोरी, कालाबाजारी, मिलावट, करो की चोरी, सूदखोरी आदि सभी प्रकार के अनुचित तरीकों का प्रयोग करके उन्होने अपनी सम्पत्ति में वृद्धि करने का यत्न किया ।

मोटे अनुमानो के अनुसार १९६५ व १९७५ के बीच बिडला व टाटा की आर्थिक सत्ता मे क्रमश: तीन गुनी व दो गुनी वृद्धि हुई । अनेक दूसरे व्यावसायिक परिवारो के धन-सम्पत्ति मे इतनी ही या इससे अधिक वृद्धि हुई है, परन्तु ऐसे हजारो अन्य परिवार है जिन पर अभी तक अर्थशास्त्रियो अथवा सरकार का शायद ध्यान नही जा पाया है, परन्तु जिन्होने अन्यायपूर्ण एव अनैतिक तरीको से पिछले दो दशकों मे धन बटोरा है तथा आगे भी जिनके व्यवसाय करने के तरीको मे सुधार आने की सभावना कम ही दिखाई देती है ।

यह भी एक विडम्बना ही है कि जन-सख्या की वृद्धि निर्धन परिवारो मे धनी परिवारो की अपेक्षा अधिक होती रही है । अज्ञान, अशिक्षा या और कोई भी कारण इसके लिए उत्तरदायी रहा हो, इसके परिणाम तो स्पष्ट ही है, गरीब इसके कारण और अधिक गरीब होता गया है ।

सरकारी नीति एवं आर्थिक व्यवहार मे समताभाव की आवश्यकता :

यह ठीक है कि पिछले दो अढाई दशको मे भारत मे ही नही अपितु समूचे विश्व मे सरकार ने ऐसे कार्यक्रमो एवं नीतियो को क्रियान्वित किया है, जिनका उद्देश्य जहाँ एक ओर गरीब वर्ग को बेहतर अवसर, शिक्षा एव सुविधाएँ देना था, जबकि दूसरी ओर अमीर वर्ग पर प्रगतिशील रूप से कर लगाकर उनकी धन-सग्रह की प्रवृत्ति पर अकुश लगाना था । परन्तु वास्तव मे क्या ये नीतियाँ सफल हो सकी ? क्या सरकार गरीब व अमीर के अन्तर को

बढ़ने से रोक पाई ? क्या सरकारी कार्यक्रमों का लाभ वस्तुतः गरीब को मिल सका ? इन सभी का उत्तर है, 'नहीं'।

सरकारी नीतियों व कार्यक्रमों की क्रियान्विति का दायित्व प्रशासनिक अधिकारियों पर होता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अधिकांश प्रशासनिक अधिकारी समाज के सम्पन्न व उच्च वर्ग से आते हैं तथा इनकी वास्तव में गरीब लोगों को लाभ पहुँचाने में कोई आस्था नहीं होती। बहुधा जो राशि निर्धन लोगों के कल्याण हेतु व्यय की जाती है, वह उसी परिमाण में उन तक पहुँच नहीं पाती। गरीब लोगों के साथ प्रशासनिक अधिकारियों का व्यवहार सौहार्दपूर्ण न होकर आदेशात्मक होता है। पक्षपात व अन्याय के शिकार होने पर भी निर्धन व्यक्ति इतना साहस नहीं जुटा पाते कि अधिकारी-वर्गों तक अपनी बात पहुँचा सकें। इन्हीं कारणों से निर्धन व्यक्तियों के लिए अपनाई गई नीतियाँ एक मखौल बनकर रह जाती हैं। दुःख की बात तो यह है कि निर्धन परिवारों से चुनकर जाने वाले प्रशासनिक अधिकारी भी गरीबों के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाते। यह स्वाभाविक है कि जब उच्च अधिकारी एवं मन्त्रीगण सच्चे अर्थों में निर्धन व्यक्ति की सहायता नहीं करते (यद्यपि गोष्ठियों, प्रतिवेदनों, विधान सभाओं व संसद् में इसकी चर्चा काफी करते हैं) तो फिर नीचे के स्तर पर बैठे कर्मचारियों से गरीब के प्रति सहानुभूति की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा।

इसके विपरीत धनी व्यक्तियों को लाइसेंस प्राप्त करने या अपना 'काम निकलवाने' में कोई असुविधा नहीं होती। लाभप्रद व्यवसाय के लिए धनी व्यक्ति को जहाँ पूँजी की सुलभता का लाभ प्राप्त है, वहीं उसे प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों की सहानुभूति भी मिली हुई है। परिणाम यह होता है कि सरकार आर्थिक विषमता को कम करने हेतु नीतियों की घोषणा करती है परन्तु वास्तव में इन नीतियों की जिस रूप में क्रियान्विति होती है, उससे इस उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं हो सकती।

व्यापार सचालन एवम् कर-वचना जहाँ अल्पकाल मे निर्धन व्यक्तियो के अधिकारो के हनन एवम् हमारे लिए धनोपार्जन को सुलभ बनाते है, वही समाज मे ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न कर देते है जो हमारे लिए भी दीर्घकाल मे आत्म घाती हो सकती है ।

हमे यह नही भूलना चाहिए कि निर्धन लोगो की सख्या धनी व्यक्तियो की तुलना मे कई गुनी है । वे अकिचन एवम् अभावग्रस्त है और शायद इसलिए धनिक वर्ग के प्रति उनका विद्रोह आज दबा हुआ है । परन्तु रूस व चीन की क्रान्तियाँ हमारे लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करती है । इसके पहले कि निर्धन व्यक्तियो का आक्रोश ज्वालामुखी बनकर विस्फोट करे, यह हम सभी के हित मे है कि व्यावसायिक एवम् प्रशासनिक क्षेत्रो मे सलग्न सभी लोग उनके प्रति समभाव जागृत करे तथा उनके प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ करे ।

४३
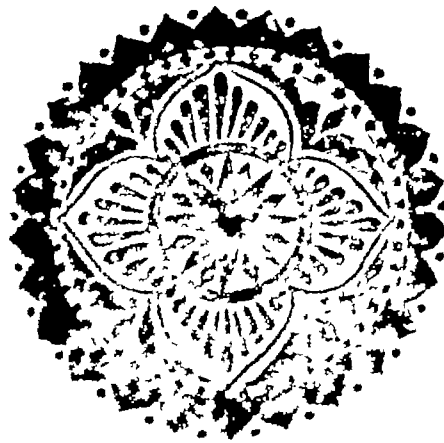
समता-समाज रचना में शिक्षा की भूमिका

□ श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल

बनी रहती है जिससे उनके जीवन मे कोई विशेष अन्तर नही आता। जैसी वे जातिया सैकड़ो वर्षो पूर्व थी, आज भी वही है। वास्तव मे सामाजिक जीवन की निरन्तरता मे वाछित परिवर्तन लाकर उसे प्रगतिशील बनाये रखना शिक्षा की व्यापकता है।

शिक्षा . नैतिक चेतना की वाहक :

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री ब्राउन के मतानुसार 'शिक्षा एक जागरूक नियत्रित प्रक्रिया है जो व्यक्ति के व्यवहार मे परिवर्तन लाती है और फिर व्यक्ति के द्वारा समाज मे परिवर्तन आता है।' शिक्षा का सम्बन्ध मात्र ज्ञान से नही है, उसका सही प्रतिफल तो समाजोपयोगी शिष्टाचरण है। इस प्रकार शिक्षा बुद्धि-पक्ष के साथ-साथ भाव पक्ष पर भी बल देती है। शिक्षा मानव मे मानवीय सवेदनाओ को सचेत कर नैतिक चेतना लाती है। यदि शिक्षा व्यक्ति मे ज्ञान, रुचि, आदर्श, आदत तथा उसकी प्रतिभा को विकसित करने मे असमर्थ है तो वह सच्चे अर्थ मे शिक्षा नही कहला सकती।

शिक्षा : व्यक्ति, वातावरण और समाज का विकासशील सामंजस्य :

शाब्दिक अर्थ मे शिक्षा एक द्विमुखी क्रिया है जिसमे, सीखना, सिखाना व शिष्य-गुरु की परम्परा सन्निहित है। दोनो का सक्रिय होना, अनिवार्य आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के जीवन मे सम्पर्क, अनुभव और वातावरण का भी प्रभाव पडता है। अनुकरण और अभ्यास से भी अनेक बाते सीखी जाती हैं। भावात्मक, एकता सहानुभूति, सहयोग और करुणा जैसे सद्गुण पारिवारिक या सामाजिक जीवन मे ही विकसित हो सकते हैं। जन सम्पर्क से व्यक्ति मे सामाजिकता आती है। व्यक्ति अपने तथा दूसरो के अनुभवो से अनेक बाते सीखता है। वातावरण और परम्पराये भी व्यक्ति को प्रभावित करती है। इस प्रकार जीवन मे आने वाले समस्त परिवर्तन अपने व्यापक अर्थ मे शिक्षा की देन है। इस अर्थ मे जीवन ही शिक्षा है और मानव का सम्पूर्ण जीवन शिक्षा का काल है। शिक्षा वास्तव मे एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य मे नैतिक चरित्र और मुक्त विचार उत्पन्न कर उसकी रुचि और प्रतिभा के अनुसार उसके समाजोपयोगी चरम विकास मे सहायक होती है। मानव स्वय विकासशील है। वह स्वचालित है। प्रारम्भ मे वह अपूर्ण है। वह पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। उसमे अनेक रुचिया, प्रतिभाएँ, क्षमताए और शक्तिया छिपी हुई है। उन क्षमताओ और शक्तियो को जागृत करना शिक्षा है। मानव मे वातावरण और बाह्य परिस्थितियो से सामजस्य स्थापित करने की अद्भुत क्षमताए है। इस प्रकार कहना होगा कि शिक्षा व्यक्ति, वातावरण और समाज का विकासशील सामंजस्य है।

शिक्षा की प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप :

शिक्षा की प्रक्रिया के अनेक स्वरूप हो सकते है। एक सभ्य और उन्नत

जा सकता है।

शिक्षा विभिन्न विश्वासो, मतवादों तथा विचारो के बीच एक समन्वयात्मक परिस्थिति उत्पन्न करती है। सामाजिक हित को व्यक्तिगत हित से बढकर समझना, प्रत्येक मत व विचार को धैर्यपूर्वक सुनना, विरोधी विचारो और मतवादो का सम्मान करना, दूसरे की भावनाओ को ठेस न पहुँचाना तथा अपना मत निर्भीक होकर प्रस्तुत करना ऐसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण है जो शिक्षा द्वारा लाये जा सकते है। विभिन्न परिवारो और परम्पराओ मे पले व्यक्तियो को अन्धविश्वासो और रूढियो से ऊपर उठाकर समाज के प्रति चिन्तनशील बनाना और उनमे सद्भाव उत्पन्न करना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

समता-समाज की रचना :

इस प्रकार से परिमार्जित व्यक्ति ही समता-समाज का रचयिता बन सकेगा। वह 'स्व' को प्रकाशित करेगा, स्वय ऊचा उठेगा और समाज को ऊचा उठावेगा। यह सच है कि आसक्ति से राग और द्वेष का जन्म होता है। राग आकर्षण और द्वेष विकर्षण पैदा करता है। स्व-पर, अपना-पराया, राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण के कारण ही जीवन मे सदा सघर्ष अथवा द्वन्द्व की स्थिति बनती है और उससे क्षोभ, प्रतिकार करने को मानव उतारू हो जाता है। सतुलन खो देना ही विषमता को आमन्त्रित करना है। उत्तेजना अथवा सवेगो से प्रभावित होकर मानव स्वाभाविक समता से कोसो दूर हो जाता है और विषमता के कीचड मे अवगाहन करने लगता है जिससे स्वय गदा बनता है और आस-पास को भी गन्दा बना देता है।

अत. वास्तविक शिक्षा इस सबके परिष्कार के लिए एक बहुत बडी भूमिका का कार्य सम्पन्न कर सकती है। समता-समाज की रचना मे शिक्षा की भूमिका का महत्त्व यही है।

४४

समता-समाज-रचना में साहित्य की भूमिका

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत

साहित्य की रचना-प्रक्रिया मे साहित्यकार योगी अथवा साधक की भाति ही तटस्थ, निरपेक्ष और सासारिक वासनाओ से उपरत हो जाता है। इस मनः-स्थिति मे जो साहित्य रचा जाता है, उसका आस्वाद न सुखात्मक होता है न दुखात्मक। आचार्यों ने इसे आनन्द की सज्ञा दी है। इस दशा मे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भाव तिरोहित हो जाते है। भय, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या जैसे दुखात्मक और लोभ, प्रेम, उत्साह, जैसे सुखात्मक भाव अपने उत्तेजक रूप को छोड़कर समरसता मे परिणत हो जाते हैं। विज्ञान की शब्दावली मे यदि कहें तो यह वह स्थिति है जिसमे ताप (Heat) प्रकाश (Light) मे रूपान्तरित होता है। इस मनोदशा मे शत्रु, शत्रु नही रहता। सारे द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं, और मनकी वृत्तिया भीतर के तारो से इस प्रकार जुड़ जाती है, कि सारे विभाव और विकार शान्त हो जाते है। इस मानसिक एकाग्रता और वृत्ति-सयमन में सार्वजनीन भाव का ऐसा विकास होता है जिसमे विशेषीकृत व्यक्तित्व साधारण बन जाता है। साधारणीकरण की यह प्रक्रिया समत्व दर्शन की निकटवर्ती प्रक्रिया है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों की दृष्टि भावो के उदात्तीकरण की इस रस-दशा तक नही पहुँची है। यही कारण है कि वहा साहित्य मे शान्ति की अपेक्षा सघर्ष को, सुखात भाव की अपेक्षा दुखान्त भाव को और नायक के मगल की अपेक्षा उसके सत्रास और मरण को मुख्यता दी गई है। पर भारतीय दृष्टि इससे भिन्न रही है। यहा नायक के जीवन मे सघर्ष आता है, कठिनाइया आती है, पर वह अपने पुरुषार्थ के बलपर धैर्य पूर्वक उन पर विजय प्राप्त करता हुआ अन्त मे मगल को प्राप्त करता है। वह मरता नही वरन् मृतको को भी जीवन प्रदान करता है। उसकी आस्था, युद्ध, हिंसा और रक्तपात मे न होकर, आत्म-सयम, अहिंसा और करुणा मे है। वह केवल युद्धवीर नही है, वह धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी है। धैर्य और साहस का धनी होने के कारण उसे धीरोदात्त कहा गया है।

साहित्य मे सवेदना के स्तर पर समता का जो स्वर उभरता है वह केवल मनुष्य समुदाय तक सीमित नही रहता। उसकी परिधि मे मनुष्येतर जीवधारी सभी प्राणी और प्रकृति के नाना तत्त्व भी समाहित होते है। समष्टि रूप मे आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का ऐक्य साहित्य मे अनुभूत होता है। साहित्य मे लिंग, जाति, वर्ण, धर्म, मत, सम्प्रदाय आदि के भेद समाप्त हो जाते है। वहा मर्द केवल मर्द नही रहता और स्त्री केवल स्त्री नही रहती। आत्मीयता का इतना विस्तार हो जाता है और सम्बन्धपरकता की भाव-भूमि इतनी व्यापक हो जाती है कि उसमे समस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। यहा नारी वासना की नहीं साधना की, भोग की नही त्याग की और दुर्बलता की नही शक्ति की प्रतीक बनकर आती है। पत्नीत्व के रूप मे वह पश्चिमी साहित्य की भाति केवल वाइफ

(Wife) के दायरे में सीमित नहीं है। रमणी, दारा, भार्या, देवी और प्रियतमा रूप में उसे नानाविध सामाजिक और पारिवारिक रिश्ते भी निभाने होते हैं। इन सभी रूपों में उसकी उत्कटता समाज को स्नेह-सूत्र में बांधती है।

साहित्य में पशु-पक्षियों का चरित्र और व्यवहार इस प्रकार चित्रित होता है कि उनसे उन गुणों को विकसित करने की प्रेरणा मिलती है जिनका होना सभ्यता-समाज के लिये आवश्यक होता है। ये गुण हैं—सहकार, सहयोग, प्रेम, मैत्री, कर्तव्यपरायणता, उद्यमशीलता, परिश्रम, आत्मनिर्भरता, स्वतन्त्रता, अहिंसावृत्ति, आत्म-संयम आदि। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के दो प्रसंग हमारे इस कथन के प्रमाण हैं। एक प्रसंग उस समय का है जब शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम से विदा लेती है तो मृगशावक उसका वस्त्र पीछे से अपने मुंह में पकड़ लेता है। मानव और पशु के परस्पर प्रेम का यह कितना आत्मीयतापूर्ण सात्विक और हृदय-निःस्वार्थ अनुभव है।

दूसरा प्रसंग मृग के सींग पर मृगी की बाईं आंख के खुजलाने का है। इस प्रसंग के माध्यम से कालिदास ने मृग के सदय और मृगी के निर्भीक प्रेम भाव को व्यक्त किया है। मृगी का हृदय आश्वस्त है कि उसके प्रिय के सींग से उसकी आंख को किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। इस प्रकार के अनेकानेक प्रसंग संस्कृत और हिन्दी साहित्य के विशाल फलक पर चित्रित हैं। सभ्यता-समाज-रचना में इन प्रसंगों से उद्बोधन और प्रेरणा मिल सकती है।

भी शायद यही लक्ष्य है। इस विन्दु पर आकर समाज और साहित्य दोनो का लक्ष्य एक हो जाता है और दोनो एक दूसरे के सम्पूरक वन जाते है। इस संदर्भ में साहित्य एक ओर समाज का दर्पण वनकर उसकी सवलताओ और दुर्वलताओं का यथार्थ चित्रण करता है, वुराइयो के प्रति वितृष्णा पैदा करता है और अच्छाइयो के प्रति रुचि जागृत करता है। दूसरी ओर साहित्य समाज के लिये दीपक के रूप में मार्गदर्शक वनता है। इस रूप मे साहित्यकार केवल इस वात से सन्तुष्ट नही रहता कि 'हम कैसे है'—इसका चित्रण भर कर दिया जाय, वल्कि 'हमे कैसे होना चाहिए' इस आदर्श को भी वह रूपायित करना चाहता है। इन दोनो के युगपत चित्रण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की सज्ञा दी गई है। समता-समाज-रचना मे साहित्यकार की यही दृष्टि उपादेय है।

पर दु ख इस वात का है कि आज का साहित्य पश्चिमी प्रभाव के कारण जीवन को पुरुषार्थ साधन के रूप मे न देख कर समस्याओं के रूप मे देखने लगा है। फलस्वरूप सृजना के स्थान पर अनुकरण और सस्कारशीलता के स्थान पर वृत्तियो को उभारने की व्यावसायिकता पनप रही है। भीतर की शक्तियों को सगठित करने के वजाय आज का तथाकथित सस्ता मनोरजनात्मक साहित्य उन्हे बिखेरने मे लगा है। फलतः भराव के स्थान पर विखराव, आस्था के स्थान पर निराशा, समता के स्थान पर विषमता और शान्ति के स्थान पर सघर्ष घर कर रहा है। साहित्य की इस प्रवृत्ति को रोकना होगा और इसके स्थान पर लोकहितवाही, सस्कारशील, जीवनोत्कर्षकारी साहित्यनिर्माण को वढावा देना होगा। यह तो नही कहा जा सकता कि ऐसे सत्साहित्य के निर्माण की गति रुक गई है पर यह अवश्य है कि ऐसा साहित्य आम आदमी तक पहुँच नही पा रहा है। ऐसे साहित्य को बोधगम्य और लोक सुलभ बनाने के हमारे प्रयत्नो मे ही समता-समाज-रचना मे साहित्य की भूमिका की सफलता-असफलता निर्भर है।

४५
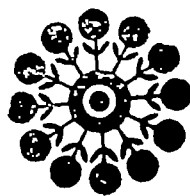
प्राकृत साहित्य में समता का स्वर

□ डॉ० प्रेमसुमन जैन

प्राकृत साहित्य कई दृष्टियो से सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे समता का पोषक है। इस साहित्य की आधारशिला ही समता है, क्योकि भाषागत, पात्रगत एव चिन्तन के धरातल पर समत्वबोध के अनेक उदाहरण प्राकृत साहित्य मे उपलब्ध हैं।

जन-भाषाओ का सम्मान ·

भारतीय साहित्य के इतिहास मे प्रारम्भ से ही सस्कृत भाषा को अधिक महत्त्व मिलता रहा है। सस्कृत की प्रधानता के कारण जन-सामान्य की भाषाओ को प्रारम्भ मे वह स्थान नही मिल पाया, जिसकी वे अधिकारिणी थी। अत साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे भाषागत विषमता ने कई विषमताओ को जन्म दिया है। प्रबुद्ध और लोक-मानस के बीच एक अन्तराल बनता जा रहा था। प्राकृत साहित्य के मनीषियो ने प्राकृत भाषा को साहित्य और चिन्तन के धरातल पर सस्कृत के समान प्रतिष्ठा प्रदान की। इसमे भाषागत समानता का सूत्रपात हुआ और सस्कृत तथा प्राकृत, समानान्तर रूप से भारतीय साहित्य और आध्यात्म की सवाहक बनी।

प्राकृत साहित्य का क्षेत्र विस्तृत है। पालि, अर्धमागधी, अपभ्रश आदि विभिन्न विकास की दशाओ से गुजरते हुए प्राकृत साहित्य पुष्ट हुआ है। प्राकृत भाषा के साहित्य मे देश की उन सभी जन-बोलियो का प्रतिनिधित्व हुआ है, जो अपने-अपने समय मे प्रभावशाली थी। अत प्रदेशगत एव जातिगत सीमाओ

को तोड़कर प्राकृत साहित्य ने पूर्व से मागधी, उत्तर से शौरसेनी, पश्चिम से पैचाशी, दक्षिण से महाराष्ट्री आदि प्राकृतो को सहर्ष स्वीकार किया है। किसी भी साहित्य मे भाषा की यह विविधता उसके समत्वबोध की ही द्योतक कही जायेगी।

शब्दगत-समता :

भाषागत ही नही, अपितु शब्दगत समानता को भी प्राकृत साहित्य मे पर्याप्त स्थान मिला है। केवल विभिन्न प्राकृतों के शब्द ही प्राकृत साहित्य मे प्रयुक्त नही हुए है, अपितु लोक मे प्रचलित उन देशज शब्दो की भी प्राकृत साहित्य मे भरमार है, जो आज एक शब्द–सम्पदा के रूप मे विद्वानो का ध्यान आकर्षित करते है। दक्षिण भारत की भाषाओ मे कन्नड़, तमिल आदि के अनेक शब्द प्राकृत साहित्य मे प्रयुक्त हुए है। सस्कृत के कई शब्दो का प्राकृतीकरण कर उन्हे अपनाया गया है। अतः प्राकृत साहित्य मे शब्दो मे यह विपमता स्वीकार नही की गयी है कि कुछ विशिष्ट शब्द उच्च श्रेणी के है, कुछ निम्न श्रेणी के, कुछ ही शब्द परमार्थ का ज्ञान करा सकते है कुछ नही। इत्यादि।

शिष्ट और लोक का समन्वय :

प्राकृत साहित्य कथावस्तु और पात्र-चित्रण की दृष्टि से भी समता का पोषक है। इस साहित्य की विषय वस्तु मे जितनी विविधता है, उतनी और कही उपलब्ध नही है। सस्कृत मे वैदिक साहित्य की विषय वस्तु का एक निश्चित स्वरूप है। लौकिक सस्कृत साहित्य के ग्रन्थो मे आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधित्व का ही प्राधान्य है। महाभारत इसका अपवाद है, जिसमे लोक और शिष्ट दोनो वर्गों के जीवन की झाकियाँ है। किन्तु आगे चलकर सस्कृत मे ऐसी रचनाएँ नही लिखी गयी। राजकीय जीवन और सुख-समृद्धि के वर्णक ही इस साहित्य को भरते रहे, कुछ अपवादो को छोडकर।

प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास विषमता से समता की ओर प्रवाहित हुआ है। उसमे राजाओ की कथाएँ है तो लकडहारो और छोटे-छोटे कर्म शिल्पियो की भी। बुद्धिमानो के ज्ञान की महिमा का प्रदर्शन है, तो भोले अज्ञानी पात्रों की सरल भगिमाएँ भी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय जाति के पात्र कथाओ के नायक है तो शूद्र और वैश्य जाति के साहसी युवको की गौरवगाथा भी इस साहित्य मे वर्णित है। ऐसा समन्वय प्राकृत के किसी भी ग्रन्थ मे देखा जा सकता है। 'कुवलयमालाकहा' और 'समराइच्चकहा' इस प्रकार की प्रतिनिधि रचनाएँ है। नारी और पुरुष पात्रो का विकास भी किसी विषमता से आक्रान्त नही है। इस साहित्य मे अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध है जिनमे पुत्र और पुत्रियो

के बीच कोई दीवार नही खड़ी की गयी है। बेटी और बहू को समानता का दर्जा प्राप्त रहा है। अत सामाजिक पक्ष के जितने भी दृश्य प्राकृत साहित्य मे उपस्थित किये है, उनमे निरन्तर यह आदर्श सामने रखा गया है कि समाज मे समता का उत्कर्ष हो एव विषमता की दीवारे तिरोहित हो।

प्राणीमात्र की समता :

आध्यात्मिक क्षेत्र मे समता के विकास के लिए प्राकृत साहित्य का अपूर्व योगदान है। प्राणीमात्र को समता की दृष्टि से देखने के लिए समस्त आत्माओ के स्वरूप को एक माना गया है। देहगत विषमता कोई अर्थ नही रखती है यदि जीवगत समानता की दिशा मे चिन्तन करने लग जाएँ। सब जीव समान है, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत साहित्य मे अनेक उदाहरण दिये गये है। परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं। ज्ञान की शक्ति सब जीवो मे समान है, जिसे जीव अपने प्रयत्नो से विकसित करता है। शारीरिक विषमता पुद्‌गलो की बनावट के कारण है। जीव अपौद्‌गलिक है, अत. सब जीव समान है। देह और जीव मे भेद-दर्शन की दृष्टि को विकसित कर इस साहित्य ने वैषम्य की समस्या को गहरायी से समाधित किया है। 'परमात्म-प्रकाश' मे कहा गया है कि जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवो में भेद करता है, वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जीव का लक्षण नही मानता। यथा—

देहविभेइय जो कुणइ जीवह भेउ विचित्तु।
सो ण विलक्खणु मुणइ तह दसणु-णाणु-चरित्तु ।।१०२।।

अभय से समत्व :

विषमता की जननी मूल रूप से भय है। अपने शरीर, परिवार, धन आदि सबकी रक्षा के लिए ही व्यक्ति औरो की अपेक्षा अपनी अधिक सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और धीरे-धीरे विषमता की खाई बढती जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही 'सूत्रकृताग' में कहा गया है कि समता उसी के होती है जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है—

सामाइयमाहु तस्सज जो अप्पाण भएण दसए।
१-२-२-१७

अत अभय से समता का सूत्र प्राकृत ग्रन्थो ने हमें दिया है। वस्तुत जब तक हम अपने को भयमुक्त नही करेंगे तब तक दूसरो को समानता का दर्जा नही दे सकते। अत: आत्मा के स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से ऊपर उठना ही अभय मे जीना है, समता की स्वीकृति है।

विषमता की जननी व्यक्ति का अहकार भी है। पदार्थो की अज्ञानता से अहंकार का जन्म होता है। हम मान मे प्रसन्न और अपमान मे क्रोधित होने लगते हैं और हमारा ससार दो खेमो मे बट जाता है। प्रिय और अप्रिय की टोलियाँ बन जाती है। प्राकृत के ग्रन्थ यही हमे सावधान करते है। 'दशवैकालिक' का सूत्र है कि जो वन्दना न करे, उस पर कोप मत करो और वन्दना करने पर उत्कर्ष (घमड) मे मत आओ—

जे न वन्दे न से कुप्पे वन्दिओ न समुक्क से।

५-२-३०

तो तुम समता धारण कर सकते हो।

अप्रतिबद्धता : समता

समता के विकास मे एक बाधा यह बहुत आती है कि व्यक्ति स्वय को दूसरों का प्रिय अथवा अप्रिय करने वाला समझने लगता है। जिसे वह ममत्व की दृष्टि से देखता है उसे सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है और जिसके प्रति उसे द्वेष पैदा हो गया है, उसका वह अनिष्ट करना चाहता है। प्राकृत साहित्य मे इस स्थिति से बहुत सतर्क रहने को कहा गया है। किसी भी स्थिति या व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता समता का हनन करती है अतः 'भगवती आराधना' मे कहा गया है कि सब वस्तुओ से जो अप्रतिबद्ध है (ममत्वहीन) वही सब जगह समता को प्राप्त करता है—

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभाव।

(भ० आ० १६८३)

समता सर्वोपरि :

समता की साधना को प्राकृत भाषा के मनीषियो ने ऊँचा स्थान प्रदान किया है। अभय की बात कहकर उन्होंने परिग्रह-संग्रह से मुक्ति का सकेत दिया है। भयातुर व्यक्ति ही अधिक परिग्रह करता है। अतः वस्तुओं के प्रति ममत्व के त्याग पर उन्होने बल दिया है, किन्तु समता के लिए सरलता का जीवन जीना बहुत आवश्यक बतलाया गया है। बनावटीपन से समता नही आयेगी, चाहे वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे हो। यदि समता नही है, तो तपस्या करना, शास्त्रो का अध्ययन करना, मौन रखना आदि सब व्यर्थ है—

किं काहदि वणवासो कामक्लेसो विचित्त उववासो।
अज्झय मोणयहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥

(नियमसार० १२४)

प्राकृत साहित्य मे सामायिक की बहुत प्रतिष्ठा है। सामायिक का मुख्य लक्षण ही समता है। मन की स्थिरता की साधना समभाव से ही होती है। त्रण-कचन, शत्रु-मित्र, आदि विषमताओ मे आसक्ति रहित होकर उचित प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। यही समभाव–सामायिक का तात्पर्य है। यथा—

समभावो सामाइय तण-कचण सत्तु-मित्त विसउत्ति।
णिरभिसगचित्त उचिय पवित्तिप्पयहाण च ॥

इस तरह प्राकृत साहित्य मे समता का स्वर कई क्षेत्रो मे गुजित हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि उसका वर्तमान जीवन मे व्यवहार हो। आज की विकट समस्याओ से जूझने के लिए समता-दर्शन का व्यापक उपयोग किया जाना अनिवार्य हो गया है।

४६
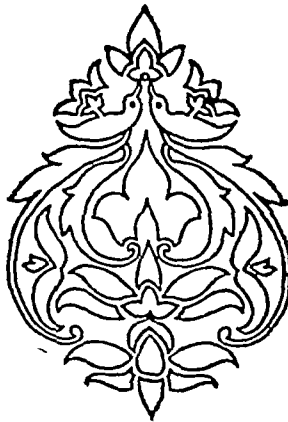
लोक-साहित्य में समता-समाज की गूंज

□ डॉ० महेन्द्र भानावत

मन मे समता धारना और समता रखना वडा मुश्किल है। यही मुश्किल विषमता का कारण है। अनपढो की बात छोड दे, मैने तो कई पढे-लिखे, सभ्य-सुसस्कृत कहे जाने वाले परिवारो मे भी रात-दिन की होनेवाली चिक्-चिक् सुनी है, और कई बार जब उसकी तह मे जाने का प्रयत्न किया तो हाथ कुछ नही आया। कोई खमस खाने को तैयार नही तो समता कहाँ से आयेगी ? यदि समता नही है तो शाति भी नही है, और जहाँ ये नही है वहाँ अच्छा कुछ नही है। समता को मैं सुख, समृद्धि और शाति का 'पाया' समझता हूँ। आप जितने समतावान है उतने ही सुखी है। आपका जीवन शातिमय है और आप समृद्ध है। जो केवल पैसे से अपनी समृद्धि आकता है वह तन से तरा-तृप्त है पर मन से उतना ही रिक्त है। इसलिये यदि मन हमारा भरेगा नही तो भरा हुआ तन भी बोझिल लगेगा।

यदि हमे समता चाहिये तो अपने आपको मन से जोडना होगा। तन से जुडा व्यक्ति तिनका हो सकता है जो किसी को जन्म नही दे सकता अपितु जो स्वय ही अर्थहीन मरण होता है पर मन से जुडा व्यक्ति उस 'कलम' की तरह है जिसे लगाने पर पौधा तैयार होता है। सुख-दु ख तो मन का है। मन को मनाइये। मन यदि मान गया तो फिर रगडा कुछ नही रहा। बच्चा बारवास जाता है तो माँ भलावण देती है—तेरा मन माने सो करना, क्योकि वह जानती है कि मन हमेशा सही होता है। उसे जो सही सुन-समझ लेता है, वह कही भी

भटकता नही है। इसलिये वह बच्चे का ध्यान मन पर केन्द्रित करती है। मन चगा है तो हमारे आगन मे गगा है। मन चगा नही है तो गगा भी गोते जैसी लगती है।

सुखी परिवार और सुखी समाज का समता एक बीज-मत्र है। सबके साथ समभाव और सम दृष्टि हो, बराबरी की भावना हो, यही सफल जीवन का मूल मत्र है पर ऐसा होता नही है। जहाँ नही होता है वहाँ विसगति और विच्छृ खलता है, वहाँ परिवार टूटा हुआ है। यह टूटन एक प्रकार की मारक घुटन पैदा करती है। कई आत्महत्याएँ इसी कारण होती हैं। अधिकतर लडाई-झगड़ो का मूल भी यही मिलेगा।

लोक-साहित्य, लोक-सस्कृति और लोक-कलाओ से जुडी जितनी भी विधाएँ है उन सब मे समता भाव ही प्रमुख रूप से उभरा हुआ मिलता है। वहाँ कोई भेदभाव नही है। ऊँच-नीच की वहाँ ऊँचाई-नीचाई नही है। वहाँ ऊँचे कहे जानेवाले को ऊँचा फल नही मिलता। उसके लिये भी प्रतिष्ठा-पूजा-अर्चना का वही विधान है जो दूसरो के लिये है। यह लोक-भूमि ऊँच-नीच और समृद्धि-ऐश्वर्य के भेदभावो से सदैव ऊपर रही है। यहाँ सब समान है। जितने भी वार-त्यौहार-व्रत कथाएँ और अनुष्ठान है उन्हे मनाने-पूरने के सभी बराबर हक रखते है और फल तथा कामना के भी सब समान भागी हैं। मैंने भील, भगी, धोबी, राजपूत, गोछा, बलाई, तबोली, ब्राह्मण, बनिया सभी जाति की लड़कियो मे साझी के अकन मडते देखे है। एक से गीत, एक से अनुष्ठान। कितनी समता-समानता है इनमे! इस भाव का जितना विस्तारा होगा, उतना ही सुख बढेगा और दु ख घटेगा।

पहले जैसा भरापूरा परिवार अब कहाँ रहा? मेरी दृष्टि मे अब कोई विरला ही हो जो वैसे परिवार मे सुख शातिपूर्वक रह सके। यदि उसी तरह का परिवार हो तो प्रतिदिन ही भारत–महाभारत स्मरण हो आये। परन्तु पहले कितनी विशाल भावनाये थी। सबके सब साथ रहते थे पर कही तीसरा कान नही सुन पाता था कि कोई अठीक घटना घटी हो। आज छोटे-छोटे परिवारो मे भी मुश्किल से ठीक घटनाये घट पाती है। लोक-साहित्य मे बारह परिवारो का उल्लेख आता है। व्यक्ति स्वय अपना, अपने परिवार का ही तालाकु ची सनद नही रखना चाहता था वह अपने बारहो परिवार की कुशलक्षेम और कल्याण मगल चाहता था। यह बारह परिवार मिलकर एक अच्छा-खासा परिवार कहलाता था। यह परिवार था—भाई, भतीजा, बेटा, पोता, बहिन, भाणेज, बेटी, दोइता, माम, ससुर, साला और साली का। समता का इनसे बढकर अच्छा पारिवारिक उदाहरण और क्या मिल सकेगा?

लोक-गीतो में वर्णन आता है कि ऐसा भरापूरा परिवार बडा आनददायी है। इसमे रहने वाले बडे मौजी हैं। बहू इस परिवार की धुरी होती है। यह सही भी है। बहू यदि उस परिवार मे सुखी है तब ही तो वह परिवार अच्छा कहलायेगा। पराई जाई जिसे पराया न समझे, जिसे वहाँ परायापन महसूस न हो, सब अपना ही अपना लगे, उसी परिवार का समभाव सराहनीय है। गीत मे वहू कहती है—हमारे घर मे मौज लगी हुई है। देवर भेडो को चराता है, जेठजी ऊँटों को चराते है, ननद बछडो को चराती है, पति गायो-भैसों की रखवाली में लगे है। ससुरजी घर के राजा है, जो मुख्य द्वार पर बैठे है, सास घर की मालकिन है, बहुएँ जिनकी आज्ञा मे रहकर काम करती है। आगन मे बेटी खेलती है, बेटा दूध चूखता है, देवरानी पीसती है, जेठानी भोजन बनाती है और फिर सब आगन मे जीमने बैठते हैं। कितना बड़ा कुटुम्ब है! कितनी समता है इस कुटुम्ब मे! कितनी रसता उमड पड़ती है हमारे मन में!!

यह तो कुटुम्ब-परिवार की बात हुई पर समाज मे सब एक जैसे तो होते नही। छोटे अधिक और बड़े कम होते है, परन्तु फिर भी छोटो मे किसी प्रकार की हीनता नही रहती है। ईर्ष्या भाव भी उनमे जागृत नही होता है। वे उनकी महल मालिया, श्री-सपन्नता को अपनी कुटिया-झोंपडियो से तोलकर दु:खी नही होते अपितु अपने राम का सतोष पा लेते है। बनवारीलाल नामक एक लोक-गीत मे सपन्नता मे जीनेवाले कृष्ण से किसान परिवार अपने जीवन की तुलना कर मन-ही-मन मुदित हो रहा है और अपने को उससे किसी कदर कमजोर नही मानकर बराबरी का भाव लिये है।

किसान कहता है—वनवारीलाल! हम तुम्हारे सहारे-भरोसे नही है। तुम्हारे ये महल मालिये है तो हमारे भी टूटी टपरी है। हम तुम्हारी बराबरी मे पीछे नही हैं। तुम्हारे कामधेनुएँ है तो हमारे भी भैसे-पाडियाँ है जो किसी कदर कम नही है। तुम्हारे यदि हाथी-घोडे है तो हमारे भी ऊँट-साडनी है। हम तुम्हारी वरावरी मे है। तुम्हारे तोकस तकिये है तो हमारी भी अपनी फटी गुदडी है। हे वनवारी! हम तुम्हारे भरोसे नही है। कितना उजला स्वाभिमान और दर्पण सा भोला मन है! कितना सहकार, सौहार्द और समता का स्वर्ण-भाव है!! ऐसा मन-जीवन कितना उन्नत, विराट और मुक्त मस्त होता होगा!! कितने ऊँचे भाव! कितनी सच्ची आशाएँ! और कितनी अमोल अभिलाषाएँ!!

वहू तो वाहर से आती है। पराये घर से लाई जाती है पर सुलक्षणे परिवार को पाकर वह सुलक्षणा कैसे नही होगी? लोक-गीतो मे सास परीक्षा लेती है वड़ी चालाकी मे पर वहू समतावान जो ठहरी। वह कितने सहज सुन्दर ढग से सास की चाह को चार चाँद लगा देती है। बसंत मे सास कहती है वहू

को कि वहू तुम्हारे तो अभी ओढने-पहनने के दिन है। जब से आई हो कभी अच्छे ओढाव-पहनाव का न सुख तुमने लिया न हमे ही दिया। आज जरा अपने गहने तो पहनकर दिखाओ! वहू इसका उत्तर देती हुई कहती है—सासूजी, मेरा यह भरापूरा परिवार ही मेरा ओढना-पहनावा है। इस परिवार से बढकर मेरा और क्या गहना हो सकता है?

सास नही समझ पाई। बोल उठी 'सो कैसे वहू?' वहू ने कहा—मेरे ससुर गढ के राजवी, आप सास रत्नो की भडार, जेठजी मेरा बाजूबद और जेठानी उस बाजूबद की लू ब। देवर मेरे हाथीदात के चूडले और देवरानी उस चूडले की मजीठ। नणद मेरी कसूमल काचली और नणदोई गजमोतियो का हार। पुत्र मेरा घर का चानणा और पुत्र-वधू दीपक की लौ। पुत्री मेरी हाथ की मू दडी तथा जवाई चपे का फूल। पति मेरा सिर का सेवरा और मैं शैय्या-सिणगार। कितनी उदात्त भावना है।

लोक-साहित्य मे ऐसे अनेकानेक घटना-प्रसग है जो समग्र वसुधा को समभावी समरूपा नजर से बखानते है। आज केवल ये गीत और उनके बोल ही कोरे रह गये है। हमारा समाज अपनी इस पारम्परिक सामाजिक सुसस्कृत विरासत से बहुत कुछ सीख ले सकता है। इन गीतो की बातो को हम सार्थकता दे। इनका जो चुपडापन था वह जाता रहा। हमे चाहिये कि हम फिर से उन्हे चोपडाये, समता भाव को अधिकाधिक सार्थकता दें।

४७
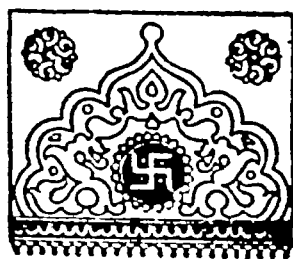
समता-समाज-रचना की प्रक्रिया

☐ डॉ० नेमीचन्द्र जैन

समता-समाज की पहल नैसर्गिक :

समत्व क्या है ? माटी-काचन, महल-कुटिया, अमीर-गरीब, सुखी-दु:खी सबको एक तुला पर तोलना समत्व है, या इसका कोई और गहरा अर्थ है । उक्त द्वन्द्व वस्तुतः आभ्यन्तर मे प्रकट हुए समत्व के स्थूल आकार है । जब आदमी भीतर से सगठित होता है, अपने को बुहारता है, अपने कलुष को बिदा करता है, अपनी बुराइयो पर प्रहार करता है, अपने मनोविकारो के खिलाफ मोर्चा-बन्दी करता है, तब उसे भीतर-बाहर की अनेकानेक विषमताओ से जूझना पडता है । तब वह जान पाता है कि जो जीवन वह अब तक जीता आ रहा है वह तो दोगला था, विषम था, दुई और द्वैत का जीवन था । वह करता कुछ था, कहता कुछ था; उसके चरित्र मे धोखा था, छल था, वह अन्यो के लिए निष्कण्टक नही था । इसलिए जब हम दूसरो के लिए निरापद और निष्कण्टक होने की चेष्टा करते है तब वस्तुत हमारे कदम समत्व की ओर उठे हुए होते है । जो समत्व की दिशा मे उद्ग्रीव है, वह भेद-भाव कर ही नही सकता । भेद किसमे—प्राणि-प्राणि मे, मनुष्य-मनुष्य मे, किस आधार पर—सामाजिक, आर्थिक या सास्कृतिक आधार पर । ये सारे तो मानवकृत है, मनुष्य के बनाये है, नैसर्गिक नही है । हवा यह भेद नही करती, वसुन्धरा यह भेद नही करती, धूप यह भेद नही करती, जल यह भेद नही करता, आसमान कब किसी की जात पूछता है । व्यापकता कभी किसी मे भेद नही करती, यदि ऐसा हो तो आसमान टूक-टूक हो गिरे और हिन्दू आसमान, मुस्लिम आसमान, जैन आसमान, पारसी

आसमान, सिक्ख आसमान जैसे भेद-विभेद उठ खडे हो, इसलिए यह बिलकुल तय है कि भेद मनुष्य की सृष्टि है, निसर्ग से उनका कोई सबध नही है। मानना चाहिये कि समता-समाज की पहल नैसर्गिक है, एक बर्बर हुए आदमी की मनुष्य बनने की चेष्टा है। सच पूछा जाए तो समता मनुष्यता का ही पर्याय शब्द है। समता-समाज, इसीलिए, वर्ग-रहित, भेद-रहित समाज की स्थापना की ओर एक सांस्कृतिक सूत्रपात है।

समझो सबको खुद जैसा :

कई लोग आरोप लगा सकते है कि समत्व एक आदर्श है, उस तक पहुँचना सभव नही है, भले ही हम बाते बढ-चढ कर कर ले, किन्तु ऐसा है नही। समत्व कोई 'काल्पनिक स्वर्ग' नही है, अपितु ठोस सत्य है जिसे हमारे तीर्थंकरो ने शताब्दियो पूर्व आकार दिया था। जैन दर्शन समत्व का दर्शन है, उसके आचारगत सिद्धान्त समत्व के क्रमानुवर्ती सोपान है। एक के बाद एक, सीढी-दर-सीढी चढकर जैनाचार द्वारा समत्व को प्राप्त किया जा सकता है। जब जैन दर्शन 'आत्मवतसर्वभूतेषु' की बात करता है, तब इसका इशारा सीधे समत्व की ओर ही होता है। 'समझो सबको खुद जैसा' एक क्रान्तिकारी सूत्र है, ऐसा सूत्र जो समाज को उसकी बुनियाद मे बदलता है। समत्व की क्रान्ति इस सूत्र मे समायी हुई है। उक्त सूत्र को जीवन मे उतारते चले जाने पर समाज मे कोई नगा रहे, भूखा रहे प्रताडित रहे, शोषित-पतित रहे, यह नितान्त असम्भव है। खुद भरपेट खाकर वह आदमी दूसरे को भूखा कैसे रखेगा जो अपने झण्डे पर 'अहिंसा परमो धर्म' लिख रहा है या जो अपने व्याख्यानो मे बडी बुलन्दी से कह रहा 'आत्मवतसर्वभूतेषु'। अहिंसा समत्व की धात्री है। अहिंसा का मूल अर्थ स्थूल नही है, जब हम किसी का खून करेगे तभी कोई हिंसा घटित होगी, ऐसा अब नहीं है, उस स्थूल घटना के रूप मे तो वह हिंसा है ही, अलावा इसके जब हम अधिक आहार करते है, अधिक कपडा पहिनते है, कुछ भी आवश्यकता से अधिक रखते है तो भी वह हिंसा है और बारीकियो मे चले तो यो भी कि हम यदि अधिक क्रोध रखते है तो भी वह हिंसा है, क्रोध के समत्व पर भी हमारा ध्यान जाना चाहिये। क्रोध घटकर इतना कम हमारे पास रह जाएगा कि हम उसकी अनुभूति भी नही कर पायेंगे। इसलिए समत्व का क्षेत्र ही कुछ ऐसा है जहाँ आकर बुराइयाँ भी सदाकार ग्रहण कर लेती है। वैर घटकर मैत्री मे बदल सकता है, क्रोध घटकर क्षमा का आकार ग्रहण कर सकता है, लोभ घटकर एक कल्पनातीत क्रान्ति कर सकता है, लाभ घटकर समत्व और सुख का कारण बन सकता है, सत्ता विकेन्द्रित होकर अधिक शक्तिशाली बन सकती है इसलिए समत्व की शक्ति की अनुभूति हमे करनी चाहिये। समत्व जहाँ भी अवतीर्ण होगा, वह सुख का साधन बनेगा।

समत्व-बोध आत्म-बोध का ही नामान्तर :

कहा जा सकता है कि समत्व को पाना कठिन है । कठिन भले ही वह है, असभव निश्चित ही नही है । बात यह है कि हम समत्व मे जन्म लेते है, और जिसे हम विरासत मे पाते है उसे ही भूल से विगलित कर बैठते है, और क्रमश वैषम्य को सीखने लगते है । विषमता हमारा स्वभाव नही है, समता हमारा स्वभाव है, वैषम्य विभाव है, साम्य स्वभाव । इसलिए इसे अलग से सीखने की जरूरत नही है । जो चीज पहले से भीतर मौजूद है, मात्र जिसका पता नही है, उसे खोजकर जानने की आवश्यकता मात्र है, अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि समत्व-बोध आत्मबोध का ही नामान्तर है । इसलिए समता-समाज रचना का 'क' हुआ आत्मबोध । आत्मशोध से आत्मबोध तक की यात्रा समता-स्थापना की यात्रा ही है । और फिर मजा यह है कि जो एक बार समत्व का स्वाद पा जाते है, उन्हे ऐसा चटखारा लगता है कि फिर वे उसे कभी छोड नही पाते । अच्छे-अच्छे श्रमण समत्व-बोध से वचित रह जाते है, और एक अदना-सा श्रावक स्वाध्याय या तप मे क्षण भर आखे खोलकर उस आनन्द मे अवगाहन कर लेता है । सारी स्थिति सूक्ष्म है । 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ' वाली बात यहाँ चरितार्थ होती है ।

अनुभूति एक : अभिव्यक्तियाँ अनेक :

हो सकता है कुछ लोग पूछ बैठे कि क्या जैन-धर्म ने समत्व की ओर कोई कदम उठाया है ? उत्तर है बहुत छोटा किन्तु बहुत सार्थक कि जैन-धर्म का एक-एक रग-रेशा समत्व की ओर ही पुरश्चरित है । उसकी सारी लडाई सम की है । पुद्गल विषम है, आत्म तत्त्व से उसकी कोई समता नही है, अतः उसके विगलन के लिए ही उसका सारा आयोजन है । इस सयोजन मे अनुभूतियों के जो वातायन उसमे खुलते है वे उसे समत्व की ओर ही ले जाते है । समत्व एक अनुभूति है, अभिव्यक्तियाँ जिसकी अनेकानेक हो सकती है । वह सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, धार्मिक किसी भी क्षेत्र मे आकर प्रकट हो सकती है । जैनाचार मे वर्णित पच अणुव्रत, दश धर्म इत्यादि समत्व के ही आयोजन हैं । अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य समत्व के ही प्रवर्तन है, इतने सशक्त ये हैं कि इनमे से किसी एक का अनुधावन सपूर्ण की उपलब्धि है । उसी तरह क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य भी समत्व की रचनात्मक भूमिकाएँ है । इनमे से किसी एक रस्सी को पकडकर समता के महल की अन्तिम मजिल तक पहुँचा जा सकता है । क्षमा के माध्यम से सारी समता-समाज रचना सभव है ।

खुद बना खुद का चिराग :

कभी किसी ने प्रश्न किया था, मुझे याद है, कि क्या जैन-धर्म की

अन्तरात्मा साम्य नही है ? तब उत्तर मे मैने कहा था—कई बार ऐसा होता है कि प्रश्न का उत्तर—उत्तर न होकर प्रश्न ही होता है इसलिए मुझे पूछना चाहिये कि जब आप जानते थे तो आपने इसकी पुष्टि के लिए ऐसा प्रश्न किया ही क्यो ? समत्व जैन-धर्म का पर्याय शब्द है। जो जीतता है वासनाओ को वह जानने लगता है, और जानना, सम्यक् जानना ही मुक्ति का पहला सोपान है। जानने मे सर्वत्र समत्व है। ज्ञान की सीढियाँ चढकर आनेवाला समत्व कभी अपूर्ण नही हो सकता। इसलिए समता-समाज रचना का 'ख' हुआ 'ज्ञान या स्वाध्याय।' जो जानेगा स्वय को, वह स्वय की रोशनी स्वय बनेगा। महावीर ने कहा भी है 'खुद बना खुद का चिराग—अप्प दीपो भव'। इसलिए जो जानेगा वह समतावान बनेगा। समता की कोख मे ज्ञान है और ज्ञान वैषम्य का परिहार है।

सिद्धान्त मे जो जानें, व्यवहार मे उसे प्रकट करें :

एक सवाल जो इस लेख के मध्य मे उठाया जाना चाहिये वह यह कि हम सैद्धान्तिक समत्व की अपेक्षा व्यावहारिक समत्व की ओर ध्यान दे। चर्चा मे समत्व कोई महत्त्व नही रखता। समत्व पर शास्त्रार्थ हम करें, और वैषम्य का आचरण करें तो यह दुई हमे स्वय को किसी क्षण ललकार सकती है। पिछले दिनो हुआ यह है कि हमने चर्चा-समीक्षा समत्व की अनगिन की है, किन्तु आचार मे कही उसे प्रतिबिम्बित नही किया है। कथनी मे हम उसे लाये हैं, करनी मे उसे अनुपस्थित रखा है। बात हमने की है, काम हमने नही किया है। धर्म का क्षेत्र कर्म क्षेत्र है, बकवास का क्षेत्र वह नही है। भगवान् महावीर बारह वर्ष मौन रहे, कर्मरत रहे, साधना-तल्लीन रहे, कर्म मे ही स्वय को प्रतिबिम्बित रखा। उनके चरित्र मे कही कोई दुई नही थी। समत्व को उन्होंने जिया। रिश्तो के प्रति वे जितने विनम्र थे शत्रु के प्रति उतने ही विनयवान थे। उनकी करुणा सबपर एक-सी थी। वह बरसती थी तो एक सजल मेघ-सी जो कभी यह कहां पूछता है कि वह ईख पर बरसे या नीम पर, आम पर बरसे या नीबू पर; उसे निष्पक्ष बरसना होता है, समत्व मे बरसना होता है, वही स्थिति महावीर की थी, उनकी करुणा की थी; वह बिना किसी भेद-भाव के बरसती थी। इसलिए समता-समाज रचना का 'ग' होगा सिद्धान्त मे हम जानें किन्तु व्यवहार मे हम उसे प्रकट करे। हमारे प्रतिपादन मे और चरित्र मे एकता होना जरूरी है। समता-समाज के प्रवर्तको या उद्घोषको को इस बात का ध्यान रखना होगा कि जो वे कह रहे है, वह उनके व्यक्तित्व और कृतित्व मे प्रकट हो रहा है। समता-समाज की घडन मे इसका बेहद महत्त्व है।

सहिष्णुता का पड़ाव :

समता-समाज रचना की प्रक्रिया मे एक पड़ाव सहिष्णुता का भी है।

यदि हम सह नही सकते तो समता का बोध हमे हो, यह आवश्यक नही है, जो अन्धकार को सह सकता है वही प्रकाश की अनुभूति कर सकता है; जो अन्याय सहता है, वह क्रान्ति का नेतृत्व करता है, जिसने जाना नही है, उसके विरोध मे कोई ऊर्जा और स्फूर्ति जन्म ही नही लेगी। सहने का मतलब होगा रहना, यानी अस्तित्व की रक्षा। सहना या सहिष्णुता एक तरह का कवच है जिससे आदमी बना रहता है, किन्तु इस सहने से यह मतलब न निकाला जाए कि जुल्म सहे जाएँ, शोषण सहा जाए, या कोई बद-चलनी सही जाए, इस सहने का सीधा अर्थ है साधना मे जो कुछ सहने को हो उसे सहो। यदि कोई भूखा है और हमारे पास आहार इतना ही है कि हमारा उदर मात्र भरता है तो हमे इतनी भूख तो सहनी ही होगी जिससे दूसरे का भी आधा या पूरा पेट भर जाय। होता तो यह है कि सहनशीलता के क्षेत्र मे हमारा पेट भूखे रहकर भी भर जाता है। इसे सहिष्णुता कहा जाएगा चूकि इसका एक गर्भ द्वार आत्मानन्द भी है। इसलिए हम कहेगे कि समता-समाज की रचना-यात्रा मे 'घ' है, सहिष्णुता।

इस तरह समता-रचना की रचना-यात्रा आत्मबोध से शुरू होकर सहिष्णुता के पडाव तक पहुँचती है। यहाँ 'आत्मबोध' 'ज्ञान' का और 'सहिष्णुता' 'सर्वबोध' के प्रतिनिधि शब्द है।

४८
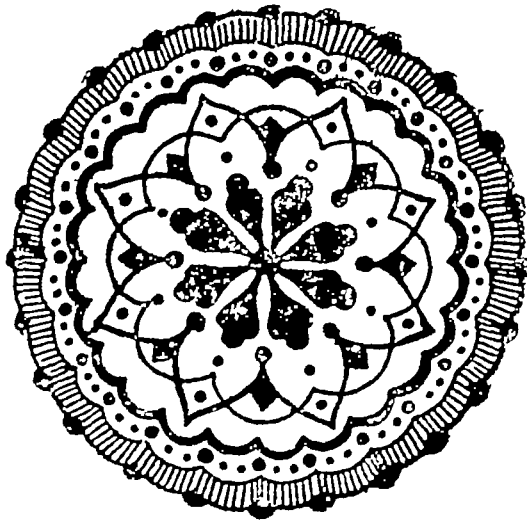
समता-तत्त्व के प्रसार में आचार्य नानेश का योगदान

□ श्री ज्ञानेन्द्र मुनि

विषमता का ज्वालामुखी सर्वत्र प्रज्वलित हो रहा है। मानव जीवन अशान्त, विक्षिप्त और विशृंखल हो विकृति के गर्त की ओर अग्रसर हो रहा है। अमावस्या की रात्रि के घने अंधकार की तरह विषमता व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व तक विस्तृत होकर, मानव हृदय की सुजनता तथा शालीनता का नाश करती हुई प्रलयकारी विकराल दृश्य उपस्थित कर रही है।

विषमता का उद्भव :

सर्व विनाशिनी इस विषमता का मूल उद्भव स्थल मानव की मनोवृत्ति है। जिस प्रकार वट वृक्ष का बीज राई के समान सूक्ष्म होता हुआ भी उपयुक्त साधन मिलने पर विशाल रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार मानव की मनोवृत्ति से समुत्पन्न विषमता का बीज भी हर क्षेत्र में अपनी शाखा-प्रशाखाएँ प्रसारित कर देता है, जिससे दमन, शोषण और उत्पीड़न की चोटें सहन करता हुआ प्राणी चैतन्य से जड़त्व की ओर बढ़ता जाता है।

धरती की समानता तथा सर्वत्र एक रूप से वर्षा होने पर भी एक ही क्षेत्र में एक ओर सुस्वादु इक्षु व दूसरी ओर मादक अफीम का वपन किया जाए तो इसका प्रस्फुटन ऐसा होगा कि एक जीवन-रक्षण में सहायक है तो दूसरी

मृत्यु का कारण। इसी प्रकार दो हृदय एक से होने पर भी यदि एक मे समता का और दूसरे मे विषमता का बीज वपन किया जाय तो दोनो की अवस्था गन्ने एव अफीम के सदृश्य होगी। समता जीवन का सर्जन करती है तो विषमता जीवन की मानसिक, वाचिक, कायिक अवस्था को विषमय करती हुई, उसको विनाश के कगार पर पहुँचा देती है। कहा है—

> अज्ञान कर्दमे मग्नः जीवः ससार सागरे।
> वैषम्येण समायुक्त, प्राप्तुमर्हति नो सुखम् ॥

अर्थात्—ससार-सागर मे अज्ञान रूपी कीचड मे लीन, विषमता से युक्त जीव कभी भी सुख को प्राप्त नही कर सकता है।

अत मानव समाज मे जितने भी दुर्गुण है, वे सभी विषमता की जड से ही उत्पन्न हुए है और मानव के द्वारा सिचित होकर विराटता का रूप धारण कर रहे है।

महावीर का समता सिद्धान्त :

भगवान् महावीर ने कहा कि सभी आत्माएँ समान है। सभी को जीने का अधिकार है। कोई भी किसी की सुख-सुविधा का अपहरण नही कर सकता। जिस प्रकार चोरी करने वाला दण्डित किया जाता है, क्योकि उस वस्तु पर उसका अधिकार नही है, वैसे ही किसी अन्य के जीवन, इन्द्रिय, शरीर पर किसी का कोई अधिकार नही है। सभी को समान रूप से जीने का अधिकार है। अतः किसी का प्राण व्यपरोपणादि करना अपराध है। एतदर्थ भगवान् का मूल उद्घोष है—'जीओ और जीने दो' इस सिद्धान्त को ज्ञान आचरणपूर्वक अपनाने से अवश्य ही जीवन मे समता रस की प्राप्ति हो सकती है।

आचार्य नानेश द्वारा समता-प्रसार :

विषमता के इस वातावरण मे व्यक्ति और विश्व के जीवन मे शान्ति का सौरभमय वातावरण उपस्थित करने के लिये आचार्य नानेश द्वारा समता का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। सम्पूर्ण जगत् के प्राणियो की, चाहे वे ऋद्धिवान् हो या निर्धन, सेठ हो या किकर, तिर्यंच हो या मनुष्य, देव हो या नारकी, गुरु हो या शिष्य, सभी की आत्मा समान है। कर्मावरण से किसी की आत्मा अधिक आच्छादित है तो किसी की अल्प किन्तु आत्म विषयक विभेद नही है। 'स्थानाङ्ग सूत्र' मे भगवान् ने स्पष्ट फरमाया है—'एगे आया' आत्मा एक है।

आत्मा की समानता का ज्ञान सुगमता से करने के लिये एक दीपक का

दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार दीपक कमरे में रखा हुआ यथाशक्ति प्रकाश फैलाता है, वैसे ही उसे छोटे से छोटे स्थान में स्थापित करने पर भी उसके प्रकाश में कोई व्याघात की स्थिति नहीं आती। डिब्बे में स्थित किया जाएगा तो वह उसी स्थान को प्रकाशित करेगा, बाहर नहीं। वैसे ही आत्मा को अल्पतम पिपीलिका का शरीर प्राप्त होगा तो वह उसी शरीर में व्याप्त हो जाएगी, बाहर नहीं। तद्वत हाथी का शरीर प्राप्त होने पर दीपक के प्रकाश की भाँति वह सम्पूर्ण गज देह में व्याप्त हो जाएगी। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, विकलेन्द्रिय, पशु-पक्षी, मनुष्यादि में भी जानना चाहिये। सन्दर्भ सुख-शान्ति की अभिलाषा रखने वाले मानव को चाहिये कि वह सम्पूर्ण जीव जगत् पर समता का सुभाव रखे। आचार्य नानेश ने समता के चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—[1]

(१) सिद्धान्त-दर्शन
(२) जीवन-दर्शन
(३) आत्म-दर्शन
(४) परमात्म-दर्शन

(१) सिद्धान्त-दर्शन—समता का सैद्धान्तिक स्वरूप है कि सम-सोचें, सम जानें, सम-मानें, सम-देखें, सम-करें। जीवन के प्रत्येक कार्य में समभाव का होना अत्यन्त आवश्यक है। एतद् विषयक एकता के लिये भोगविलास से हटकर जीवन में त्याग-वैराग्य संयमित अवस्था की अपेक्षा है। संयम से तात्पर्य मुण्डित होना ही नहीं, किन्तु मन-इन्द्रियों को संयमित-सुरक्षित रखना है। मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि पहुँचने पर राग-द्वेष की भावना उत्पन्न न करना, श्रोतेन्द्रिय को संयमित करना है। इसको वश में न करने से बहुत अनर्थ होने की संभावना रहती है। महाभारत का युद्ध इसी का परिणाम है। द्रौपदी ने दुर्योधन से यही कहा था कि 'अंधे के पुत्र अंधे ही होते हैं।' इस शब्द के तीव्र व्यंग्य-बाण का आघात दुर्योधन सहन नहीं कर सका जिससे कि हजारों-लाखों निरपराध प्राणियों का संहार हो गया। अतः श्रवणेन्द्रिय को वशीभूत रखना आवश्यक है। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के आगे किसी भी प्रकार का अच्छा बुरा, श्लील-अश्लील चित्र आए, नाक में अच्छी या बुरी गंध आए, जिह्वा द्वारा खट्टा-मीठा कोई भी स्वाद आए, शरीर का स्पर्श कठोर या मृदु हो, राग-द्वेष की उत्पत्ति न होना समता का सच्चा स्वरूप एवं सिद्धान्त है। कहा है—

गृह्णाति हृदि सद्रेण, त्यागवैराग्य संयमम्।
लभते सम सिद्धान्त, जीवनोन्नति कारकम्॥

१—विशेष विवरण के लिए देखें आचार्यश्री की 'समता-दर्शन और व्यवहार' पुस्तक।

अर्थात्—त्याग, वैराग्य, सयम को सरलता से हृदय मे जो ग्रहण करता है, वह जीवन उन्नतिकारक समता सिद्धान्त को प्राप्त करता है ।

(२) **जीवन-दर्शन**—विषमता के घने अन्धकार मे समता की एक ज्योति ही आशा का सचार करती है । जिस प्रकार एक दीपक अनेक दीपको को अपनी शक्ति से प्रज्वलित कर-देता है, वैसे ही सज्जन ज्ञान सहित आचरण से स्वय के जीवन को प्रज्वलित करते हुए अनेको के जीवन का भी नव-निर्माण करते है । इसके लिए व्यक्ति मे पहले समता भाव होना परमावश्यक है । समता भाव की साधना के लिये सप्त कुव्यसनों का त्याग करते हुए जीवनोपयोगी, आत्म-दर्शन की साक्षात् कराने वाली उपादेय वस्तुओ का आचरण यथा-शक्ति करना चाहिये । 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के सिद्धान्त को समक्ष उपस्थित कर जीवन का सर्जन करना समता का द्वितीय सोपान जीवन-दर्शन है । कहा भी है—

पल सुरापणखेयै, चौर्य वेश्यापराङ्गना ।

सप्तव्यसनसत्याग , दर्शन जीवनस्य तत ।।

अर्थात्—सप्त कुव्यसनो का आचरण नही करना तथा जीवन को सदा सादा, शीलवान, अहिसक बनाये रखना समता-जीवन का दर्शन है ।

(३) **आत्म-दर्शन**—जब जीवन पूर्णरूप से सयमित हो जाता है तब आत्म-दर्शन की अवस्था प्राप्त होती है । एक मानव शरीर, जिसे हम चैतन्य कहते है, उसमे तथा अपर मृत मानव शरीर मे क्या अन्तर है ? एक क्षण पूर्व जिसकी इन्द्रियाँ सजग एव जागरूक थी, मन चिन्तन मे रत था, वचन से शब्द परिस्फुटित हो रहे थे, काया से परिस्पन्दन हो रहा था, दूसरे ही क्षण हृदय गति रुकी और वह मृत हो गया । निष्कर्ष यह कि चेतना शक्ति जब तक शरीर के अन्दर रहती है, तब तक देह का सचार चलता रहता है । ज्योही चेतना शक्ति शरीर से बाहर निकल जाती है, तत्क्षण शरीर को मृत कहा जाता है । पौद्गलिकता के कारण शरीर की उत्पत्ति तथा विनाश होता रहता है, जिसे मृत या जीवित की सज्ञा दी जाती है, किन्तु आत्मा का न कभी नाश हुआ है न कभी उत्पत्ति । वह अनादि काल से एक रूप मे चली आ रही है । कर्म की विचित्रता से सूर्य पर मेघपटल की तरह आवरण आता रहता है जिससे चैतन्य प्रकाश आच्छादित हो जाता है । कर्म के क्षयोपशम होने पर पुन. प्रकट सूर्य की तरह चैतन्य-प्रकाश प्रकट हो जाता है, किन्तु आत्मा सदा तिर्यंच, मनुष्य, नरक, देव और भूत, भविष्य, वर्तमान मे एक समान रहती है । वह अपने कर्मो का स्वय कर्ता-भोक्ता है, यह प्रमाणो से सिद्ध है । कहा भी है—

प्रमाण सिद्धचैतन्य, कर्ताभोक्ता फलाश्रित।
निज देह प्रमाणे य, स आत्मा जिनशासने ॥

उपर्युक्त लक्षण से युक्त आत्मा की आवाज को जो सुन लेता है और तदनुसार आचरण करता है, वह अवश्य ही आत्म-विकास की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति आपके स्वागतार्थ नोटों की गड्डियाँ गिनता हुआ, उन्हे छोडकर जलपान की सामग्री के लिये, बाहर चला जाता है, तब आपके हृदय मे जड मन और चैतन्य आत्मा का युद्ध होता है। मन कहता है कि कुछ नोट उठा लिये जाय, तभी आत्मा की आवाज उठती है कि यह चोरी है, अन्याय है, अपराध है, जिसकी आत्मा जागृत हो उठती है तो वह जडत्व भावना को परास्त कर आत्म-दर्शन मे लीन हो जाता है। कहा है—

अहिंसासत्यमस्तेय, ब्रह्मचर्यमकिञ्चन।
यश्चपालयते नित्य, सआप्नोत्यात्मदर्शन ॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को जो सर्व रूप से संयमित हो पालन करता है, वह आत्म-दर्शन को प्राप्त करता है।

(८) **परमात्म-दर्शन**—जब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब त्वरित रूप से परमात्म अवस्था की भी प्राप्ति हो जाती है। जैन-दर्शन परमात्मा को कोई अलग से नही मानता। उसकी तो यही मान्यता है कि आत्मा ही संसार से विरक्त होकर सर्वांगीण रूप से कर्मजाल को हटाकर, गुणस्थानों की अन्तिम श्रेणी अयोगी केवली की अवस्था की प्राप्ति हो जाने पर पांच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण मात्र मे जितना समय लगता है, उतने ही समय मे, नीरोग, निरुपम, स्वाभाविक, अबाधित, निरंजन, निराकार, अर्हन्त से परमात्मपद की प्राप्ति कर लेती है। इसे विश्व का कोई भी प्राणी क्यो न हो, वह यदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त हो तो वह परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है। इस सिद्धान्त से प्राणियों मे स्वाभिमान जागृत होता है और वे अपने पुरुषार्थ से जीवन को अनादिकालीन संसार से हटाने मे प्रयत्नशील होते है। यही आत्मा से परमात्म पद का साक्षात्कार करना है। कहा है—

कर्मजाल विनाशेन सम्प्राप्यायोगिशीलन।
संसारे लभते प्राणी परमात्मपद परम् ॥

इस प्रकार विश्व की विषमता को दूर करने के लिये युगप्रवर्तक जिन शासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, समता-दर्शन के पथ प्रदर्शक आचार्य नानेश के

सिद्धान्तो, व सूत्रो का जो कोई भी व्यक्ति जीवन मे ग्राचरण करेगा, वह ग्रवश्य-मेव शान्ति, सुख ग्रौर ग्रानन्द की ग्रनुभूति कर सकेगा, इसी भावना के साथ—

वैषम्येरणा जनस्यचित्त कमले स्थातु क्षमा नो क्षमा,
ज्ञात्वा जीवन प्रोन्नतेः सुसमता सिद्धान्तक ससृतौ ।
चातुर्येणवरागना विषमता-मुच्छिद्य प्राचारित,
तन्नानेशगुरौ सुभावसुमन ज्ञानार्तित राजताम् ।।

ग्रर्थात्—विशमता के कारण हृदय-कमल मे क्षमा ठहरने मे समर्थ नही हुई, ऐसा जानकर चातुर्य से विलासिनी विषमता का नाश करके, सम्यक् समता (सिद्धान्त, जीवन, ग्रात्म, परमात्म) सिद्धान्त को सृष्टि मे प्रचारित किया, ऐसे नानेश गुरु के चरण-वचरीक मुनि 'ज्ञान' द्वारा ग्रर्पित सुभाव-सुमन शोभित हो ।

४६
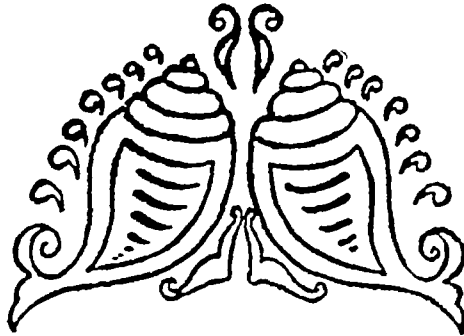
समता-समाज और धार्मिक संगठन

☐ श्री जवाहरलाल मूणोत

समता से हम क्या समझते हैं ?

मुझे डर है कि 'समता' शब्द के सही अभिप्राय को समझने में भी, हम सब का शायद एकमत न हो। जैन साहित्य में समता बहुत व्यापक अर्थों में काम में लाया जाता है। आधुनिक जैन आचार्यों ने भी जैन धर्म और दर्शन की व्याख्या करते हुए, समता शब्द पर खूब जोर दिया है, और आचार्य श्री नानालालजी म० सा० के प्रतिपादन में समता शब्द ने एक अधिक प्रौढ़ अर्थ ग्रहण कर डाला है। सो, समता से हम क्या समझें ?

कुछ लोगों को जैन-धर्म की आधुनिक व्याख्या के समाजवाद के समकक्ष ला खड़ा करने की जल्दी है सो वे समता का अर्थ लगा लेते हैं—समानता—या कह दें तो साम्यवाद। कुछ ऐसे भी हैं जो समता को इन अर्थों में 'स्वतन्त्रता-समानता' के नारे का पर्याय मान बैठे हैं। ऐसे भी मित्र हैं जिनके अनुसार, यह शब्द समता—लोकतन्त्र या प्रजातन्त्र के लिये काम में आना चाहिये। मेरी समझ में, ये सभी अर्थ हमारे धर्म के मूल सिद्धान्त—समता—के साथ, न्याय नहीं करते।

इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में, मेरा विश्वास है कि अब तक, समता की सब प्रकार परिभाषा स्पष्ट कर दी गई होगी। फिर भी, मैं भी अपनी ओर से इसके उन अर्थों को आपके सामने रख रहा हूँ जिन अर्थों में मैं इसे ग्रहण करता हूँ और चाहता हूँ कि इसी सही अर्थ में इसका उपयोग हो।

समता–वह सापेक्षता है जो किसी भी वस्तु अथवा कृति के विभिन्न अगो मे आपस मे, एक दूसरे के साथ हो। समता यानी अगरेजी की सिमैट्री (Symmetry), समता यानी प्रतिसाम्य, सममिति। अगर किसी भी बात मे सम्यक् सगति है तो ही वह समता का उदाहरण है। नमूने के लिये—आप आदमी के शरीर को ही लीजिये। यह शरीर समता का उपयुक्त उदाहरण है। और अब इस व्याख्या को ध्यान मे रखकर आप किसी भी वस्तु को जांचिये, आप पता लगा सकेंगे कि वह वस्तु विशेष, समतामय है या नही ? यानी उसका बैंलेस, सगति समग्र रूप से उचित और सही है या नही ? जैन-धर्म और उसका दर्शन, इसी समता को सही आदर्श मानता है। और अगर इसी सही परिभाषा को हम पकड़े तो हमारा भटकाव कम हो जायेगा। तब सस्ते समाजवादी नारों के भ्रम मे बिना भटके हम सारे ससार के लिये समीचीन समता को पेश कर सकेंगे।

समता-व्यवहार :

इस कसौटी से परखने पर हमारे लिये समता-व्यवहार के स्वरूप को समझना भी बहुत सरल हो जाता है।

आधुनिक जगत् की आर्थिक और सामाजिक विकास की बात लीजिये। समता की कसौटी हमे बतला देगी कि वर्तमान आर्थिक-विकास की कथा एकागी और असतुलित है। हमारे जैसे देश मे, इस आर्थिक विकास की विसगति यह हुई है कि इसने केवल एक बहुत छोटे अल्पमत को सपन्नता और समृद्धि दी है और बहुत विशाल जनसमूह को अधिक विपन्न और दीन-हीन बना डाला है। और तो और, जो देश विकसित और सम्पूर्ण-समृद्ध होने का दावा करते है, वहाँ भी हमारी समता-कसौटी वतलाती है कि उस विकास मे भी यही असगति का घुन लगा हुआ है। यह विकास, खतरनाक प्रदूषण, प्रकृति के साथ अक्षम्य वलात्कार और परिवेश के विनाश की कीमत पर ख़रीदा हुआ है और वहुत जल्द इसकी सजा सारे समाज को, सारी मानवता को चुकानी पडेगी।

यही वात आधुनिक शिक्षा पर लागू होती है। लोक-तंत्र और समानता के नारो से अभिभूत तथा सडी-गली रूढिवादिता से दु खी समाज ने, धार्मिक शिक्षा को तिलाजलि देकर, सामूहिक सैक्यूलर शिक्षा के तत्र को आँख मू द कर अपनाया। और नतीजा क्या निकला ? निरक्षरों की सख्या मे वेतहाशा वृद्धि, विवेक के स्थान पर कदाचार और आपाधापी और नितान्त निरर्थक जानकारी को ज्ञान के पद पर आसीन करने की हास्यास्पद चेष्टा ! अगर यहाँ भी, समता के सिद्धान्त को अपनाया गया होता तो परिणाम विलकुल भिन्न होते।

लेकिन मुझे तो आपको यह बतलाना है कि इस समता-व्यवहार के मामले में, हमारे धार्मिक संगठनों की भूमिका क्या रही है?

आदर्श से अवनति की ओर

एक बार जैन-धर्म इतिहास पर नजर घुमाइये, आपको भगवान् महावीर और उनके परवर्ती काल में, इसी समता-युक्त धार्मिक संगठनों का आदर्श रूप दिखलाई देगा। श्रमणों का भी अपना संगठन, अपने यम-नियम, अनुशासन और शास्ता का आपसी उपयुक्त सम्बन्ध। और इनके साथ सम्पूर्ण संगति बिठलाती, श्रावक-श्राविकाओं की अपनी संस्थाएँ—जो समता के ही आदर्श पर श्रमण संगठनों से अपना सम्बन्ध बनाये रखती हैं। और चूंकि इन संगठनों का अपना निजी कलेवर, समता-व्यवहार पर ही आधारित था, इसलिये, ये संगठन, समता-व्यवहार का लगातार विकास ही करते गये।

लेकिन स्वयं इतिहास का समता-मूलक अध्ययन हमें बतला देगा कि किसी भी आदर्श काल-स्थिति को स्थायी नहीं बनाया जा सकता। उसमें परिवर्तन अपरिहार्य है। यही हमारे साथ हुआ। समता-व्यवहार का संक्रमण शुरू हो गया। ऐसे मौके आये जब श्रमण संगठन, अपने समता-स्थान को भूलकर या छोड़कर, श्रावक संगठनों पर हावी हो गये। ऐसे भी दिन हमारे समाज ने देखे हैं जब श्रमण संगठनों की तात्कालिक कमजोरियों से शह पाकर श्रावकों के संगठन निरंकुश अथवा श्रमणों से विरक्त बन गये। इस हालत में समता-व्यवहार की ही हत्या हुई है और इस समता-हिंसा ने समाज को अवनति की ओर ढकेला है।

परन्तु जब तक समता-व्यवहार संतुलित विकास करता रहा है, हमारे धर्म ने अपना स्वर्ण युग भोगा है। इस समता-व्यवहार ने, उस काल के समाज में छिपे विरोधाभासों को नियंत्रित रखा है और समाज के सभी वर्गों के समान विकास और प्रगति को प्रोत्साहन दिया है।

क्या यह काल फिर से दुहराया जा सकता है? क्या हमारे लिये यह सम्भव है कि हम अपने धार्मिक संगठनों में फिर से वही समता का आदर्श प्रस्थापित करें? और क्या इस युग में, समता-व्यवहार का विकास, इन संगठनों के सहारे सम्भव है भी?

संगठन और समता-व्यवहार, एक दूसरे के पूरक हैं

समता-व्यवहार के विकास की चर्चा करने से पहले हम संगठनों के इस विकास का सम्बन्ध परिभाषित करें। समता-व्यवहार और धार्मिक संगठनों का आपस में एक दूसरे पर निर्भर पूरक सम्बन्ध है। आज हमारे धार्मिक संगठनों

का गठन और काम-काज, सही समता-सगति के आदर्शों पर नही है, तो आप समता-व्यवहार की उम्मीद नही कर सकते । उसी तरह, अगर सगठनो मे आपस मे सगतिमय समता-व्यवहार ही नही है तो समाज मे समता-व्यवहार का विकास हो ही कैसे सकता है ? दूसरे शब्दो मे, हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि आज के जैन-समाज मे, श्रमणो के बीच सही सगठन का अभाव, इसी समता-व्यवहार के अभाव का दूसरा नाम है । उसी तरह, यह भी सच है कि श्रावको के धार्मिक सगठनो मे असंगति और समता-हीनता, उसी हद तक श्रमणो की इस मनोवृत्ति के लिये जिम्मेदार है । आप किसी एक ही पहलू को सुधारने के फेर मे पडेगे तो मामला सुधरेगा नही । समता-व्यवहार का तकाजा है कि इन दोनो पहलुओ पर साथ-साथ ध्यान दिया जाय ।

समता : पारायण का पाठ नहीं, आचरण की संहिता है :

सभी दर्शन, व्यवहार मे लाने के लिये होते है, आचरण करने के लिये रचे जाते हैं । भला समता-दर्शन इसका अपवाद कैसे होगा ? भक्ति-भाव से पूजा करने की वस्तु नही होती है कोई भी दार्शनिक भावना । उसे तो रोजमर्रा के व्यवहार मे, हमेशा और हर समय अमल मे लाने, आचरने की जरूरत होती है । व्यवहार की शून्यता ने विकास के दरवाजो पर ही ताले जड दिये है ।

सही रूप से समझी गई जैन-दर्शन की समता, सारे मानव समाज, सारी पृथ्वी की प्रकृति और स्वय हमारे अपने जीवन को विशिष्ट और मूल्यवान सगति, विकास और अनोखा अर्थ देगी । और खुद जैन-धर्म को फिर से, आचरण से व्याप्त जीवत दर्शन-धर्म का सिहासन प्राप्त करायेगी ।

लाना है तो छुआछूत का जो भेदासुर विकराल रूप धारण करके खड़ा है, उसे मिटाना होगा। मानव-मानव मे भेद न हो ऐसी व्यवस्था लानी होगी। तब अहिसा टिकेगी। स्वतन्त्रता-प्रगति के बाद देश मे छुआछूत मिटाने का कानून भी बनाया गया पर उस पर अमल नही हुआ। आज भी स्वराज्य प्राप्त हुए तीस वर्ष हो गये फिर भी छुआछूत का भेद मिटा नही। समाजवाद की स्थापना नारो मे उलझ गयी। कानून से समस्या का समाधान नही होता। जितने महापुरुष हो गये है, तीर्थंकर, अवतारी, पैगम्बर या सत-महात्मा सबो ने त्याग का ही रास्ता बताया। पर नेताओ मे कथनी व करनी का अन्तर होने से, सफलता प्राप्त हो नही सकी।

स्वराज्य होने के बाद देश मे हरिजन कहलाने वाली बलाई जाति जिसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, पानी भी कुए से भरने नही देते थे। जागीर-जमीदार उच्च कुल वालो से ये लोग पीडित थे। इनकी बस्ती बिलकुल गाँव के बाहर, विवाह-शादी होती तो बाजे-गाजे बजा नही सकते थे ये लोग। औरते पाव मे चादी का जेवर पहन नही सकती थी। दूल्हा घोडे पर सवार होकर गाँव मे घूम नही सकता था। बेगार इनसे ली जाती थी। यहाँ तक कि होली के दूसरे दिन धूलेडी के दिन उच्च कुल की महिलाओ द्वारा बलाई जाति की महिलाओ को आँखो पर पट्टी बाँधकर हाथ मे मूसल देकर सिर पर बास की टोकरी मे बासी रोटी रखकर, सारे गाँव मे घुमाया जाता था।

होली के दिनो मे इनमे गल प्रथा प्रचलित थी। इसके अनुसार जमीन से तीस-चालीस फीट ऊँचे लकडी के खम्भे पर लोहे के काटो से पेट को बाधकर घुमाते थे व आनन्द लेते थे। यह था पिशाची कृत्य। मानवता के दर्शन इस जाति मे मुश्किल से होते थे। यह जाति शराब, मास, पशु बलि और कुव्यसनो में फँसी थी। इनमे गरीबी थी। स्वराज्य के बाद कानून बने। इनमे प्रचलित समाज की ज्यादतियाँ तो बद हो गयी पर वृहत्तर समाज ने इन्हें अपनाया नही। उन्हे विश्वास व प्यार नही मिला। कइयो ने घृणा से पीडित होने के नाते ईसाई धर्म स्वीकार किया, कई मुसलमान बने, सिक्ख भी बने। जिन्होने धर्म परिवर्तन किया, उनकी परेशानी तो बन्द हो गयी पर समाज मे प्रतिष्ठा नही बढी।

युग ने करवट बदली। एक आध्यात्मयोगी विज्ञान युग मे प्रकट हुए। महावीर के सदेश-वाहक, आत्म-साधना मे लीन, जैन समाज के ही नही समस्त मानव-समाज के कल्याणकारी महापुरुष, आचार्य श्री नानालालजी महाराज-मालवा की पवित्र भूमि पर विहार कर, करीब १५ वर्ष पूर्व रतलाम मे आपका चातुर्मास हुआ। चातुर्मास समाप्ति के बाद अनेक नगरो से समाज के प्रमुख अपने यहाँ पधारने की विनती करने आये। सबकी विनती झोली मे डालकर

ये आध्यात्मयोगी आसींद्र अंचलों से निकल पड़े। चाल हाथी जैसी मस्तानी। त्याग-साधना के धनी पद विहार कर उज्जैन जिले के नागदा ग्राम में पधारे। वहाँ जैन समाज को ही नहीं, समस्त मानव समाज को आत्मबोध दिया। इसी सभा में बलाई जाति का एक व्यक्ति आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। जैन मुनि कैसे बोलते हैं, यह कुछ उसे याद नहीं। न संस्कार ही थे। कहा—महाराजजी, नागदा के पास ग्राम गुनाड़िया है। वहाँ सामाजिक कार्य हेतु बलाई जाति का समूह इकट्ठा होगा। आप वहाँ पधारें व हमें उपदेश दें।

मानव कल्याण की भावना से ये आध्यात्मयोगी चल पड़े। आहार-पानी की भी चिंता नहीं की। ग्राम गुनाड़िया पद विहार कर पधारे। गाँव के मिट्टी के झोंपड़े में विश्राम किया।

बलाई जाति में शराब, मांस, पशुबलि आदि अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थी।

जाति कार्यक्रम के बाद बलाई जाति का समाज इकट्ठा हुआ इस महापुरुष का प्रवचन श्रवण करने। पू० आचार्य श्री ने धर्मनाथ भगवान् की प्रार्थना से प्रवचन प्रारम्भ किया व कहा—मनुष्य कर्म से ऊँचा होता है, कर्म से नीचा होता है। मनुष्य से घृणा नहीं करना है, बुराइयों से घृणा करना है। इन सब बुराइयों को छोड़ो। जब तक बुराइयों का काला निशान लगा रहेगा, तब तक समाज तुमसे घृणा करेगा। ज्यादे-से-ज्यादे आध घंटा प्रवचन हुआ होगा। सरल भाषा में वो अमृतवाणी हृदय में प्रवेश कर गयी व अज्ञान का पर्दा हटा, जैसे सूर्य निकलते ही अंधकार भाग जाता है वैसा ही चमत्कार हुआ। बलाई जाति के सब लोग खड़े हो गये व कहा—आप सौगन्ध दिला दें। सबने हाथ जोड़कर सौगन्ध लिये। क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या बच्चे सब खड़े थे। ऐसा दृश्य लग रहा था कि [illegible] में समवसरण की रचना हो रही हो।

अधिवेशन मे मुख्य अतिथि के रूप मे मध्य प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री पाटसकरजी आये थे। आचार्य श्री जी से एक घटा चर्चा की व कहा—जो कानून द्वारा नही हो सकता था वो आपने आध्यात्मिक तपोवल से कर दिखाया। आपने धर्मपाल समाज का जीवन ऊँचा उठा दिया। उन्हे इन्सान वना दिया। अब उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति मे भी सुधार होगा। शिक्षा में भी ये आगे बढेगे। शासन इन्हें हर तरह से मदद देगा।

अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ ने धर्मपाल प्रवृत्ति को प्रमुख मानकर क्रातिकारी योजना बनाई—प्रचार कार्य, शिक्षा, नैतिक सस्कार आदि। मालवा क्षेत्र मे मदसौर, जावरा, नागदा, खाचरौद, उज्जैन, मकसी, शाजापुर इसके विशेष क्षेत्र वने।

आचार्य श्री के उद्‌बोधन से इस अहिसक क्राति का दर्शन हुआ, जिसके कारण हजारो परिवारो का जीवन वदला, वे सस्कारी वने, महावीर के अनुयायी बने। विज्ञान युग मे समता-समाज-रचना का दर्शन वैज्ञानिक रूप से धर्मपाल प्रवृत्ति से हुआ, जहाँ किसी भी प्रकार का भेद नही। साथ वैठकर भोजन करते है, धर्मपाल परिवारो के यहाँ जलपान करते है। धर्मपाल परिवारो का वर्षो का जो स्वप्न था, वो समता-समाज-रचना से साकार हुआ।

चतुर्थ खण्ड

प रि च र्चा

५१

समतावादी समाज-रचना स्वरूप और प्रक्रिया

☐ आयोजक—श्री संजीव भानावत

आयोजकीय वक्तव्य .
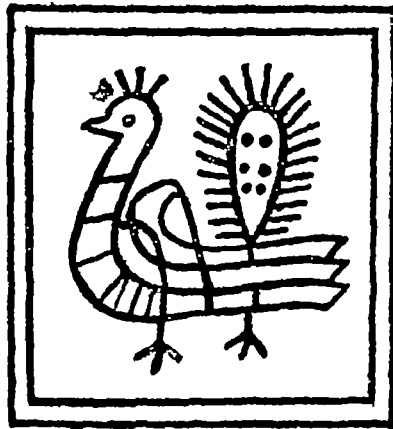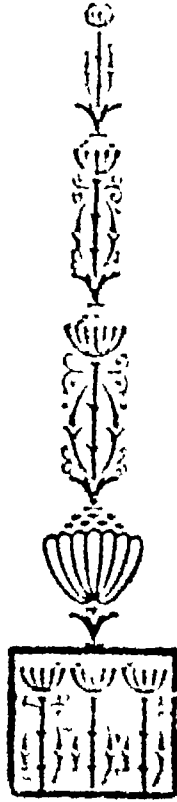
जीवन मे समता के महत्त्व को सभी ने स्वीकार करते हुए आत्मिक तथा लौकिक समता को एक दूसरे की पूरक बताया। जहाँ आत्मिक समता व्यक्ति पर निर्भर करती है वही लौकिक समता के सदर्भ मे लगभग सभी का यह मानना था कि यह पूर्ण सभव नही, लेकिन कुछ विशेष क्षेत्रो मे हम समता स्थापित करने का प्रयास कर सकते है।

समतावादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह तो हो ही सकते है, साथ ही व्यक्ति पर भी यह निर्भर करता है कि वह मानसिक रूप से तथा व्यावहारिक दृष्टि से समता-समाज-रचना हेतु प्रयास करे।

यह तथ्य कि विज्ञान से विषमता बढी है—किसी ने स्वीकार नही किया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि विषमता का एक प्रमुख कारण अभाव की स्थिति है। विज्ञान के माध्यम से हम उस अभाव की स्थिति को समाप्त कर सकते है। सभी व्यक्तियो ने इस बात पर जोर दिया कि विज्ञान का उपयोग किस प्रकार हो, यह मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर है। इसके विवेकपूर्ण सदुपयोग पर विज्ञान की सार्थकता और दुरुपयोग पर निस्सारता निर्भर है।

कानून के औचित्य को भी किसी ने पूरी तरह से स्वीकार नही किया। अधिकाश का मत यह था कि समता व्यक्ति के अतस् से स्थापित होनी चाहिए, बाहर से उसे थोपना न्यायोचित व तर्कसगत नही है।

युवा पीढी की महत्त्वपूर्ण भूमिका को सभी ने स्वीकार करते हुए उसे आदर्शवादी बनने पर जोर दिया।

◆ ◆

प्रश्न जो पूछे गए

१. समता से आपका क्या अभिप्राय है ? आपकी दृष्टि में आत्मिक और लौकिक समता का क्या स्वरूप है ?

२. समतावादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व क्या हो सकते है, और उनकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है ?

३. कहा जाता है कि विज्ञान से विषमता बढी है। क्या समता-समाज-रचना मे विज्ञान उपयोगी हो सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ?

४ कानून के माध्यम से समतावादी समाज-रचना को आप कहाँ तक उपयुक्त मानते है ?

५ समतावादी समाज-रचना मे युवा पीढी से आपकी क्या अपेक्षा है ?

◆ ◆

समता का आधार जीवन की समग्रता हो

☐ श्री सिद्धराज ढढ्ढा

परिचर्चा के लिए सबसे पहले मैं मिलता हूँ अखिल भारतीय समग्र सेवा सघ के अध्यक्ष, लोकनायक जयप्रकाश नारायण के निकट सहयोगी, प्रसिद्ध सर्वोदय नेता तथा प्रबुद्ध विचारक श्री सिद्धराज ढढ्ढा से। औपचारिक परिचय के बाद मेरे प्रश्नो को सुनकर तनिक गभीरता से उन्होने कहा—

समता को हम दो रूपो मे समझ सकते है—व्यक्ति के आन्तरिक मन से तथा व्यक्ति और समाज के विभिन्न पहलुओ के आपसी सम्बन्धो से। यही आत्मिक और लौकिक समता है। व्यक्ति स्वय अपने चिन्तन-मनन द्वारा अपनी आन्तरिक और बाह्य वृत्तियो मे समता-भाव उत्पन्न कर सकता है। गीता मे भी सुख-दु ख मे समान भाव रखने को कहा गया है। सम भाव मे रहने के लिए कहना अत्यन्त सरल है, पर उसमे स्थित होना उतना ही कठिन है।

वाहरी सम्बन्धो मे समता का आधार भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो रूपो मे है। किन्तु आध्यात्मिक आधार मुख्य है। आध्यात्म से मेरा तात्पर्य 'यूनिटी ऑफ लाइफ' अर्थात् जीवन को समग्रता से है। दृश्-अदृश् सभी की एकात्म भावना वास्तविक समता है। भौतिक आधार भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है इसमे कोई शक नही, किन्तु भौतिक समता के माध्यम से उत्पन्न होने वाली आपसी ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओ को रोकना कठिन है। अतः समता के आध्यात्मिक आधार का प्रचार हमे जन-जन मे करना है। इसका सर्वश्रेष्ठ तरीका है—education and example. अपना स्वय का उदाहरण रखते हुए जन-जन मे समता-भाव प्रतिष्ठित करने के लिए हमे निरन्तर प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी।

समता-मूल्यो की प्राप्ति के लिए प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था की उपयोगिता सिद्ध करते हुए आपने कहा—

प्राचीन वर्ण व्यवस्था मे कार्य का उचित व समान बटवारा किया जाता

था। कोई कार्य हीन नही माना जाता था। कालान्तर मे इसमे जो विकृति आ गई उसके बारे मे मै कुछ नही कहना चाहता। मेरा तात्पर्य वर्ण व्यवस्था की उस आदर्श व्यवस्था से है जिसमें कार्यो का उचित बंटवारा होता था तथा जिससे आर्थिक–सामाजिक आदि सभी प्रकार की विषमताओ का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता था। यह वर्ण व्यवस्था एक प्रकार की ऐसी "वैज्ञानिक व्यवस्था" थी जैसी आज तक नही हो सकी। इसी प्रकार आश्रमो का भी हमारे जीवन मे विशिष्ट महत्त्व रहा है। जीवन की पूर्णता इसी मे निहित थी।

विज्ञान से विषमता बढी है पर विज्ञान अपने आप मे बुरा नही है। यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह इसका उपयोग किस प्रकार करता है। पश्चिम के लोगो ने विज्ञान का उपयोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया जिसका परिणाम आज हम देख रहे है। लगभग २०० वर्ष पूर्व तक जीवन-यापन की क्रियाये मनुष्य और पशु शक्ति से सम्पन्न होती थी। फिर विज्ञान अर्थात् तकनीकी ज्ञान की वृद्धि से जैविक शक्ति (organic power) अजैविक शक्ति (power) मे बदल गई। महत्त्वपूर्ण बुनियादी परिवर्तन हुए और विषमता बढने लगी। इस विषमता को कम करने के लिए आवश्यक है टेकनीक का जीवन-क्षेत्र मे मर्यादित उपयोग। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ श्रम से पूरी होनी चाहिए। यत्र स्वय अपने द्वारा नियत्रित होने चाहिए न कि हम यत्रो द्वारा। इसीलिए गाधीजी ने चर्खे की बात कही थी। मूल भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति श्रम से होनी आवश्यक है अन्यथा हम गुलामी की ओर अग्रसर होगे। विज्ञान का उपयोग समाज का शोषण करने मे नही होना चाहिए। इसका मर्यादित प्रयोग समता की दिशा मे कदम होगा।

कानून के माध्यम से बुनियादी परिवर्तन नही लाया जा सकता। छुआछूत विरोधी कानून बना किन्तु क्या इससे छुआछूत कम हुई? कानून तभी सफल हो सकता है जब वह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवस्था को सरक्षित करने मे प्रयुक्त हो। उस व्यवस्था को पहले वैचारिक मान्यता मिलनी चाहिए। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर ही कानून प्रभावी सिद्ध होगा।

जहा तक प्रश्न समतावादी समाज-रचना मे युवा-पीढी के सहयोग का है, मैं तो मानता हूँ कि वे ही इसे सम्पन्न कर सकते है। समाज मे व्याप्त विषमता व शोषण प्रवृत्ति को वे समझे। युवा-पीढी को समझना चाहिए कि बाहरी दिखावा व शान-शौकत सभ्यता नही है बल्कि सभ्यता की परिभाषा है परिस्थितियो के प्रति सवेदनशील होना। दूसरे के दुःखो को स्वय हमें आत्मसात् करना होगा। गलत मूल्यो का विरोध युवा-पीढी को करना होगा।

◆ ◆

समतावादी समाज-रचना अनेक आदर्शों की तरह एक आदर्श है

☐ डॉ० दयाकृष्ण

राजस्थान विश्वविद्यालय मे दर्शन विभाग के प्रोफेसर व अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दार्शनिक डॉ० दयाकृष्ण से मुलाकात करने के लिए मैं विश्वविद्यालय के मानविकी भवन मे स्थित दर्शन विभाग मे उनके कक्ष मे पहुँचा। मेरे प्रश्नो को पढकर दार्शनिक मुद्रा मे उन्होने कहना प्रारम्भ किया—

भौतिक समता से अर्थ यदि देश-काल के हिसाव से लिया जाय तो मैं यह मानता हूँ कि भौतिक रूप से समता सभव नही है। मनुष्य के तो जन्म से ही भेद हो जाते हैं। उनमे किसी न किसी प्रकार का वर्ग विभाजन अवश्य रहेगा। कुछ क्षेत्रो में हम समता स्थापित कर सकने का प्रयास कर सकते हैं। जैसे कोई नियम है तो वह सभी के लिए समान रूप से लागू होगा। यह न्याय भी कहलाता है। नियमो की रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है कि उससे अनावश्यक भेद-भाव को प्रश्रय न मिले। किन्तु कई बार उपस्थित भेदो को समाप्त करने के लिए भी भेदो को प्रश्रय दिया जाता है। उदाहरणार्थ निम्न या पिछडे वर्ग को प्रोत्साहित करने हेतु उन्हे कम प्रतिशत पर भी विश्वविद्यालयो मे प्रवेश दिया जाता है, नौकरी मे स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। किन्तु इसका लक्ष्य या उद्देश्य पहले के भेद को समाप्त करना है। इसी प्रकार लौकिक समता भी सभव नही। हम तो यह कहते है कि भगवान् की दृष्टि से सभी समान हैं किन्तु फिर भी भगवान् भी अपने भक्तो से ज्यादा प्रसन्न होता है। जो असीम है उसकी दृष्टि मे सभी समान हैं चाहे वह एक हो या एक लाख।

मेरा यह मानना है कि समतावादी समाज की रचना मुश्किल है। अनेक आदर्शों की तरह यह भी मात्र एक आदर्श है। हम केवल यह विचार कर सकते हैं कि किन क्षेत्रो मे समता आवश्यक है और कितनी आवश्यक है? यदि सर्वत्र पूर्ण समता हो जाए तो स्थिति अत्यन्त हास्यास्पद होगी। अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ विषमता आवश्यक है। जैसे खेल के क्षेत्र मे, बुद्धि, सौन्दर्य आदि के क्षेत्र मे। समाज कोई स्थिर चीज नही है। यदि हम पूर्ण समता ले भी आये तो चूंकि व्यक्ति-व्यक्ति मे भेद होता है अत पुन असमानता उत्पन्न होगी। आर्थिक क्षेत्र मे तो यह विषमता और ज्यादा है। अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र मे अधिक

विषमता नही होनी चाहिए। किन्तु यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि मनुष्य ने जन्म कहाँ लिया है ? अत हमे केवल इस बात पर विचार करना चाहिए कि किन क्षेत्रो मे असमानता पर नियन्त्रण किया जा सकता है। पूर्ण समता एक मधुर, सुनहरा स्वप्न ही है।

ऐसा कहना कि विज्ञान से विषमता बढी है, ठीक नही है। विज्ञान ने हमे शक्ति प्रदान की है, उत्पादन के साधनो मे वृद्धि की है। विज्ञान ही समता लाने की दिशा मे कदम बढा सकता है। विषमता की कल्पना कमी के सिद्धान्त पर आधारित है। विज्ञान के माध्यम से अधिक से अधिक वस्तुओ का उत्पादन करके उसे वितरित कर इस विषमता को कम किया जा सकता है। विज्ञान ने हमे ऐसी अर्थ व्यवस्था को सोचने की प्रेरणा दी है जो समता ला सकती है। मनुष्य की मूल-भूत आवश्यकताओ की पूर्ति इसके माध्यम से की जा सकती है।

कानून निःसन्देह प्रभावशाली होता है। यह समता तथा असमता दोनो के लिए होता है। कुछ साम्यवादी देशो मे कानून सबके लिए समान नही माना जाता है। वह कानून जाति विशेष तक सीमित रहता है। अतः यह आवश्यक नही कि कानून के माध्यम से समता स्थापित की जा सके। और फिर हमारे यहाँ कानूनों का पालन भी उचित रूप से कहाॅ होता है ?

युवा-पीढी से मै यही कहना चाहूँगा कि उनमे आदर्श होना चाहिए। वे उस आदर्श को स्वय निभाये भी तभी वे कुछ कर सकने की स्थिति मे होगे। किन्तु भारत की युवा-पीढी की वर्तमान मानसिकता देखकर मुझे लगता है कि वे अधिक कुछ नही कर सकेंगे। आज की युवा-पीढी स्वाधीनता का युद्ध लडने वाली १९४७ की पीढी से भी कमजोर है। स्वय युवा-पीढी मे असमानताएँ है। हिन्दी माध्यम से पढे हुए तथा पब्लिक स्कूलो मे पढे हुए छात्रो मे यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। उनमे त्याग की भावना नही है। युवा-पीढी स्वय अपने आपको उचित नेतृत्व नही दे पा रही है। उसमे आदर्शोन्मुख प्रतिभा की कमी है।

◆ ◆

वास्तविक समता तो आध्यात्मिक होती है

☐ श्री श्रीचन्द गोलेछा

जयपुर के प्रतिष्ठित जौहरी और जैन-धर्म-दर्शन के तत्त्ववेत्ता श्री श्रीचन्द गोलेछा से मैं मिलता हूँ लाल भवन मे स्थित आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञान भंडार

के ऊपरी कक्ष मे जहाँ वे ज्ञान-चर्चा मे तल्लीन है। आप मितभाषी हैं, अतः मेरे प्रश्नो के भी सक्षिप्त पर सारगर्भित उत्तर देते हुए आपने कहा—

समता का तात्पर्य है आहार, व्यवहार अर्थात् भोगोपभोग से प्रभावित होकर उद्वेग या राग-द्वेष पूर्ण व्यवहार नही करना। सभी अवस्थाओ मे पूर्ण संतुष्ट रहना, इष्ट सयोग और अनिष्ट सयोग मे भी रति-अरति की भावना न रखना ही समता वाले मनुष्य के लक्षण हैं। समता का हम लौकिक तथा आत्मिक रूपो मे भेद नही कर सकते हैं। वास्तविक समता तो आध्यात्मिक ही होती है। फिर भी यदि हम इसके भेद करना चाहे तो बाह्य समता को लौकिक और मानसिक समता को आध्यात्मिक कह सकते है।

समतावाद का क्या अर्थ है ? समता का वाद से कोई सम्बन्ध नही है। समता तो व्यक्तिगत वस्तु है, आध्यात्मिक है। हाँ, समाजवादी समाज की रचना हो सकती है जिसका आधार यही होगा कि भोगोपभोग की वस्तुएँ सभी को एक समान स्तर पर उपलब्ध कराई जायें।

विज्ञान से विषमता बढने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। विज्ञान से ज्ञान का प्रसार हुआ है और ज्ञान कभी विषमता का कारण नही हो सकता। भोगोपभोग की अनेक प्रकार की सामग्री के निर्माण से विषमता को प्रोत्साहन मिला है। विज्ञान समता मे साधक या बाधक नही होता।

कानून के प्रयोग से समतावादी समाज-रचना के प्रश्न पर आपने कहा कि कानून कभी दोष रहित नही होता, कानून अधा होता है। समता की प्रतिष्ठा तो तभी सभव है जब हम व्यावहारिक रूप से नियमन कर इस दिशा मे प्रयत्नशील हो।

युवा-पीढी की भूमिका के बारे मे आपने कहा कि यदि वह शारीरिक सुख को और फैशन को प्रधानता देना छोड़ दे तो समतावादी समाज-रचना मे उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है। उन्होंने कहा कि औद्योगिकरण जो कि अपव्यय की ओर भी ले जाता है, समता की स्थापना मे बाधक है।

✦ ✦

हर्ष और विषाद में तटस्थ भाव रखें

☐ श्री गुमानमल चोरड़िया

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के भूतपूर्व अध्यक्ष एव प्रसिद्ध जौहरी श्री गुमानमल चोरडिया से, जिनका जीवन त्याग, तप से परिपूर्ण और सात्विक वृत्ति का है, जब मै मिला तो उन्होने कुछ सोचते हुए आत्मीयतापूर्ण लहजे मे कहा—

समता से हमारा अभिप्राय है हर्ष और विषाद मे हम तटस्थ भाव रखे, न सुख मे मग्न हो न दुःख आने पर घबराये। विभिन्न परिस्थितियो मे एकसी भावना रखना ही समता है। आत्मिक समता से मेरा तात्पर्य है कि जीवन मे प्रत्येक स्थिति मे हम यह अनुभव करे कि जो सुख और दुःख हमे प्राप्त हो रहे है उनसे आत्मा परे है। आत्मा का स्वभाव अव्याबाध सुख मे रमण करना है। लौकिक समता का मतलब है कि हम अच्छे और बुरे प्रसगो मे, वाछित या अवाछित प्रसगों मे समता-भाव रखे जिससे हमारे मन, परिवार और समाज मे शाति रहे।

समतावादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हो सकते है। इनकी प्राप्ति जीवन मे बारह अणुव्रतो का यथाशक्ति पालन करने से हो सकती है।

विज्ञान से विषमता बढी है, यह कहना ठीक नही है। वस्तु के उपयोग और अनुपयोग साधक पर निर्भर करते है। जहाँ भूख के समय भोजन प्रिय लगता है वही अधिक मात्रा मे भोजन का सेवन रोग का कारण बन जाता है। इसी प्रकार अणुशक्ति लाभदायक और हानिकारक दोनो रूपो मे प्रयुक्त की जा सकती है। भौतिक सुख-साधन मानसिक शाति मे अधिक उपयोगी सिद्ध नही हो सकते। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट है कि भारत मे जहा भौतिक साधन विदेशो की अपेक्षा अल्प मात्रा मे हैं वहा आध्यात्मिक और आत्मिक शाति अधिक अनुभूत की जा रही है।

श्री चोरडिया कानून के माध्यम से समतावादी समाज-रचना संभव नही मानते। उन्होने इस हेतु सामाजिक कार्यकर्ताओ से ऐसा वातावरण बनाने का आह्वान किया जिससे समता अपने सही अर्थो मे प्रतिष्ठित हो सके।

युवा-पीढी की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए उन्होने कहा कि युवक समाज विषमता से समता की ओर ले जाने हेतु क्रातिकारी प्रयास करे। ◆ ◆

विषमता की जड़ अर्थ–व्यवस्था में है

☐ श्री रणजीतसिंह कूमट

अब मेरी मुलाकात होती है विशेष सचिव, सहकारिता एव जयपुर के भूतपूर्व जिलाधीश श्री रणजीतसिह कूमट से। प्रशासकीय कार्यों मे अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी सामाजिक-धार्मिक कार्यों में आपकी गहरी रुचि है। मैं जब आपके पास पहुँचा तो आप सामायिक से निवृत्त हुए ही थे। सीधे-सादे, सरल व्यक्तित्व और सात्विक प्रवृत्ति के श्री कूमट मेरे प्रश्नो को सुनकर गभीर हो गये और कहने लगे—

समता से हमारा अभिप्राय जीवन मे एक ऐसी स्थिति से है जिसमे सतोष, साम्य और सतुलन झलकता हो। जब तक जीवन मे सतुलन की स्थिति नही आती तब तक जीवन विपमता मे रहता है और इधर-उधर भटकता है। समता जीवन का एक दृष्टिकोण हो सकता है। और यदि उसी दृष्टिकोण से जीवन जीने का प्रयत्न किया जाए तो लौकिक और पारलौकिक दोनो ही जीवन सुखी हो सकते हैं।

आत्मिक और लौकिक समता के वीच कोई मूल भेद नही है। यदि वर्तमान जीवन मे समता आ गई तो आत्मिक समता अपने आप आ सकती है। हमारा भौतिक वस्तुओ के प्रति क्या दृष्टिकोण है वही इस बात का निर्धारण करेगा कि हम जीवन कैसे जी रहे है और उसका आत्मिक समता पर क्या असर पडेगा। यदि भौतिक वस्तुओ के पीछे हम पागल बन के घूमे तो समता हम से कोसो दूर रहेगी। किन्तु यदि भौतिक वस्तुओ के प्रति सतोप और संतुलन की स्थिति उत्पन्न करली है तो आत्मिक समता वही हो जाती है।

समतावादी समाज रचना के आधारभूत तत्त्वो की चर्चा के प्रसग मे आपने कहा कि अपरिग्रह द्वारा यह सभव हो सकता है। जब तक अपरिग्रह जीवन मे वास्तविक रूप से नही आता तव तक किसी भी प्रकार से समतावादी समाज की कल्पना नही की जा सकती। जब हम अपनी बजाय दूसरो की इच्छा पूर्ति करेंगे और सग्रह की वजाय त्याग को महत्त्व देगे तभी समतावादी समाज की रचना सभव होगी।

विज्ञान से विषमता वढी है, यह कहना गलत है। विज्ञान एक साधन है जिससे हम अधिक मात्रा मे उत्पादन कर सकते हैं और श्रम शक्ति की वचत कर सकते है। लेकिन विषमता की जड हमारी अर्थ व्यवस्था मे है न कि विज्ञान

मे। जब तक पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था रहेगी तब तक विषमता रहेगी। विज्ञान के साधनों से पूंजी का महत्त्व बढा है और पूंजी वाले ही अधिक उत्पादन कर सकते हैं। लेकिन यह आवश्यक नही कि पूंजी के साधन कुछ व्यक्तियो के हाथ में ही केन्द्रित रहे। पूंजी के साधन यदि राज्य के नियत्रण मे हो तो विषमता कम हो सकती है जैसे कि समाजवादी देश रूस और चीन मे है।

कानून के प्रयोग के औचित्य पर आपने कहा कि इससे समाजवादी समाज की रचना हो सकती है जो समतावादी समाज का बाहरी रूप हैं। यदि सही रूप से समतावादी समाज की रचना करनी है तो जहाँ आर्थिक समानता होनी चाहिए वही लोगो के मन मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था कायम रखने के लिए अन्दरूनी इच्छा भी होनी चाहिए। समाजवादी समाज और समतावादी समाज मे मूल भेद यही है कि एक मे समानता ऊपर से थोपी गयी है जबकि दूसरे मे समानता आन्तरिक प्रवृत्ति के परिवर्तन का परिणाम है। जो चीज ऊपर से थोपी जाती है वह अस्थिर होती है और जो आन्तरिक प्रवृत्ति के परिवर्तन से स्थापित होती है वह स्थायी उपलब्धि है।

युवा-पीढी को सचेत करते हुए आपने कहा कि वे उन गलतियो को न दोहराये जो उनसे बडे लोग कर चुके है या कर रहे है। उन्हे चाहिए कि वे त्याग और सेवा की भावना से राष्ट्र निर्माण मे जुटे। उनकी इन्ही भावनाओ से समतावादी समाज की स्थापना सभव है। अपनी बात जारी रखते हुए आपने कहा कि पुरानी पीढ़ी अपने विचारो को जल्दी छोड नही सकती जबकि युवा-पीढी में पुराने विचारो को त्यागने की और नये विचारो को आत्मसात् करने की क्षमता है। आजकल एक और विशेष बात देखने मे आ रही है वह है युवा-पीढी का कार्य और मेहनत के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण। हर काम मे वे 'शार्टकट' चाहते हैं। अपेक्षित मेहनत वे नही करना चाहते। उन्हे यह समझना चाहिए कि किसी भी कार्य की सफलता के लिए सुगम और शाही रास्ता अभीष्ट नही है। सफलता के लिए दुर्गम राह से गुजरना होता है। कठिनाइयो का सामना करने से अनुभव प्राप्त होता है। जो बात युवा-पीढी पर लागू है वह हर नागरिक पर भी लागू होती है किन्तु युवा-पीढी से हमे विशेष अपेक्षाएँ है!

◆ ◆

समता सकारात्मक सिद्धान्त है

☐ श्री देवेन्द्रराज मेहता

राजस्थान सरकार के उद्योग सचिव व भगवान् महावीर निर्वाण समिति के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता के विचार जानने हेतु मैं पहुँचता हूँ सचिवालय।

लम्बे कद तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी श्री मेहता के पास उस समय अनेक लोग अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर आये थे। इतनी व्यस्तता के बावजूद चेहरे पर कही तनाव या थकान का चिह्न नही। ऑफिस का समय हो चुका था और अन्यत्र वे एक आवश्यक मीटिंग मे सम्मिलित होने जा रहे थे। जब मैंने उन्हे अपने आने का प्रयोजन बताया तो तुरन्त आपने मुझे अपने विचार बताने हेतु कार मे बिठा लिया। कार चली मीटिंग-स्थल की ओर तथा हमारी बातचीत का सिल-सिला प्रारम्भ हुआ—

विचार और व्यवहार मे सभी को अपने बराबर समझना समता है। आत्मिक समता अपने तक ही सीमित नही है वरन् यह दूसरे प्राणियो पर भी लागू होती है क्योकि हर प्राणी मे आत्मा होती है। लौकिक समता व्यावहारिक कारणो से सीमित हो जाती है। सभी व्यक्ति अपनी क्षमता और स्तर मे समान नही होते। अत व्यवहार मे कुछ असमानता उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नही है। किन्तु यदि दूसरे व्यक्तियो के प्रति हमारी सद्भावना रहे तो इस अन्तर के उपरान्त भी लौकिक समता मानी जा सकती है।

समतावादी समाज-रचना के लिए आवश्यक है कि हमारा मानस इस प्रकार का हो कि बाह्य अन्तरो के उपरान्त भी सभी व्यक्तियो को हम मूलत. समान समझे और इसी आधार पर उनसे व्यवहार करें। समता सकारात्मक सिद्धान्त है जिसमे दूसरो के प्रति श्रद्धा एव सहानुभूति निर्धारित है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन उपर्युक्त तथ्यो को समझें और उसी के अनुरूप व्यवहार करें।

विज्ञान से भौतिक विषमता तो अवश्य बढी है, क्योकि ऐसे साधनो की प्राप्ति के नये-नये तरीके विज्ञान ने ईजाद किये हैं जिनसे भौतिक सुख-समृद्धि मे वृद्धि हुई है। लेकिन हमे यह नही भूलना है कि मानसिक स्तर पर विज्ञान से समानता का सिद्धान्त भी प्रतिष्ठित हुआ है। छोटे और बड़े के भेद को विज्ञान ने स्वीकार नही किया है। यही कारण है कि पाश्चात्य समाज जो भारतीय समाज से ज्यादा वैज्ञानिक है, ज्यादा समतावादी समाज भी है। समाज का आधार अगर विज्ञान हो तो भारतीय समाज भी समतावादी समाज की ओर तेजी से बढ सकता है। जहाँ तक भौतिक विषमताओ का प्रश्न है, विज्ञान अपने आप मे निरपेक्ष है और उसका प्रयोग उपयोग मे लाने वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है। यदि हमारा मानस उचित होगा तो अवश्य ही विज्ञान समतावादी समाज रचना मे सहायक होगा।

कानून के प्रयोग के औचित्य को स्वीकार करते हुए श्री मेहता ने कहा कि कानून के अभाव मे समाज मे पहले से विकसित असमानताओ को दूर करना

कठिन है। जैसे हरिजनो का स्तर आदि समस्याये जितनी आज कम हुई है उतनी पहले नही। यह कानून का ही प्रभाव है। कानून का आधार नैतिक होना चाहिए तथा उसका उपयोग भी उपयुक्त हो।

समतावादी समाज-रचना मे युवा-पीढी के सक्रिय योगदान की चर्चा करते हुए आपने कहा कि युवको को चाहिए कि वे भेद-भाव से ऊपर उठकर और पुरानी सामाजिक कुप्रथाओं व सकीर्ण मूल्यो को ठुकराते हुए समतावादी समाज-रचना के पुनीत कार्य मे सलग्न हो।

✦ ✦

समता–समाज के लिए इच्छाओं पर काबू पाना आवश्यक है

☐ कुमारी शुद्धात्म प्रभा जैन

प्रस्तुत विषय पर युवा-पीढी के विचार जानने हेतु अब मैं पहुँचता हूँ राजस्थान विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग मे। वहाँ मेरी मुलाकात होती है एम० ए० फाइनल की छात्रा कुमारी शुद्धात्म प्रभा जैन से जो एक मेधावी छात्रा है। मेरे प्रश्नो के उत्तर देते हुए आपने कहा—

समाज के स्वरूप निर्माण में व्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। व्यक्तियो के स्वभाव व रुचि के अनुरूप ही समाज का स्वरूप निर्धारित होता है और उनकी क्षमता तथा योग्यता पर ही समाज की उन्नति और अवनति निर्भर होती है।

पारस्परिक एकता, सौहार्द, सवेदनशीलता, सामजस्य आदि भावनाएँ व्यक्ति मे स्वाभाविक रूप से पाई जाती है और इन्ही भावनाओ के प्रतिफलन परिवार और समाज है। इन भावनाओ के अभाव मे समाज का निर्माण असभव है। इनके आधार पर समतावादी समाज की नीव रखी जा सकती है।

समाज मे व्याप्त विघटन और अराजकता के कारणो का उल्लेख करते हुए कुमारी शुद्धात्म ने कहा कि प्राय. देखा जाता है कि व्यक्ति अपने सामर्थ्य से ज्यादा इच्छाएँ करने लगता है जिनकी पूर्ति स्वाभाविक रूप से असभव है। किन्तु फिर भी व्यक्ति येनकेन प्रकारेण उन इच्छाओ की पूर्ति करना चाहता है

जिससे अराजकता, विघटन और मानसिक तनाव को प्रोत्साहन मिलता है जो विषमता के कारण है। अत आवश्यकता है ऐसी स्थिति पर काबू पाने की।

हर व्यक्ति मे विभिन्नताएँ होती है। जैसे किसी व्यक्ति का मन खेल मे रमता है तो कोई पढाई को सर्वस्व समझता है। कोई वाक् कौशल पर रीझता है तो कोई हस्त कौशल पर मर मिटता है। कोई रणधीर है तो कोई वचनधीर। कहने का तात्पर्य यही है कि हर व्यक्ति की बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक क्षमता अलग-अलग है। इसी कारण उसकी आवश्यकताओ मे भी पर्याप्त अतर है। अत समतावादी समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की उसकी रुचि, योग्यता, क्षमता और आवश्यकता के अनुरूप इच्छाओ की पूर्ति होनी चाहिए।

मानव मे जो विभिन्नताएँ है, वे बाह्य नही हैं वरन् आन्तरिक हैं। जिस तरह सभी व्यक्ति मानव-अपेक्षा समान हैं, पर फिर भी बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि का उनमे भेद है उसी प्रकार जीव की दृष्टि से उनमे भेद नही है, पर फिर भी वर्तमान की अपेक्षा से जीव के ज्ञानादि गुणो मे हम स्पष्ट अन्तर पाते है। लौकिक समता और आत्मिक समता काफी हद तक एक दूसरे से प्रभावित होती हैं। आत्मिक समता का ही बाह्य रूप लौकिक समता है।

समतावादी समाज का आधारभूत तत्त्व कार्यों का उचित वितरण ही हो सकता है। इस कार्य मे आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण काफी सहयोगी हो सकते है।

केवल कानून के बल पर समाज-रचना नही हो सकती। हा, कानून सहयोगी अवश्य हो सकता है। कानून सर्वस्व न होकर इसका एक अश मात्र है।

युवा वर्ग समाज का ही एक अग है, उससे पृथक् उसका अस्तित्व नही है। युवा वर्ग समाज की रीढ है, इसके सहारे ही समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। युवा-पीढी को स्वय अपने विवेक से अपने बुजुर्गों के मार्ग निर्देशन से समाज मे व्याप्त विषमता को दूर करना है। पुरानी व समाज की प्रगति मे बाधक परम्पराओ को उन्हे अस्वीकार करके नये मूल्यो का सृजन करना है जिनकी नीव पर समतावादी समाज का भव्य प्रासाद निर्मित किया जा सके।

• •

समता आत्मा का स्वभाव है, विषमता आत्मा का विभाव है

☐ श्री सरदारसिंह जैन

अन्त मे मै पहुँचता हूँ श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण सस्थान। यहा मेरी मुलाकात होती है श्री सरदारसिंह जैन से जो सस्कृत के स्नातकोत्तर कक्षा के छात्र होने के साथ-साथ जैन दर्शन में भी गहरी रुचि रखते है। अपने विचारो को व्यक्त करते हुए वे कहने लगे—

जाति, वर्ण, लिग आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद न होना, सभी के एक से अधिकार और एक से उत्तरदायित्व, परिश्रम एव योग्यता के आधार पर विकास के समान अवसर, साथ ही उत्तरदायित्वहीन जीवन के लिए एकसा दड व प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समस्त व्यवहार को चलाने का नाम ही समता है। आत्मा के दो धर्म होते है—समता और विषमता। समता आत्मा का स्वभाव है और विषमता आत्मा का विभाव। दूसरे शब्दो मे विनम्रता, सरलता और सतोष की अवस्था समता है और छल, कपट, लोभ, क्रोध आदि विषमता के सूचक है। अतः राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषय-कषायो से रहित अवस्था ही आत्मिक समता है। लौकिक समता मे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्र लिए जा सकते है।

श्री सरदारसिंह का मानना है कि समतावादी समाज की सच्चे अर्थो मे प्रतिष्ठा करने हेतु सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रो मे प्रयास होना चाहिए। इस हेतु ऐसे कार्यकर्ता तैयार होने चाहिए जो इन क्षेत्रो के समतापरक सिद्धान्तो को जन सामान्य मे प्रचारित कर सके। जातिगत अथवा आर्थिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का भेद-भाव समतावादी समाज-रचना मे प्रमुख बाधा है।

विज्ञान कभी विषमता का हेतु नही होता। विषमता का हेतु अभाव है। इस अभाव की पूर्ति विज्ञान द्वारा संभव है। विज्ञान प्रकृति का अनुसधान करके मानव जीवन की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन मे वृद्धि करने मे सक्षम है। इसमे कोई शक नही कि उत्पादन वृद्धि से अभाव कम होगे और समता की स्थापना मे तेजी आयेगी। विषमता का अन्य कारण वितरण की अव्यवस्था भी है। अतः वितरण प्रणाली मे समुचित सुधारों द्वारा समता लायी जा सकती है।

समतावादी समाज-रचना मे कानून के प्रयोग का विरोध करते हुए आपने कहा कि कानून द्वारा समता ऊपर से थोपी जाती है। इससे अन्दर-ही-अन्दर घोर विषमता बढती जाती है। यह विषमता परिस्थितिवश सघर्ष का रूप भी ले सकती है। समता के लिए आवश्यक है कि हमे अपने कर्त्तव्यो का बोध हो। कर्त्तव्य-बोध होने पर हम स्वत सत् कार्यों की ओर प्रेरित होगे। सत् कार्यों के मधुर फल से जीवन मधुमय बन जाता है तथा इससे प्राप्त सामर्थ्य से मानव अपने समतावादी समाज-रचना रूपी रथ को प्रगति के पथ पर आगे बढाता चलता है जो कानून से सभव नही है।

यदि युवा-पीढी उचित सस्कारो से सस्कारित है तो अवश्य ही समतावादी समाज-रचना मे उसका योगदान निर्णायक हो सकता है। युवा-पीढी को यह तथ्य भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि ससार की समस्त समस्याओ, सघर्षों, दु खो और अभावो का कारण विषमता मे निहित है। जहाँ समता की प्रतिष्ठा है वहाँ अपने और पराये की सीमा रेखा नही होती है। इससे शोषण मिटता है तथा सहकारिता और भ्रातृत्व का विकास होता है। यही सोचकर यदि युवा-पीढी कार्य करेगी तो अवश्य ही समतावादी समाज की स्थापना होगी।
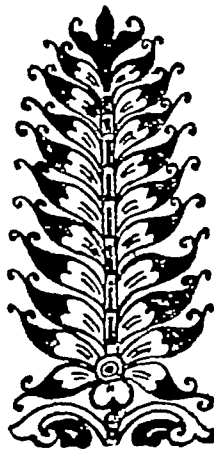
परिशिष्ट

१ प्रवचनकार आचार्य श्री नानालाल जी म सा, श्री शान्तिचन्द्र जी मेहता द्वारा सपादित प्रवचन ।

हमारे सहयोगी लेखक

२. **डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन :** विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन मे सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, सस्कृत-प्राकृत और जैन-दर्शन के विद्वान् लेखक ।

३. **श्री रमेश मुनि शास्त्री :** राजस्थान केसरी श्री पुष्कर मुनिजी के शिष्य, विद्वान् लेखक ।

४. **डॉ० भागचन्द जैन भास्कर :** नागपुर विश्वविद्यालय मे पालि और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, जैन और बौद्ध साहित्य के विशेषज्ञ ।

५. **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी :** विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, कला सकाय के अधिष्ठाता, प्रबुद्ध विचारक और समीक्षक ।

६. **श्री भंवरलाल पोल्याका :** 'महावीर जयन्ती स्मारिका' के प्रधान सम्पादक, विद्वान् लेखक, ५६६, मनिहारो का रास्ता, जयपुर-३ ।

७. **श्री रतनलाल कांठेड :** जैनधर्म-दर्शन के विद्वान् लेखक, रतन निवास लॉज, नीम चौक, जावरा (म० प्र०) ।

८. **डॉ० वीरेन्द्रसिंह :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे हिन्दी प्राध्यापक, प्रबुद्ध विचारक, लेखक और समीक्षक ।

९. **श्री शान्तिचन्द मेहता :** 'ललकार' के सस्थापक सम्पादक, प्रबुद्ध विचारक व लेखक, ए-४ कुम्भा नगर, चित्तौडगढ़ (राज०) ।

१०. **श्री कन्हैयालाल लोढ़ा :** जैनधर्म-दर्शन के विद्वान् लेखक व विचारक, अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण सस्थान, रामललाजी का रास्ता, जयपुर-३ ।

११ **श्री भानीराम अग्निमुख** . प्रबुद्ध विचारक और लेखक ।

१२ **डॉ० उदय जैन** : इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे मनोविज्ञान विभाग मे रीडर, प्रबुद्ध विचारक व लेखक ।

१३ **श्री रिषभदास रांका** : स्वर्गस्थ, सुप्रसिद्ध समाजसेवी, विचारक व लेखक, जैन जगत् के सम्पादक, भारत जैन महामडल के मत्री, पूना ।

१४ **श्री पी० सी० चोपडा** : अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ के अध्यक्ष, प्रबुद्ध विचारक, आयकर सलाहकार, दालू मोदी बाजार, रतलाम (म० प्र०) ।

१५ **श्री अगरचन्द नाहटा** : हिन्दी व राजस्थानी के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान्, जैन-धर्म, दर्शन व साहित्य के विशेषज्ञ, अभय जैन ग्रथालय, बीकानेर ।

१६ **डॉ० संघसेनसिह** दिल्ली विश्वविद्यालय मे बौद्ध विद्या विभाग के अध्यक्ष, प्रबुद्ध विचारक ।

१७ **डॉ० हरिराम आचार्य** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे सस्कृत-विभाग मे रीडर, प्रसिद्ध कवि, लेखक और नाटककार ।

१८ **श्री के० एल० शर्मा** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे दर्शन शास्त्र विभाग मे प्राध्यापक, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक ।

१९ **श्री जेड़० आर० मसीह** ईसाई धर्म के मर्मज्ञ, चौमू हाऊस, जयपुर ।

२० **डॉ० फज्ले इमाम** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे उर्दू प्राध्यापक, लेखक, कवि और समीक्षक ।

२१ **डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** विश्वविद्यालय राजस्थान कॉलेज के प्राचार्य, कवि, उपान्यसकार, समीक्षक और प्रबुद्ध विचारक ।

२२ **श्री काशीनाथ त्रिवेदी** : प्रमुख सर्वोदयी विचारक और लेखक, २२, साजन नगर, इन्दौर-१ ।

२३ **मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'कमल'** जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और कवि ।

२४. **श्री प्रकाशचन्द्र सूर्या** : प्रसिद्ध व्यवसायी और लेखक, २६, जवाहर मार्ग, उज्जैन (मध्य प्रदेश) ।

२५ **आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०** सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, गवेषक विद्वान् और इतिहासज्ञ ।

२६. **डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल** : जैन-धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के निदेशक, ए-४, बापू नगर, जयपुर-४ ।

२७. **श्री रणजीतसिंह कूमट** : प्रबुद्ध विचारक और लेखक, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी, विशेष सचिव, सहकारिता, सचिवालय, जयपुर ।

२८. **श्री आनन्दमल चोरड़िया** : प्रबुद्ध विचारक और लेखक अमर निवास, लाखन कोटड़ी, अजमेर (राज०) ।

२९. **श्री चंदनमल 'चाँद'** : कवि और लेखक, 'जैन जगत्' के सम्पादक, भारत जैन महामडल के मत्री, मर्केन्टाइल बैक बिल्डिग, सातवी मजिल, फोर्ट, बम्बई-२३ ।

३०. **श्री केशरीचन्द सेठिया** : प्रसिद्ध व्यवसायी, लेखक और कथाकार, ५, तुलसिगम स्ट्रीट, मद्रास-१ ।

३१. **श्री प्रतापचंद भूरा** : लेखक और विचारक, गगाशहर (बीकानेर) राजस्थान ।

३२. **महासती उज्ज्वल कुमारीजी** : स्वर्गस्थ, विदुषी साध्वी, प्रखर वक्ता और तेजस्वी व्यक्तित्व ।

३३. **श्री अभयकुमार जैन** . हिन्दी प्राध्यापक और लेखक, कानूनगो वार्ड, वीना (म० प्र०) ।

३४. **श्री जशकरण डागा** . लेखक और विचारक, डागा सदन, सघपुरा, टोक (राजस्थान) ।

३५. **श्री चॉदमल कर्णावट** : विद्या भवन शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, उदयपुर मे हिन्दी प्राध्यापक, प्रबुद्ध विचारक और लेखक ।

३६. **श्री मोतीलाल सुराणा** प्रसिद्ध व्यवसायी और बोधकथा लेखक, १/१, महेश नगर, इन्दौर-२ ।

३७. **डॉ० महावीर सरन जैन** . जबलपुर विश्वविद्यालय मे स्नातकोत्तर हिन्दी एव भाषा-विभाग के अध्यक्ष, लेखक, समालोचक और भाषाविद् ।

३८ **श्री ओंकार पारीक** . प्रसिद्ध कवि, लेखक और पत्रकार, एफ-३२, भोपालपुरा, उदयपुर ।

३९ **डॉ० के० एल० कमल** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के राजनीति विज्ञान विभाग मे प्राध्यापक, विश्वविद्यालय पत्राचार सस्थान मे उप-निदेशक, प्रबुद्ध विचारक और लेखक।

४०. **मुनि श्री रूपचंद्र** आचार्य श्री तुलसी के शिष्य, प्रसिद्ध कवि, विचारक और लेखक।

४१ **डॉ० मदनगोपाल शर्मा** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के हिन्दी विभाग मे प्राध्यापक, हिन्दी-राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि और लेखक।

४२. **डॉ० सी० एस० बरला** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के अर्थ-शास्त्र विभाग मे प्राध्यापक, कृषि अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ, प्रबुद्ध विचारक और लेखक।

४३ **श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल** बाल मन्दिर महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, जयपुर मे प्राध्यापक, प्रबुद्ध विचारक, लेखक और शिक्षा-विद्, बी-८१, बापूनगर, जयपुर-४।

४४ **डॉ० नरेन्द्र भानावत** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के हिन्दी-विभाग मे प्राध्यापक, 'जिनवाणी' के सम्पादक, कवि, लेखक और समीक्षक, सी-२३५ ए, तिलक नगर, जयपुर-४।

४५ **डॉ० प्रेमसुमन जैन** · उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर मे जैन विद्या और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, प्रबुद्ध विचारक और लेखक, ४, रवीन्द्र नगर, उदयपुर।

४६ **डॉ० महेन्द्र भानावत** भारतीय लोक-कला मडल, उदयपुर मे उप-निदेशक, लोक-साहित्य, कला और सस्कृति के विद्वान्, 'रगायन' और 'लोक-कला' के सम्पादक, ३५२, श्रीकृष्णपुरा, उदयपुर।

४७ **डॉ० नेमीचन्द जैन** . इन्दौर विश्वविद्यालय मे हिन्दी प्राध्यापक, 'तीर्थंकर' के सम्पादक, लेखक, समीक्षक और भाषाविद्, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-१।

४८. **श्री ज्ञानेन्द्र मुनि :** आचार्य श्री नानालालजी म० सा० के विद्वान् शिष्य।

४९ **श्री जवाहरलाल मूणोत** अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेस के अध्यक्ष, प्रसिद्ध व्यवसायी, प्रवुद्ध विचारक और लेखक, अमरावती (महाराष्ट्र)।

५० **श्री मानव मुनि :** सर्वोदयी विचारक, रचनात्मक कार्यकर्ता और लेखक, विसर्जन आश्रम, नौलखा, इन्दौर (म०प्र०)।

५१ **श्री संजीव भानावत :** राजस्थान विश्वविद्यालय मे एम० ए० के छात्र, लेखक, सी-२३५ ए, तिलक नगर, जयपुर-४।

५२ **श्री सिद्धराज ढढ्ढा** · अ० भा० सर्व सेवा सघ के अध्यक्ष, सुप्रसिद्ध सर्वोदयी विचारक व लेखक, चौरू का रास्ता, जयपुर-३।

५३ **डॉ० दयाकृष्ण :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे दर्शन शास्त्र के आचार्य, सुप्रसिद्ध दार्शनिक, विद्वान् और लेखक।

५४ **श्री श्रीचन्द गोलेछा :** प्रसिद्ध रत्न व्यवसायी, प्रबुद्ध विचारक, सी-२३, भगवानदास रोड, जयपुर।

५५ **श्री गुमानमल चोरड़िया** · अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ के भूतपूर्व अध्यक्ष, साधक व विचारक, पितलियो का चौक, जयपुर-३।

५६ **श्री देवेन्द्रराज मेहता** भारतीय प्रशासनिक अधिकारी, उद्योग सचिव, कर्मठ व्यक्तित्व व विचारक, बी-५, बजाज नगर, जयपुर-४।

५७. **कुमारी शुद्धात्म प्रभा जैन :** राजस्थान विश्वविद्यालय मे एम० ए० की छात्रा, लेखिका, ए-४, बापू नगर, जयपुर-४।

५८. **श्री सरदारसिंह जैन :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे एम० ए० के छात्र, लेखक।
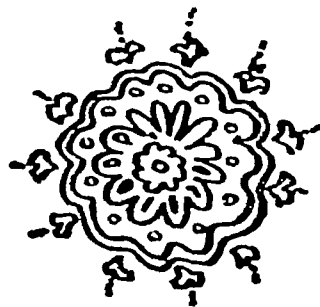
हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन :

- जवाहर किरणावली भाग १ से ३५
  —आचार्य श्री जवाहरलालजी म०
- जैन सस्कृति का राजमार्ग
  —आचार्य श्री गणेशीलालजी म०
- पावस प्रवचन भाग १ से ५
  —आचार्य श्री नानालालजी म०
- समता दर्शन और व्यवहार
  —आचार्य श्री नानालालजी म०
- भगवान् महावीर आधुनिक सदर्भ मे
  —डॉ० नरेन्द्र भानावत
- **Lord Mahavir & His Times**
  —Dr K C Jain
- **Bhagwan Mahavir & His Relevence in Modern Times**
  —Dr Narendra Bhanawat
  —Dr Prem Suman Jain

अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर ३३४००१